संस्कृतकविचर्चा



१—पाणिनि

यह तो सब किसी को विदित है कि पाणिनि संस्कृत-भाषा के सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वमान्य वैयाकरण थे। उन्होंने व्याकरण-तंत्र की जिस प्रणाली की नींव डाली, उससे बढ़कर वैज्ञानिक रीति से व्याकरण लिखने की प्रथा अब तक कहीं भी उद्भावित नहीं हुई। यह पाणिनि जैसे भाषामर्मज्ञ का ही अद्वितीय कार्य है कि अष्टाध्यायी जैसे छोटे सूत्रबद्ध ग्रन्थ में समग्र देवभाषा का सार निचोड़ कर उपस्थित कर दिया है। परन्तु सम्भवतः बहुत कम लोगों को पता होगा कि पाणिनि एक अच्छे कवि भी थे। सूक्ति-संग्रहों में पाणिनि के नाम से अनेक कवितायें उद्धृत की गई हैं। अन्य ग्रन्थों में भी पाणिनि की ये कवितायें यथावकाश उद्धृत की गई हैं। अलंकार ग्रन्थों के लेखकों ने अलंकारों के उदाहरण के लिये भी पाणिनि के कमनीय पद्यों को उद्धृत किया है; परन्तु दूसरी जगह ग्रन्थकारों ने पाणिनि के समग्र पद्यों या पद्यांशों को व्याकरण की कसौटी पर कसने के लिये उद्धृत किया है और यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अपने बनाये हुये नियमों का अक्षरशः पालन स्वयं पाणिनि से भी नहीं हो सका, तो साधारण लेखकों की बात ही

उपक्रम

क्या पूछी जाय! इन्हीं प्रकरणों में उद्धृत किये गये पद्य पाणिनि की सरस काव्यकला के बचे हुये नमूनें हैं जिनके आधार पर पाणिनि की उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा का पता रसिक पाठकों तथा विज्ञ आलोचकों को लग सकता है।

पुरातत्त्व वेत्ताओं में इस विषय में बड़ा मतभेद है कि ये कवितायें वैयाकरण पाणिनि की हैं या अन्य किसी 'पाणिनि' नामधारी कवि की? दोनों में व्यक्तिगत अभिन्नता है या भेद?

वैयाकरण पाणिनि डाक्टर भांडारकर, पीटर्सन आदि विद्वान् पाणिनि तथा कवि पाणिनि की शुष्क तथा वेदतुल्य भाषा और इन पद्यों की की अभिन्नता सरस तथा अलंकृत भाषा में विभिन्नता स्वीकार करते हुये यही कहते हैं कि इन श्लोकों का रचयिता वैयाकरण पाणिनि नहीं हो सकता। प्रौढालंकृत काव्यों का उद्गम वैयाकरण पाणिनि से बहुत इधर का है। उस समय में तो सरल सुभग भाषा का ही साम्राज्य था, साहित्यिक अलंकारों से विभूपित भाषा का प्रचार उस सूत्रकाल से कई शताब्दी उतर कर हुआ है। इस मतके विपरीत डाक्टर औफ्रेक्ट (Dr. Aufrecht) तथा डाक्टर पिशल (Dr. Pischel) की सम्मति है कि पाणिनि को केवल एक खूसट वैयाकरण मानना बड़ी भारी भूल करना है, वह स्वयं अच्छे कवि थे। उसका मस्तिष्क नीरस व्याकरण के नियमों का भंडार भले हो, परन्तु उसका हृदय भी कमनीय काव्यकला का सुकुमार आकर था। रही अलंकृत भाषा की बात। तो वेद में भी क्या सरस कविता के भव्य निदर्शन नहीं पाये जाते? अवलोकनीय अलङ्कारां

की अनुपम छटा वेद में भी क्या रसिक हृदय को मुग्ध नहीं बना डालती ? जब वेद में ही अलंकृत भाषा के सुभग दर्शन होते हैं तब पाणिनि के पद्यों में अलङ्कार के साक्षात्कार से हमें घबड़ाना नहीं चाहिये, न वैयाकरण तथा सुकवि पाणिनि की अभिन्नता के विषय में चीं-चपड़ करने के लिये उतारू होना चाहिये। जो कुछ हो, यह प्रश्न है बड़ा विकट। कहीं-कहीं पद्यों के लम्बे समासयुक्त तथा कृत्रिम पदविन्यास से पूर्वोक्त अभिन्नता मानने में सन्देह सा उत्पन्न होने लगता है।

आधुनिक विद्वानों को छोड़कर जब हम संस्कृत साहित्य की परम्परागत प्रसिद्धि पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि पाणिनि ही इन पद्यां के रचयिता माने गये हैं। सूक्तिग्रंथों में राजशेखर ने पाणिनि की प्रशंसा करते हुये लिखा है:—

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं, काव्यमनु जाम्बुवतीजयम्॥

अर्थात् पहिले व्याकरण अनन्तर 'जाम्बवतीजय' काव्य के पैदा करनेवाले पाणिनि को नमस्कार है।

सदुक्तिकर्णामृत में विशिष्ट कवि प्रशंसा के विषय में उद्धृत एक पद्य[1] में भी सुबन्धु, रघुकार (कालिदास), हरिचन्द्र (गद्य-

---

[1] सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे, हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः, प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥

काव्य लेखक), शूर, भारवि तथा भवभूति जैसे उत्कृष्ट कवियों के साथ-साथ दाक्षीपुत्र का भी नाम उल्लिखित है। जहाँ तक हम जानते हैं 'दाक्षीपुत्र' से वैयाकरण पाणिनि का ही संकेत है क्योंकि महाभाष्य के अनेक स्थलों[1] पर यह विशेषण पाणिनि के लिये प्रयुक्त किया गया है। इस उल्लेख से भी दोनों की अभिन्नता सिद्ध होती है।

क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' नामक छन्दोग्रन्थ में पाणिनि के उपजाति छन्द को चमत्कार का सार बतलाया है :—

स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥

अब तक उद्धृत प्रमाणों से पाणिनि के कवि होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु यह बात बड़े महत्त्व की है कि पाणिनि यदा-कदा फुटकर पद्य लिखनेवाले साधारण कवि नहीं थे, प्रत्युत संस्कृत साहित्य के सर्व प्रथम महाकाव्य के लिखने का श्रेय उन्हीं को ही प्राप्त है। इस महाकाव्य का नाम कहीं तो '**पाताल विजय** पाया जाता है और कहीं पर '**जाम्बवती जय**'।

रुद्रट कृत काव्यालंकार के टीकाकार 'नमि साधु' ने 'महाकवि भी अपशब्दों का प्रयोग करते हैं' इसे जतलाने के लिये पाणिनि के 'पाताल विजय' से 'सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भानुः' को उद्धृत किया है जिसमें 'गृह्य' शब्द पाणिनीय व्याकरण से अशुद्ध है। अमरकोश के टीकाकार राय मुकुट ने निम्नलिखित पद्य-खण्ड

१ सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। [महाभाष्य १।१।२० पर]

को इकारान्त 'पृषन्ति' (जलबुन्द) शब्द के उदाहरण के वास्ते उद्धृत करते समय इसे 'जाम्बवती विजय'-का बतलाया है:—

पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टाः वान्ति वाताः शनैः शनैः ।

राजशेखर के ऊपर उद्धृत पद्य में, पुरुषोत्तम देव की भाषा-[1] वृत्ति में तथा शरणदेव की दुर्घट-वृत्ति[2] में पाणिनि के पद्यों को उद्धृत करते समय उनके काव्य का नाम **'जाम्बवती जय'** या **'जाम्बवती विजय'** बतलाया गया है। जाम्बुवती को लाने के लिये कृष्ण भगवान् को पाताल में जाकर विजय प्राप्त करना पड़ा था अतः 'पातालविजय' 'जाम्बवती विजय' का नामान्तर मात्र है,

---

१ पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की वैदिक भाषा के उपयोगी सूत्रों को छोड़ कर शेष सूत्रों पर एक सुन्दर टीका बनाई है उसी का नाम 'भाषा-वृत्ति' है। यह लेखक बंगाल का रहनेवाला था और सम्भवतः बौद्ध था। 'वृत्ति' के टीकाकार सृष्टिधर के कथनानुसार इस ग्रन्थ की रचना लक्ष्मणसेन की आज्ञा से की गई थी। अतः पुरुषोत्तमदेव का समय १२वीं सदी का मध्य भाग है।

२. शरणदेव भी बौद्ध थे और बङ्गाल के प्रसिद्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन के सभा-पण्डित थे। इनकी 'दुर्घट वृत्ति' में उन सब प्रयोगों की सिद्धि बताई गई है जो आपाततः अपाणिनीय प्रतीत होते हैं। इनकी सिद्धि सूत्रों के बहुत से तोड़ मरोड़ करने पर की गई है। जयदेव के 'शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः' में दुरूह शब्दों के भी पिघलानेवाले जिस शरण-देव की प्रशंसा है वह यही हैं। 'दुर्घट वृत्ति' के देखने से ही जयदेव की यह प्रशंसा अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है। इसमें अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण पाये जाते हैं। इस ग्रंथ की रचना ११७२ ई० में की गई थी। अतः शरण का आविर्भाव १२ वीं सदी में हुआ था।

कोई विभिन्न ग्रन्थ नहीं। शरण देव की पुस्तक में अठारहवें सर्ग से एक पद्य उद्धृत किया गया है जिससे जान पड़ता है कि यह महाकाव्य कम से कम अठारह सर्गों का अवश्य था।

पाणिनि का जीवन चरित तथा काल

जिसप्रकार पाणिनि का आविर्भाव काल अभी तक ठीक नहीं हो सका उसी प्रकार उनके जीवनचरित का ज्ञान भी हमें बहुत ही कम है। पाणिनि ने स्वयं कहीं भी अपने विषय में (जहाँ तक ज्ञात है) कुछ लिखा ही नहीं। परवर्ती ग्रन्थकारों ने पाणिनि की सम्मति उद्धृत करते समय उनके लिये कतिपय विशेषणों का प्रयोग किया है जिनसे पाणिनि के विषय में कुछ ज्ञात होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि को कई स्थानों पर 'दाक्षीपुत्र' तथा 'शालातुरीय' कहा है जिससे केवल इतना पता लगता है कि पाणिनि की माता का नाम 'दाक्षी' तथा जन्मस्थान का नाम **'शालातुर'** था। जेनरल कनिंघम ने अनेक प्रबल प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'शालातुर' का वर्तमान नाम 'लाहुर' है जो पेशावर के आस-पास आज एक छोटा सा गाँव है। अष्टाध्यायी में उत्तरी भारत—खास कर अफगानिस्तान तथा सीमान्त प्रदेश—के सच्चे भौगोलिक उल्लेखों से भी यही जान पड़ता है कि पाणिनि

---

१. त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनम्
चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतमद्य मे ।
—जाम्बवती विजये पाणिनिनोक्तम्........
इत्यष्टादशे (सर्गे) ।

का जन्म अवश्य ही भारत के पश्चिमोत्तरीय प्रदेश में हुआ था[१]। विद्वानों का अनुमान है कि पाणिनि ने उसी स्थान पर विद्याध्ययन किया था जो बौद्धकाल में 'तक्षशिला' के नामसे सर्वप्रसिद्ध विद्यापीठ हुआ। भट्टसोमेश्वर ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में रहनेवाले उपाध्याय वर्ष के पास पाणिनि विद्याध्ययन करते थे। आरम्भ में पाणिनि की बुद्धि बड़ी मोटी थी, कितने समझाने पर भी कोई विषय उन्हें हृदयंगम नहीं होता था। मानसिक व्यथा से पीड़ित होकर पाणिनि ने हिमालय में जाकर अखण्ड तपस्या की तथा शिवजी के प्रसाद से न केवल अपने सहपाठियों को—विशेषतः वररुचि को—ही परास्त किया बल्कि एक नये व्याकरण की सृष्टि की। इस कथानक से पाणिनि का पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) में शिक्षा पाना सिद्ध होता है। राजशेखर ने भी एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है[३] जिससे निश्चय रूप से जाना जाता है कि पाटलि

---

१ डाक्टर भांडारकर-इंडियन एण्टिक्वेरी भाग १ तथा 'पाणिनि का भौगोलिक ज्ञान' शीर्षक साहित्याचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय का लेख। 'श्री शारदा' जनवरी १९२३।

२. कथासरित्सागर, ४था तरंग, पृष्ठ ८ (निर्णय सागर प्रेस का संस्करण)

३. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—

अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः।

वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।

—काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५५।

पुत्र में पाणिनि की परीक्षा ली गई थी और इसमें उत्तीर्ण होने पर उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। पंचतंत्र के एक आकस्मिक उल्लेख के आधार पर कहा जाता है कि व्याघ्र से पाणिनि की मृत्यु हुई थी। बस, पाणिनि के जीवन के विषय में इतना ही कहा जा सकता है।[1]

पाणिनि का आविर्भाव कब हुआ था? यह एक बड़ी विषम समस्या है। यूरोपीय लेखक इन्हें ईसा से पूर्व चौथी सदी का बतलाते हैं परन्तु डाकर गोल्डस्टुकर[2] तथा डाक्टर भाण्डारकर[3] ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि पाणिनि बुद्ध के पहिले हो गये हैं और इनका समय कम से कम ईसा से ७०० वर्ष पूर्व है।

कविता के नमूने

पाणिनि की कविता मधुर तथा सरस है। अलंकारों की छटा रसिक मन को अतीव आनन्दित कर रही है। ऐसी अनोखी उत्प्रेक्षाओं का प्रयोग किया गया है कि हृदय सागर में बलात् आनंद लहरी उठने लगती है। शृंगार रस का ही विशेष वर्णन है। प्राकृतिक दृश्यों का अतिशय अलंकृत भाषा में वर्णन बड़ा ही

१. पाणिनि के विस्तृत जीवन तथा समय के लिये— 'श्री शारदा' १९२२ के सितम्बर मास की संख्या में साहित्याचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय एम० ए० का लेख देखिये।

२. गोल्डस्टुकर 'पाणिनि तथा उनका संस्कृत साहित्य में स्थान' नामक ग्रन्थ में।

३. भांडारकर-'दक्षिण का प्राचीन इतिहास' नामक ग्रंथ में

सजीव तथा मनोहर है। पाठकों के मनोरञ्जन के लिये इनमें से कतिपय मनोरम पद्य नीचे दिये जाते हैं—

शृंगाररस

पाणौ शोणतले तनूदरि! दरक्षामा कपोलस्थली
विन्यस्ताञ्जनदिग्धलोचनजलैः किं म्लानिमानीयते।
मुग्धे! चुम्बतु नाम चञ्चलतया भृंगः क्वचित् कन्दली-
मुन्मीलन्नवमालतीपरिमलः किं तेन विस्मार्यते॥

खण्डिता नायिका को सखी समझा रही है—ऐ कृशोदरि! लाल हथेलियों पर अपने कृश कपोलों को रखे हुये काजल से मिश्रित आँसुओं को क्यों बहा रही हो? क्या अपने प्राणप्यारे के लिये इतना रो रही हो? भला तेरा वह लाडिला तुझे कभी छोड़ सकता है! तुझे कभी भूल सकता है? क्यों, तू नहीं जानती—कि भौंरा अपनी चंचलता के कारण कन्दली को कहीं भले चख आवे परन्तु नई मालती के सुगन्ध को क्या वह कभी भूल सकता है? जिस प्रकार नई खिलती हुई मालती का परिमल भौंरे को अवश्य आकृष्ट करता है उसी प्रकार तुम्हारी इस उठती जवानी की सुन्दरता उसे जरूर खींच लावेगी। क्या ही मनोहर पद्य है! उदाहरण की अनुरूपता देखते ही बनती है।

---

१. जिन पाठकों को समग्र पाणिनीय कविता को देखना हो वे नागरी-प्रचारिणी पत्रिका वर्ष १, संख्या ४ में स्वर्गीय पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के एतद्विषयक लेख देखें।

पाणौ पद्मधिया मधूकमुकुलभ्रान्त्या तथा गण्डयो-
र्नीलेन्दीवरशंकया नयनयोर्बन्धूकबुद्ध्याऽधरे ।
लीयन्ते कवरीषु बान्धवजनव्यामोहबद्धस्पृहा
दुर्वारा मधुपाः कियन्ति सुतनु ! स्थानानि रक्षिष्यसि ।

किसी तन्वी के कमनीय कलेवर पर भौंरों की भीर गिरी जाती थी। वह सुकुमारी अपने को बचाना चाहती है। तब कवि कह रहा है—तुम कितने अंगों को इन भौंरों से बचाओगी ? भला कभी ये तुम्हारा पीछा छोड़ सकते हैं ? हाथों को कमल, गण्डस्थल को महुये की फली, आँखों को नील कमल, अधर को बन्धूक तथा तुम्हारे केशपाश को कारे कारे अपने भाई-बन्धु समझकर ये भौंरे तुम्हारे देह पर चढ़े ही आते हैं। क्या रोकने से रुक सकते हैं ?

वर्षा-वर्णन

रूपां क्षामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।
क्व सम्प्रत्युष्णांशुर्गत इति समालोकनपरा-
स्तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीह जलदाः ।

सावन की घटा छाई हुई है। प्रत्येक दिशा में बादल घिर आये हैं। बिजुली भी इन मेघों में कौंध जाती है। इसी दृश्य का उत्प्रेक्षापूर्ण वर्णन इस परम कमनीय कविता के द्वारा किया गया है। कवि कहता है कि ये परम उपकारी जलद—जो न्याय की जोती हुई मूर्ति हैं क्योंकि उनके लिये ऊँच तथा नीच की व्यवस्था का अस्तित्व ही नहीं है—बिजुली रूपी दीपक के प्रकाश में चारों

ओर घूम रहे हैं। भला इनके घूमने का उचित कारण क्या हो सकता है? कवि कहता है कि तीक्ष्ण किरणवाले अपराधी सूर्य के तलाश में ये इधर-उधर घूम रहे हैं। जरा तीक्ष्णांशु के अपराध पर दृष्टिपात कीजिये। उसने रातों को पतली बना डाला है, नदियों का जल चुरा लिया है, समग्र विस्तीर्ण पृथ्वी को तपा डाला है, वृक्ष समूह को सुखा डाला है; इन अपराधों के करने के बाद न जाने किस दिशा में यह मुजरिम छिपा हुआ है। इसीलिये इन्साफ़-पसन्द बादल उसकी तालाश में चारों ओर घूम रहे हैं। क्या इससे भी बढ़कर कल्पना मेघों के भ्रमण के विषय में की जा सकती है? सरल शब्दों में कितने रमणीय भाव भर दिये गये हैं।

मेघ गर्जन

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किन्नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास।

वर्षा-काल में मेघों की प्रचण्ड गर्जना हो रही है। पाणिनि की सम्मति में यह नीरस गर्जना नहीं है; बल्कि उनका करुण क्रन्दन है। बात यह है कि रात के समय अभिसारिका के मुख को बिजुली रूपी आँखों से देखकर मेघों को यह सन्देह हो रहा है कि कहीं हमारे धारा-सम्पात के साथ-साथ चंद्रमा जमीन के ऊपर तो नहीं गिर पड़ा है? यदि ऐसा नहीं है, तो गाढान्धकार में अभिसारिका का इतना चमकीला चेहरा कहाँ से आया? नायिका के परम कान्तिमय मुख को देखकर उन्हें चन्द्रमा का सन्देह हो रहा है। इस सन्देह में विभोर होकर वे इतना करुण-क्रंदन कर रहे हैं।

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं, गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः ।
अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं, तच्छर्वरी गौरिव हुं करोति॥

वर्षा में आधी रात के समय चन्द्रमा का बिम्ब मेघों की पटल में बिल्कुल अन्तर्हित हो गया है। बादलों की कड़ाके की आवाज चारों ओर से आ रही है। इसपर हमारे सहृदय कवि कह रहे हैं कि यह तो निशा रूपी गाय का हुंकार है। जिस प्रकार प्यारे बछड़े को आँखों के सामने न देखकर गाय हुंकार भरती है, उसी प्रकार यह रात्रि भी अपने प्यारे चन्द्र को न देखकर मेघ-गर्जन के व्याज से हुंकार कर रही है।

शरद् सुषमा

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम्
प्रसादयन्ती स-कलंकमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ।

शरत्काल में चन्द्रबिम्ब विमल हो जाता है, परन्तु आकाश में मेघों के न होने से सूर्य की गर्मी पहिले से और भी अधिक हो जाती है। इस प्राकृतिक घटना पर पाणिनि ने विलक्षण कल्पना की सृष्टि की है। उनकी सम्मति में शरद् का व्यवहार नायिका के समान प्रतीत होता है। नायिका के समान शरद् शुभ्र पयोधरों (मेघ तथा स्तन) पर नखक्षत के समान रंगविरंगे इन्द्र धनुष को धारण करती हुई कलंकी चन्द्रमा (मानी उपनायक) को प्रसन्न (निर्मल) कर रही है और साथ-ही-साथ सूर्य (नायक) के ताप (मानसिक दुःख तथा गर्मी) को भी अधिक बना रही है। इस

प्राकृतिक घटना पर नायक नायिका का चरित्र पूर्णतया घटित हो रहा है।

सन्ध्या काल

सरोरुहाक्षीणि निमीलयन्त्या
रवौ गते साधु कृतं नलिन्या।
अक्ष्णा हि दृष्ट्वापि जगत् समस्तं
फलं प्रियालोकनमात्रमेव।

सूर्य के अस्त हो जाने पर स्वभावतः कमलिनी संकुचित हो जाया करती है। इसपर कविजी कह रहे हैं कि नलिनी का यह कार्य सर्वथा श्लाघनीय है। प्रिय सूर्य के चले जाने पर कमल रूपी आँखों को बन्दकर कमलिनी ने बहुत ही उचित किया क्योंकि समग्र संसार को देखने पर भी आँखों का एक मात्र फल है—प्रियतम को देखना, परन्तु जब प्रियतम ही संसार से चला गया तो इन आँखों को रखकर ही क्या होगा। इस विचार से आँख बन्द कर कमलिनी ने पतिव्रता धर्म को खूब ही निभाया।

अथास्तसादास्तमनिन्द्यतेजा
जनस्य दूरोज्झितमृत्युभीतेः।
उत्पत्तिमद् वस्तु विनाश्यवश्यं
यथाहमित्येवमिवोपदेष्टुम्।

सन्ध्या वेला अत्यन्त प्रतापशाली सूर्य भी डूब रहा है। इस घटना से वह मृत्यु से भय न करने वाले मनुष्यों को मानों उपदेश दे रहा है कि संसार की जितनी उत्पन्न होने वाली चीजें हैं उनका

नाश होना अवश्यम्भावी है। इतने प्रतापी होने पर भी जब मेरी ऐसी दशा है तो और लोगों की कथा क्या कही जाय ?

प्रकाश्य लोकान् भगवान् स्वतेजसा
प्रभादरिद्रः सवितापि जायते।
अहो चला श्रीर्वत मानिनामपि
स्पृशन्ति सर्वं हि दशा विपर्यये॥

भगवान् सूर्य अपने तेज से सब लोकों को प्रकाशित कर के भी प्रभाहीन हो जाता है। आश्चर्य है कि बड़े बड़े मानियों की भी लक्ष्मी (शोभा) स्थिर नहीं है। ठीक है, दशा के बिगड़ने पर सब कुछ हो सकता है। बुरे दिनों में मनुष्य को विभिन्न दशायें आकर छूती हैं। सूर्य के अस्त होने से यह उचित शिक्षा लेना प्रत्येक विज्ञ पुरुष का काम है।

चन्द्रोदय

उपोढरागेण विलोलतारकं
तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया
पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार आप ही आप नष्ट होने लगता है। इसी घटना को लेकर कवि ने इस अलौकिक कल्पना की उद्भावना की है। जिस प्रकार कोई अनुरागी नायक अपनी नायिका के चञ्चल नेत्रवाले मुख को पकड़े तो आनन्द के कारण खिसकते हुये वस्त्र की सुधि उसे कुछ भी नहीं रहती, उसी प्रकार

लाल रंग को धारण करनेवाले चन्द्रमा ने चञ्चल तारावाले निशा के मुख (आरम्भ) को इस प्रकार पकड़ा कि खिसकते हुये अन्धकार की खबर उसे ज़रा भी न लगी। तात्पर्य है कि चन्द्रमा के उदय होते ही अन्धकार धीरे-धीरे नष्ट होने लगता है। चन्द्रोदय के उल्लास में उसके नष्ट हो जाने की सुधि किसी को भी नहीं रहती। क्या ही सुन्दर तथा श्लिष्ट शब्दों में एक मनोरंजक प्राकृतिक घटना वर्णित की गई है।

२—वररुचि

सूक्ति-संग्रहों में 'वररुचि' के नाम से बहुत से श्लोक उद्धृत किये गये हैं। न केवल 'सुभाषितावलि' तथा 'शांरगधरपद्धति' में ही इनके पद्य पाये जाते हैं बल्कि इनसे भी प्राचीन 'सदुक्तिकर्णामृत' में वररुचि कृत श्लोकों की उपलब्धि होती है। यह वररुचि कौन थे? इसे ठीक ठीक कहना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक लिखनेवाले कात्यायन मुनि का भी नाम 'वररुचि' था, उधर 'प्राकृत प्रकाश' नामक प्राकृत के अति प्राचीन व्याकरण बनानेवाले भी कोई 'वररुचि' हो गये हैं। कवि वररुचि—जिनके पद्य सूक्ति ग्रन्थों में संरक्षित हैं—इन दोनों से भिन्न थे या अभिन्न, इसे निश्चय पूर्वक सिद्धान्त रूप से बतलाना जरा कठिन काम है। लेखक का अनुमान है कि कवि वर-

ग्रन्थ तथा काल

रुचि तथा वार्तिककार कात्यायन दोनों एक ही व्यक्ति हैं। पतञ्जलि ने वररुचि के बताये हुये किसी काव्य-ग्रंथ (वाररुचं काव्य) का उल्लेख महाभाष्य में किया है। यह काव्य-ग्रन्थ आज कल उपलब्ध नहीं; परन्तु सम्भवतः इसका नाम '**कण्ठाभरण**' था जिसका उल्लेख राजशेखर के निम्नलिखित पद्य में किया है:—

> **यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह ।**
> **व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः ॥**
>
> —सूक्तिमुक्तावलि ।

यदि वार्तिककार कात्यायन ही इन श्लोकों के रचयिता मान लिये जाँय, तो वररुचि का समय ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में होना चाहिये। कथासरित्सागर से साफ़ तौर से जाना जाता है कि वररुचि कात्यायन पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध राजा नन्द के महामन्त्री थे। इन्होंने वहीं के '**वर्ष उपाध्याय**' से सब विद्यायें पढ़ी थी। व्याकरण के तो आप आचार्य ही हैं। डाक्टर भाण्डारकर ने कथासरित्सागर में उल्लिखित कथा को प्रामाणिक मानकर वररुचि (जिनका गोत्रज नाम 'कात्यायन' था) का समय ईसा से पूर्व चौथी सदी में माना है।

इनकी कविता बड़ी मनोहारिणी है। माधुर्य तथा प्रसाद तो इसमें कूट-कूटकर भरा हुआ है। ऋतुओं के वर्णन में ही इनके अधिकतर श्लोक पाये जाते हैं। वर्णन सरल होने पर भी सजीव हैं तथा अलङ्कार से सुसज्जित हैं। इनकी आलोचना करने से कहना पड़ता

कविता

है कि वररुचि वास्तव में प्रकृति के प्रेमी पुरोहित थे। इनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी पैनी थी। अलङ्कारों की भी छटा खूब ही निराली है। छोटे-छोटे चुस्त अनुष्टुप् छन्दों में उपमा तथा उत्प्रेक्षा का ऐसा सुन्दर विन्यास देखकर सहृदय पुरुष मुग्ध हुये बिना नहीं रह सकते। साधारण पाठकों को भी पद्यों के एक बार ही पढ़ने से ज्ञात हो जायगा कि इनकी भाषा कितनी प्राञ्जल तथा सरस है। भाव भी बड़े सुन्दर तथा मनोरम हैं। वररुचि के नाम से जितने पद्य सुभाषित ग्रन्थों में पाये जाते हैं उनमें से कतिपय सुन्दर श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

वर्षा की बहार

वर्षा की बहार देखिये। लाल लाल बीरबहूटियों से पृथ्वी चारों ओर आच्छादित हो गई है। मालूम पड़ता है कि ये लहू की बूँदें हैं जो कामदेव के बाणों से घायल होनेवाले प्रवासी विरहियों के हृदय से चू-चूकर जमीन पर गिरी पड़ी हैं। इन्द्रगोप के विरहोद्दीपक होने की बात कैसे अच्छे तरह से वर्णन की गई है:—

इन्द्रगोपैर्बभौ भूमिर्निचितेव प्रवासिनाम्।
अनङ्गबाणैर्हृद्भेदश्रुतलोहितबिन्दुभिः ॥

सावन की छटा देखते ही विरहियों के हृदय में आग क्यों लग जाती है? हृदय सन्तप्त क्यों हो जाता है? इसका मार्मिक उत्तर यदि आपको जानना हो, तो वररुचि का यह सुभग पद्य पढ़िये —

व्योम्नि नीलाम्बुदच्छन्ने गुरुवृष्टिभयादिव।
जग्राह ग्रीष्मसंतापो हृदयानि वियोगिनाम् ॥

जब आकाश में काली-काली घटायें घिर आईं, तो ग्रीष्म ऋतु का ताप बहुत डरा कि कहीं अत्यन्त वृष्टि के मारे मेरा अस्तित्व ही नष्ट न हो जाय। इसलिये अपने लिये योग्य स्थान ढूँढ़कर वह वियोगियों के हृदय में बलात् घुस गया। यही कारण है कि उनका हृदय वर्षाकाल में संतप्त हो उठता है ?

आलोहितमाकलयन् कन्दलमुत्कम्पितं मधुकरेण।
संस्मरति पथिषु पथिको दयिताङ्गुलितर्जनाललितम्॥

मार्ग में भौरों से हिलाये गये लाल लाल अंकुरों को देखकर पथिकों को अपनी प्यारी की अंगुली से किये गये सुन्दर तर्जन याद पड़ रहे हैं। डराने के लिये संचारित लाल अंगुलियों तथा भ्रमर-कम्पित कन्दलों का रंग तथा कार्य एक समान ही है। अतः एक से दूसरे की याद सहज में ही हो जाती है।

नीचे के पद्य में मेघमाला का वर्णन गर्भिणी के रूप में किया गया है:—

सान्द्रनीहारसंवीततोयगर्भगुरूदरा।
संततस्तनिताभ्राली निषसादाद्रिसानुषु॥

घने कुहरे से ढके हुये जल को अपने गर्भ में धारण करने से गुरु उदर वाली तथा सदा गर्जन करने वाली मेघमाला पहाड़ों के शिखरों पर बैठी क्या करे ? गर्भ के भार से क्लान्त गर्भिणी स्त्री भी तो ऊँची जगहों पर बैठकर आराम करती है। मेघमाला भी विपुल जल के भार से संत्रस्त है। अतः उसका पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर बैठना नितान्त स्वाभाविक है।

आचार्य दण्डी ने भी 'समाधि' गुण के उदाहरण में इस पद्य के अनुरूप निम्नलिखित श्लोक की रचना की है—

गुरुगर्भभरक्लान्ताः स्तनन्त्यो मेघपंक्तयः ।
अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमाः समधिशेरते ॥

—काव्यादर्श, १ परि०, ९८ प० ।

शरद्वर्णन

उपकारिणि विच्छीणे शनैः केदारवारिणि ।
सानुक्रोशतया शालिरभूत् पाण्डुरवाङ्मुखः ॥

जब खेत का उपकारी जल धीरे-धीरे घटने लगा, तब धान भी सहानुभूति से पीला पड़ गया और उदास हो उसने अपना मुँह नीचे कर लिया। धान सोचने लगा कि खेत के ही जल से मेरी पुष्टि हुई है, इसने मुझे पाल पोसकर इतना बड़ा बनाया है, मुझे फलयुक्त भी किया है; परन्तु जब मेरा उपकारी मित्र ही चल बसा, तो मुझे कृतघ्न की भाँति खड़ा रहना शोभा नहीं देता। इसीलिये सहानुभूति से उसका चेहरा पीला पड़ जाता है और वह शोक में सिर झुका लेता है। पके हुए धान का क्या ही स्वाभाविक सुभग वर्णन है।

कलमं* फलभारातिगुरुमूर्धतया शनैः ।
विननामान्तिकोद्भूतं सामाघ्रातुमिवोत्पलम् ॥

---

* इस पद्य से मिलता जुलता भारवि का यह श्लोक है—
अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः ।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥
(किरात ४।२६)

खेतों में धान के पौदे लहरा रहे हैं। पकी हुई बालियों के बोझ से उनका मस्तक झुका हुआ है। जान पड़ता है कि समीप में उगे हुये कमलों को सूँघने के लिये धान के पौधों ने अपना सिर झुका दिया है। धान का यह काम सर्वथा उचित है। यदि सजीव प्रकृति के पौधे सूँघने का प्रयत्न करते हैं तो क्या बेजा करते हैं।

प्रत्यग्रतिलका सद्यो मधुलक्ष्म्यभिसारिका।
जातपुष्पशरा चक्रे पदमुद्यानभूमिषु॥

जिस प्रकार कोई अभिसारिका नया तिलक लगाई हुई, कामदेव के बाणों से व्यथित हो किसी उपवन में आ पहुँचती है; उसी प्रकार वसन्त की लक्ष्मी ने नये नये तिलक वृक्षों तथा पुष्पों से युक्त होकर वाटिका में अपना पैर रखा है।

अस्या मनोहराकारकवरीभारतर्जिताः।
लज्जयेव वने वासं चक्रुश्चमरबर्हिणः॥

इस नायिका के केश कलापों का वर्णन क्या किया जाय। चमरीमृग तथा मयूर इसके सुन्दर कबरी भार से तर्जित होने पर लज्जा के मारे जंगल में ही निवास करते हैं। वे कौन मुँह लेकर शहर में लौटें।

प्रत्यग्रयौवनां श्यामामपेततिमिरांशुकाम्।
विलोक्य जातहासोऽभून्मुदेव कुमुदाकरः॥

चन्द्रोदय हो रहा है। चाँदनी जमीन पर छिटकती चली जाती है। मानो जिस तरह कोई नायक षोडशवर्षीया नायिका को, जिसके अंगों में जवानी उमड़ रही हो, अपेतवस्त्रा होते देख हँस

पड़ता है उसी प्रकार चन्द्रमा भी तिमिर रहित रात्रि को देखकर आनन्द से हँस रहा है। चाँदनी क्या है मानो चन्द्रमा का धवल हास्य है।

> अपि स दिवसः किं स्याद्यत्र प्रियामुखपङ्कजे
> मधु मधुकरीवास्मद्दृष्टिर्विकासिनि पास्यति।
> तदनु च मृदुस्निग्धालापक्रमाहितनर्मणः
> सुरतसचिवैरङ्गैः सङ्गो ममापि भविष्यति॥

कोई विरही संयोग का सुन्दर चित्र अपने नेत्रों के सामने खींच रहा है। वह कह रहा है कि मेरे वे दिन कब आवेंगे जब मेरी दृष्टि प्यारी के खिले हुये मुख कमल के रस का पान उसी भाँति करेगी, जिस तरह भँवरी कमल के रस का पान करती है। उसके अनन्तर मीठे मीठे सुभग वार्तालाप करता हुआ कब मैं प्यारी के सुरत के सहायक अंगों से मिलूँगा।

यह पद्य सदुक्तिकर्णामृत में 'वार्तिककार' के नाम से उद्धृत किया गया है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने इसे तंत्रवार्तिक के बनाने वाले कुमारिलभट्ट का बतलाया है। कुमारिल भी अच्छे कवि थे, परन्तु वार्तिककार के नाम से अधिकतर पाणिनीय अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि का ही बोध होता है। अतः यह श्लोक वररुचि की काव्यकला के दिग्दर्शन के लिये यहाँ उद्धृत किया गया है।

खेतों में धान के पौदे लहरा रहे हैं। पकी हुई बालियों के बोझ से उनका मस्तक झुका हुआ है। जान पड़ता है कि समीप में उगे हुये कमलों को सूँघने के लिये धान के पौधों ने अपना सिर झुका दिया है। धान का यह काम सर्वथा उचित है। यदि सजीव प्रकृति के पौधे सूँघने का प्रयत्न करते हैं तो क्या बेज़ा करते हैं।

प्रत्यग्रतिलका सद्यो मधुलक्ष्म्यभिसारिका।
जातपुष्पशरा चक्रे पदमुद्यानभूमिषु॥

जिस प्रकार कोई अभिसारिका नया तिलक लगाई हुई, कामदेव के बाणों से व्यथित हो किसी उपवन में आ पहुँचती है; उसी प्रकार वसन्त की लक्ष्मी ने नये नये तिलक वृक्षों तथा पुष्पों से युक्त होकर वाटिका में अपना पैर रखा है।

अस्या मनोहराकारकवरीभारतर्जिताः।
लज्जयेव वने वासं चक्रुश्चमरबर्हिणः॥

इस नायिका के केश कलापों का वर्णन क्या किया जाय। चमरीमृग तथा मयूर इसके सुन्दर कबरी भार से तर्जित होने पर लज्जा के मारे जंगल में ही निवास करते हैं। वे कौन मुँह लेकर शहर में लौटें।

प्रत्यग्रयौवनां श्यामामपेततिमिरांशुकाम्।
विलोक्य जातहासोऽभून्मुदेव कुमुदाकरः॥

चन्द्रोदय हो रहा है। चाँदनी जमीन पर छिटकती चली जाती है। मानो जिस तरह कोई नायक षोडशवर्षीया नायिका को, जिसके अंगों में जवानी उमड़ रही हो, अपेतवस्त्रा होते देख हँस

पड़ता है उसी प्रकार चन्द्रमा भी तिमिर रहित रात्रि को देखकर आनन्द से हँस रहा है। चाँदनी क्या है मानो चन्द्रमा का धवल हास्य है।

अपि स दिवसः किं स्याद्यत्र प्रियामुखपङ्कजे
मधु मधुकरीवास्मद्दृष्टिर्विकासिनि पास्यति।
तदनु च मृदुस्निग्धालापक्रमाहितनर्मणः
सुरतसचिवैरङ्गैः सङ्गो ममापि भविष्यति॥

कोई विरही संयोग का सुन्दर चित्र अपने नेत्रों के सामने खींच रहा है। वह कह रहा है कि मेरे वे दिन कब आवेंगे जब मेरी दृष्टि प्यारी के खिले हुये मुख कमल के रस का पान उसी भाँति करेगी, जिस तरह भँवरी कमल के रस का पान करती है। उसके अनन्तर मीठे मीठे सुभग वार्तालाप करता हुआ कब मैं प्यारी के सुरत के सहायक अंगों से मिलूँगा।

यह पद्य सदुक्तिकर्णामृत में 'वार्तिककार' के नाम से उद्धृत किया गया है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने इसे तंत्रवार्तिक के बनाने वाले कुमारिलभट्ट का बतलाया है। कुमारिल भी अच्छे कवि थे, परन्तु वार्तिककार के नाम से अधिकतर पाणिनीय अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि का ही बोध होता है। अतः यह श्लोक वररुचि की काव्यकला के दिग्दर्शन के लिये यहाँ उद्धृत किया गया है।

३—कालिदास

कौन ऐसा संस्कृत जानने वाला होगा जिसने कालिदास का नाम न सुना हो। शकुन्तला नाटक ने जिनकी कीर्ति-कौमुदी को विश्व में उदित कर दिया, जिनके कविता-माधुर्य पर समस्त देशी तथा विदेशी विद्वान् लट्टू हैं, जिनके सिर पर भारतीय कवियों ने कवि-कुल-मूर्धन्य की पगड़ी सर्वसम्मति से रखी है, उन कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास को कौन नहीं जानता। आप भारत के ही नहीं, बल्कि संसार के श्रेष्ठ महाकवियों में अग्रणी हैं। कालिदास को कीर्ति-कौमुदी इस विशाल भारतवर्ष को ही आनन्द सागर में नहीं डुबा रही है, बल्कि सुदूर पश्चिमी संसार के तप्त हृदयों को भी आध्यात्मिक जीवन की सुशिक्षा दे कर तृप्त कर रही है। कालिदास भारतीय कवियों में ही श्रेष्ठ नहीं हैं बल्कि संसार की किसी भाषा का कवि ऐसी उत्तम कविता बनाने में समर्थ नहीं हुआ है। कम से कम यह तो सबको मानना ही पड़ेगा कि कालिदास सरस्वती देवी की देदीप्यमान मणि-माला के मध्य-मणि (सुमेर) हैं। नाट्यकला की सुन्दरता निरखिये, या महाकाव्य की वर्णन-छटा देखिये, अथवा गीतिकाव्य के सरस करुण हृदयोद्गारों को पढ़िये, कालिदास में वह आश्चर्यजनक चमत्कार है जो विश्व को चकाचौंध कर रहा है, ऐसी ब्रह्माण्ड-व्यापिनी सर्वातिशायिनी प्रतिभा है जिसका एकत्र समागम संसार में दुष्प्राप्य है। उनके काव्य ऐसे आध्यात्मिक रहस्य से भरे

प्रसिद्धि

हुए हैं जिनका इतना सरस प्रतिपादन दुर्लभ है। उनकी कविता शान्तिदायी उपदेश की वह कौमुदी है, जो जिज्ञासु जन के जिज्ञासातप्तचित्त को चिरस्थायी आनन्द-सागर के तरङ्गों में डुबो देती है। धन्य है कालिदास और धन्य है उनकी कविता!

दुर्भाग्यवश कालिदास का ऐतिहासिक जीवन प्रायः निविड़ अन्धकार में छिपा है। कालिदास के जीवन की घटनायें अज्ञात हैं।

जीवनवृत्त

अपने किसी भी ग्रन्थ में कवि ने अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। परन्तु यह किम्वदन्ती प्रसिद्ध है कि कालिदास लड़कपन में बड़े मूर्ख थे—पढ़ना-लिखना तनिक भी न जानते थे। विद्यावती नामक विदुषी से शास्त्रार्थ में हारकर पण्डितों ने कालिदास के साथ बड़ी युक्ति से उसका विवाह करा दिया परन्तु विद्यावती को जब पण्डितों की धूर्तता का पता लगा, तब वह बहुत दुःखित हुई और उसने उस मूर्ख को घर से निकाल दिया। कालिदास ने भगवती की बड़ी आराधना की और उन्हीं के प्रसाद से ये एक प्रतिभाशाली कवि बन गये थे। जब घर लौटे, तब किवाड़ बन्द पाया जिसके खुलवाने के अभिप्राय से कवि ने संस्कृत में 'अनावृतकपाटं द्वारं देहि' कहा। विदुषी पत्नी ने तुरन्त उत्तर दिया-'अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः'। कवि ने अपनी पत्नी के उत्तरभूत वाक्य के शब्दों से आरम्भ कर तीन काव्य बना डाले। 'अस्ति' शब्द से आरम्भ कर 'कुमारसंभव', 'कश्चित्' से प्रारम्भ कर मेघदूत और 'वाग्' से शुरू कर रघुवंश बनाया।

लंकावासियों में भी कालिदास के विषय में एक किम्वदन्ती

अत्यन्त प्रसिद्ध है। कहते हैं कि कालिदास ने सिंघल द्वीप के राजा **कुमारदास** के '**जानकीहरण**' महाकाव्य की खूब प्रशंसा की थी। इसे सुन कुमारदास ने कवि जी को सिंघल में बुलाया। कालिदास वहाँ गये और राजा के अत्यन्त प्रियपात्र बन गये। कालिदास, सुनते हैं, एक दासी के यहाँ आया जाया करते थे जिसने अपने दरवाजे पर यह श्लोकार्ध लिख रखा था :—

कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते।

(कमल से कमल की उत्पत्ति केवल सुनी जाती है, देखी नहीं गई)।

कवि ने इसकी पूर्ति इस प्रकार कर दी—

बाले ! तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम्॥

(हे सुन्दरी ! तुम्हारे मुख कमल से ये दो (नेत्र)-कमल कैसे उग आये हैं ?)

कहा जाता है कि इसी सुन्दरी के कारण कालिदास मार डाले गये। कुमारदास इस दुर्घटना से अत्यन्त विचलित हुये और उन्होंने कवि की चिता पर आत्महत्या कर ली। अभी तक सिंघलद्वीप के दक्षिणी भाग में कालिदास की समाधि विद्यमान है। यह दन्तकथा भारत में प्रसिद्ध नहीं है परन्तु सिंघल के अनेक प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है।

कालिदास की जन्मभूमि के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। बंगदेशीय विद्वान् कालिदास को बंगाली मानते हैं और नदिया में इनकी जन्मभूमि बताते हैं, उधर बहुत से विद्वान् इनकी जन्मभूमि काश्मीर में बतलाते

जन्मभूमि

हैं। परन्तु कवि ने उज्जयिनी के लिये विशेष पक्षपात दिखलाया है जिससे यही इनकी जन्मभूमि प्रतीत होती है। मेघदूत में यक्ष रास्ता टेढ़ा होने पर भी 'श्रीविशाला विशाला' (उज्जयिनी) को देखने के लिये मेघ से आग्रह करता है।* उज्जयिनी के विशाल महलों और रमणियों के कुटिल-कटाक्षों के देखने से यदि वह वंचित रह गया, तो उसका जीवन ही निष्फल है। कालिदास ने अवन्ती प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का सूक्ष्म-वर्णन मेघदूत में किया है—वहाँ की छोटी-छोटी नदियों का भी नाम निर्देश किया है तथा वर्णन दिया है। उज्जयिनी के प्रति उनके विशेष पक्षपात तथा सूक्ष्म भौगोलिक परिचय के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कालिदास यहीं के रहनेवाले थे।

स्थितिकाल

कविवर कालिदास के स्थिति-काल के विषय में पूर्वी तथा पश्चिमी विद्वानों में बड़ा वाद-विवाद हुआ है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर कालिदास की स्थिति भिन्न भिन्न शताब्दियों में निश्चित की है। कालिदास का समय ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के सात सौ

समय के विषय में मतभेद

---

* वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैर्यत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि।

वर्षों के दीर्घकाल में दोलायमान सा रहा है। यहाँ संक्षेप में प्रधान मतों का उल्लेख किया जायगा।

भारतीय जन-श्रुति के आधार पर कालिदास **राजा विक्रमादित्य** के नव-रत्नों के मुखिया थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी उनकी विक्रम के साथ रहने की बात सूचित होती है। विश्वविख्यात शकुन्तला का अभिनय किसी राजा की—सम्भवतः विक्रम की—'अभिरूपभूयिष्ठा' परिषद् में ही हुआ था। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरुरवा के नायक होने पर भी विक्रम का नामोल्लेख तथा 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' आदि वाक्य—इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं कि कालिदास का विक्रम से सम्बन्ध अवश्य था। रामचन्द्र महाकाव्य के 'ख्यातिं कामपि कालिदासकवयो नीताः शकारातिना' आदि पद्यों से भी इसी सम्बन्ध की पुष्टि हो रही है। अतएव जबतक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण न मिले, तब तक यह मानना अनुचित नहीं होगा कि कालिदास राजा विक्रम की सभा के रत्न थे।

कालिदास ने सुङ्गवंशी राजा अग्निमित्र को अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक बनाया है। अतः वे विक्रम पूर्व द्वितीय शतक के अनन्तर होंगे। इधर सप्तम शताब्दी में हर्षवर्धन के सभा-कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में कालिदास की कविता की प्रशस्त प्रशंसा की है। अतः कवि का समय विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर विक्रम की सप्तम शतक के बीच में कहीं होना चाहिये। कालिदास के समय के विषय में प्रधानतया तीन मत हैं—

पहला मत—कालिदास को षष्ठशतक का बतलाता है।

दूसरा मत—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानता है।

तीसरा मत—विक्रम संवत् के आरम्भ में इनका समय बतलाता है।

इन्हीं प्रधान तीनों मतों का उल्लेख यहाँ क्रमशः किया जायगा।

प्रथम मत—अब यह विचार करना है कि विक्रमादित्य नामक राजा का स्थितिकाल भारतीय इतिहास कब बतला रहा है। भारतीय इतिहास में विक्रम उपाधिवाले चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है जिनके समसामयिक होने से कालिदास का भी समय भिन्न भिन्न सदियों में माना गया है। डाक्टर[1] हार्नली का मत है कि

छठी शताब्दी में कालिदास

यशोधर्मन ने—जिसने कारुर की लड़ाई में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को बालादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से परास्त किया था—'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की थी। अपने बड़े विजय के उपलक्ष में उसने नवीन सम्वत् चलाया जो विक्रम के नाम से व्यवहृत हुआ। परन्तु इसे प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से—इसके ऊपर प्राचीनता का पुट देने के लिये—उसने इसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाया अर्थात् ५४४ ई० की विजय-घटना की यादगार में उसने अपने नवीन सम्वत् को ६०० पूर्व अर्थात् ५८ ईसवी पूर्व से स्थापित होने की बात प्रचारित की। विक्रम सम्वत् की यह नवीन कल्पना डाक्टर फर्गुसन ने की थी। हार्नली ने इसका उपयोग

---

१. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (J.R.A.S) 1903 पृ.५४५

कालिदास के समय-निरूपण के लिये किया। उसने दिखलाया है कि रघु का दिग्विजय यशोधर्मन् की राज्यसीमा से बिल्कुल मिलता जुलता है। किसी आलोचक ने कुमारसम्भव में देवस्तुति के सांख्य सिद्धान्त को ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका के (जो सांख्य की प्राचीनतम पुस्तक मानी जाती है) ऊपर अवलम्बित होना बतलाया है। कारिका को छठी सदी का ग्रन्थ मानकर उसके आशय ग्रहण करनेवाले कालिदास का भी समय उसी सदी में बतलाया गया है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद[1] शास्त्री ने अनेक कौतुकपूर्ण प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास भारवि के अनन्तर छठी सदी में विद्यमान थे।

इस मत का खण्डन—परन्तु कालिदास को इतना पीछे मानना उचित नहीं प्रतीत होता। हूणों के पराजय करने पर भी यशोधर्मन् 'शकाराति'—शकों का शत्रु—नहीं कहा जा सकता। न उसके शिलालेखों से नवीन सम्वत् स्थापन की घटना सच्ची प्रतीत होती है। विक्रम सम्वत् की स्थापना छठी सदी में यशोधर्मन् के द्वारा मानना ज्ञात इतिहास पर घोर अत्याचार करना है; क्योंकि मालव सम्वत् के नाम से यह सम्वत् अति प्राचीन काल में भी प्रसिद्ध था[2]। ४७३ ई० के कुमारगुप्त की प्रशस्ति के कर्त्ता

१. Age of Kalidasa—J. B. O. R. S. Vol II (विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी की पत्रिका, भाग २) पृ० ३१-४४

२. Bhandarkar-Vikrama Era in Bhandakar Commemoration Volume.

वत्सभट्टि की रचना में ऋतुसंहार के कितने ही पद्यों की झलक दीख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को पाँचवीं सदी के अनन्तर मानना अनुचित है। अतः इस मत को अप्रमाणिक मान कर कितने ही भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने गुप्त नरेशों के उन्नत समय में कालिदास की स्थिति बतलाई है।

द्वितीय मत—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानने वाले विद्वानों में भी कुछ कुछ भेद दीख पड़ता है। पूना के प्रोफेसर के०बी० पाठक की सम्मति में कालिदास **स्कन्दगुप्त 'विक्रमादित्य'** के समकालीन थे; परन्तु डाक्टर रामकृष्ण भंडारकर, साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा तथा अधिकांश पश्चिमी विद्वान गुप्तों में सबसे अधिक प्रभावशाली **चन्द्रगुप्त द्वितीय** को कालिदास का आश्रयदाता मानते हैं।

गुप्तकाल में कालिदास

(क) पाठक ने वल्लभदेव[1] के निम्नलिखित श्लोक के पाठ को प्रामाणिक मानकर पूर्वोक्त सिद्धान्त को निश्चित किया है[2]:—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥

१. वल्लभदेव काश्मीर के निवासी थे। उन्होंने लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी पर टीकायें लिखी हैं। मल्लिनाथ ने इन्हें प्रमाणकोटि में मान कर इनके मत का उल्लेख किया है। काश्मीर के निवासी होने से ये भारत की सीमान्त तथा उत्तरीय जातियों से अत्यन्त परिचित प्रतीत होते हैं। इसी कारण से इनके तद्विषयक पाठों पर पाठक ने विशेष श्रद्धा दिखलाई है।

२. इण्डियन एण्टिक्वेरी १९१२ (Ind. Ant. 1912).

इस पद्य के 'सिन्धु' शब्द के स्थान पर वल्लभदेव ने 'वंक्षू' पाठ माना है। वंक्षू शब्द, पाठक की सम्मति में, Oxus (आक्सस) शब्द का संस्कृतीकरण है। अतः इस पाठ को प्रामाणिक मानने से यह कहना पड़ता है कि रघु ने हूणों को आक्सस नदी (जो पामीर से निकल कर अरल सागर में गिरती है) के किनारे उनके भारत आगमन के पहिले हराया था। यह घटना ४५५ ई० के पूर्व की ही हो सकती है क्योंकि उस वर्ष स्कन्दगुप्त के प्रबल प्रताप के सामने हार मान भग्न-मनोरथ होकर हूणों को लौटना पड़ा था। अतः रघुवंश को कालिदास की प्रथम रचना मानकर पाठक ने उन्हें स्कन्दगुप्त का समकालीन माना है। विजयचन्द्र मजुमदार ने कुछ अन्य प्रमाण देकर इन्हें कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त दोनों के समय में माना है[1]।

(ख) पश्चिमी विद्वान् शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले, विक्रमादित्य उपाधि धारणवाले, चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य-काल में (जब भारत में चारो ओर शान्ति विराजमान थी और जो भारतीय कलाकौशल के पुनरुन्नति का काल माना जाता है) कालिदास को मानते हैं। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु का दिग्विजय समुद्रगुप्त की विजय से सर्वथा मिलता जुलता है। रघु में वर्णित शान्ति[2] का समुचित काल चन्द्रगुप्त का ही समय

1. J. R. A. S. 1909. P. 731.

२. वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि, कोलम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

—रघु० ६।७५

था। इसके सिवाय इन्दुमती स्वयम्बर में उपस्थित मगधराज के लिये जो उपमा या विशेषण[१] प्रयुक्त किये गये हैं उनसे भी 'चन्द्रगुप्त' नाम की ध्वनि निकलती है। अन्य प्रमाणों के आधार पर भी बहुत विद्वानों ने इसी समय को प्रामाणिक माना है[२]। परन्तु गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति बताना ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम विक्रमादित्य नहीं थे बल्कि इनसे भी प्राचीन मालवा में राज्य करनेवाले विक्रम का पता इतिहास से चलता है, तब कालिदास गुप्तकाल में कैसे माने जा सकते हैं?

तृतीय सिद्धान्त—पूर्वोक्त दोनों सिद्धान्त उस भारतीय जनश्रुति के विरुद्ध हैं जो कालिदास का समय ईसा के पूर्व ५८ वें वर्ष में बतलाती है।

विक्रम की प्रथम शताब्दी में कालिदास

पूर्वोक्त राजाओं के अतिरिक्त भी ईसा के पूर्व विक्रम नामक राजा की स्थिति काल्पनिक नहीं प्रतीत होती। हाल[३] की गाथा सप्तशती में दानशील राजा विक्रम का उल्लेख पाया जाता है[४]। जब ६८ ई० के ग्रन्थ में **विक्रम** का नाम

---

१. 'ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः' 'इन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै' में चन्द्रमा तथा इन्दु शब्द चन्द्रगुप्त के द्योतक बतलाये गये हैं।

2. Macdonell's History of Sanskrit Literature, पृ. ३२५।

३. हाल का समय स्मिथ की राय में ६८ ईस्वी के आसपास है।

४. संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेन विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा। ५।६४।
संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम् (लक्षम्)।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः। (गाथा का संस्कृतानुवाद)।

पाया जाता है तब सौ वर्ष पहिले उसकी स्थिति मानने में किसी प्रकार की विप्रपत्ति नहीं प्रतीत होती। इनके 'शकारि' होने में भी कोई आपत्ति नहीं दीखती क्योंकि ईसा के १५० वर्ष पहिले आनेवाले शकों का हाल इतिहास में पाया जाता है, परन्तु उनके विनाशकर्ता के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। सम्भवतः यही विक्रम उनका संहारक हो। अतः ईसा के पूर्व विक्रम की सत्ता ऐतिहासिक ढङ्ग से प्रमाणित की जा सकती है। वह विक्रम पौराणिक गाथाओं का कल्पित नायक नहीं है, बल्कि सच्चे इतिहास का प्रभावशाली विजेता है। अतः इसी की सभा में कालिदास की स्थिति भारतीय विद्वानों के द्वारा बतलाई गई है[१]। कालिदास ने रघुवंश के छठे सर्ग में पाण्ड्य नरेश का वर्णन किया है और 'उरगपुर' को उसकी राजधानी बतलाया है[२]। 'उरियाउर' का ही 'उरगपुर' संस्कृत रूप जान पड़ता है। 'उरियाउर' पाण्ड्य देश के राजाओं की प्रथम शतक में राजधानी था। अतः कालिदास इसी समय में विद्यमान मालूम पड़ते हैं।

शकुन्तला में सूचित सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था से भी यही ज्ञात होता है कि कालिदास ऐसे समय में विद्यमान थे जब बौद्धधर्म का प्रभाव अत्यधिक था, तथा हिन्दुओं के देवताओं के

1. Nandargikar—Introduction to Raghuvansa. पृ० १९६-२०१

C. V. Vaidya—Date of Kalidasa, Annals of Bhandarkar Institute. vol II पृ० ६३-६८

२ अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं (रघु० ६।५९)

विषय में श्रद्धाविहीन विचार प्रचलित थे। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल की

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

नान्दी में भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन किया है। श्रीशारदारञ्जन राय का कहना है कि इस नान्दी में 'प्रत्यक्षाभिः' शब्द का प्रयोग कर कवि ने तत्कालीन देवता विषयक अविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया है। जिस शिव की अष्ट-मूर्तियों का हमें प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है—जिनका साक्षात्कार हमें अपनी आँखों से हो रहा है, उस देवता के विषय में अश्रद्धा कैसे टिक सकती है—अविश्वास कैसे रह सकता है। इसी प्रकार षष्ठ अंक में कालिदास ने कर्तव्य कर्म होने के कारण यज्ञ-यागादि का करना ब्राह्मण के लिये आवश्यक बतलाया है। बौद्धों ने हिंसापरक होने के कारण यज्ञों की भर पेट निन्दा की है। परन्तु शाकुन्तला में एक पात्र कहता है कि क्या यज्ञों में पशु मारनेवाले श्रोत्रिय का हृदय दयालु नहीं होता? कुल परम्परागत धर्म का परित्याग क्या कभी श्लाघनीय है? अतएव यज्ञों का अनुष्ठान सर्वदा श्रेयस्कर है; परन्तु उसके हिंसापरक होने पर भी याज्ञिक ब्राह्मणों का हृदय कोमल होता है—

1. S. Roy's Introduction to Sakuntala. पृ० ४

सहजे किल जे बिणिन्दिए णहि तक्कम्म विवज्जणिज्जए।
पशुमालणकम्मदालुणे अनुकम्पा मिदु एव्व शोत्तिए॥
[सहजं किल यत् विनिन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारण कर्मदारुण: अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥]

इस वर्णन से जान पड़ता है कि कवि ने बौद्ध धर्म के कारण यज्ञों के विषय में होनेवाली निन्दा या अश्रद्धा को दूर करने का उद्योग किया है। अतः कालिदास का जन्म उस समय में हुआ था, जब बौद्ध धर्म प्रति अश्रद्धा बढ़ती जाती थी तथा ब्राह्मण धर्म का अभ्युदय हो रहा था। यह समय ब्राह्मण वंशी सुंग नरेशों (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के कुछ ही पीछे होना चाहिये। अतः विक्रम संवत् के प्रथम शतक में कालिदास को मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

अश्वघोष विक्रम के अनन्तर प्रथम शतक में कनिष्क के दरबार में विद्यमान थे। बुद्ध-चरित महाकाव्य में इन्होंने कालिदास के बहुत से श्लोकों का अनुकरण किया है। अश्वघोष के द्वारा किये गये अनुकरण से भी यह बात पुष्ट होती है। रघुवंश के सातवें सर्ग में (५-१५ श्लोक तक) कालिदास ने स्वयंवर से लौटनेवाले अज को देखने के लिये आनेवाली उत्सुक स्त्रियों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। बुद्ध-चरित के तीसरे सर्ग में (१३-२४ पद्य तक) अश्वघोष ने ठीक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है, जब शुद्धोदन की शोभाशालिनी पुरी में प्रथम बार प्रवेश करनेवाले राजकुमार सिद्धार्थ को देखने के लिये सुन्दरी महिलाओं

का बड़ा जमघट लगा था। अश्वघोष तथा कालिदास के वर्णनों में आश्चर्यजनक समता है। कालिदास ने वे ही श्लोक कुमारसम्भव में भी रखे हैं। वस्तुस्थिति के विचार करने से यही जान पड़ता है कि अश्वघोष ने कालिदास के इस वर्णन का अनुकरण अपने महाकाव्य में किया है। इसलिये भी कालिदास को विक्रम संवत् के आरंभ में मानना चाहिये।

ग्रन्थ

कालिदास के नाम से बहुत सी रचनायें आजकल उपलब्ध हो रही हैं। उनमें से कुछ तो अनन्तर के साधारण कवियों की रचना जान पड़ती है। सम्भव है, कुछ रचनायें कालिदास नामधारी किसी अन्य कवि की हों; क्योंकि पण्डितों की परम्परा में अनेक कालिदास के होने की बात प्रसिद्ध है। दसवीं सदी के आरम्भ में राजशेखर को तीन कालिदासों का पता था—

एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

किस कालिदास के कौन कोन से ग्रन्थ हैं? इसका आजकल विवेचन करना एक प्रकार से असम्भव है परन्तु विक्रम की सभा को अलंकृत करनेवाले महाकवि कालिदास की रचनाओं का हम निर्देश भली भाँति कर सकते हैं। कालिदास के काव्य ग्रन्थ चार हैं—ऋतुसंहार, कुमारसंभव, मेघदूत, रघुवंश, और नाटक ग्रन्थ तीन हैं—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल (या केवल शाकुन्तल)

(१) ऋतुसंहार—इस काव्य में छहों ऋतुओं का वर्णन है। छ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ऋतु का वर्णन है। ग्रीष्म से आरम्भ कर वसन्त पर समाप्ति की गई है। वर्णन खूब मनोहर हैं। स्वाभाविकता की अच्छी मात्रा दीख पड़ती है। वर्णन अत्यन्त नैसर्गिक हैं। यह काव्य कालिदास की प्रथम रचना माना जाता है।

(२) कुमारसम्भव—महाकाव्य है। आजकल इसके १८ सर्ग उपलब्ध होते हैं परन्तु काव्यशैली की परीक्षा द्वारा ९ वें सर्ग से लेकर आगे का ग्रन्थ कालिदास की रचना नहीं प्रतीत होता। केवल आरम्भ के ८ सर्ग ही वास्तव में कालिदास के हैं। मल्लिनाथी सञ्जीवनी भी इन्हीं सर्गों पर है, आगे नहीं। संस्कृत के रीति-ग्रन्थों में भी इन्हीं सर्गों से श्लोक, उदाहरण के लिये उद्धृत किये गये हैं। इसके प्रथम सर्ग में हिमालय वर्णन तथा पार्वती जन्म, द्वितीय में ब्रह्मा की स्तुति तथा तारकासुर के मारने का उपाय, तृतीय में मदनदहन, चतुर्थ में रति विलाप, पञ्चम में पार्वती-तपश्चर्या, षष्ठ सप्तम में शिवपार्वती का विवाह तथा अष्टम में रति-वर्णन है। कुमारसम्भव साहित्य की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर है। कितने अंशों में यह रघुवंश से भी बढ़कर है। इस काव्य में कालिदास की आध्यात्मिक विचारधारा छिपी मिलती है। शिव के द्वारा काम का दहन करना तथा पार्वती की तपश्चर्या के अनन्तर शिव द्वारा उन्हें स्वीकृत करने की घटना जिस आध्यात्मिक तत्त्व की ओर संकेत कर रही है, वास्तव में वह कितना सच्चा है—

कितना गूढ़ है। कामवासनाओं को बिना जलाये—ज्ञानाग्नि में बिना भस्म किये—क्या सच्चे स्नेह की उपलब्धि हो सकती है? बिना तपस्या के क्या कभी स्नेह परिनिष्ठित हो सकता है? काम और प्रेम का पार्थक्य खूब ही उत्तमता से दिखाया गया है। कुमार-सम्भव खूब रहस्यमय है।

(३) मेघदूत—खण्ड काव्य है। धनपति के कोप से निर्वासित किसी अलकानिवासी यक्ष ने अपनी प्राण-वल्लभा के पास मेघ को दूत बनाकर सन्देश भेजा है। पूर्वमेघ में रास्ते का वर्णन है और उत्तर में अलका का। अनन्तर सन्देश कथन है। बड़ी ही रमणीय कविता है। इसके आदर्श पर अनेक दूतकाव्य या सन्देश-काव्य रचे गये। पूरा काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में है। वाह्य प्रकृति के दृश्यों का मनोरम वर्णन तथा मनुष्य हृदय के कोमल भावों का सूक्ष्म पर्यालोचन खूब है।

(४) रघुवंश—कालिदास के काव्य ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध महाकाव्य है। इसमें १९ सर्ग हैं। रघु के वंश का वर्णन है, परन्तु यह पूरा नहीं कहा जा सकता। पहले सर्ग में दिलीप का वर्णन तथा वशिष्ठ के आश्रम में पुत्रप्राप्ति के लिये जाना, दूसरे में नन्दिनी-वरदान, तृतीय में रघु का जन्म तथा पराक्रम वर्णन, चतुर्थ में रघु-दिग्विजय, पंचम में कौत्स की गुरुदक्षिणा का हाल, षष्ठ में इन्दुमती स्वयम्वर, सप्तम में इन्दुमती के लिये राजाओं के साथ महाराज अज का युद्ध, अष्टम में इन्दुमती के केवल पुष्पमाला के स्पर्श से मर जाने पर अज का करुण विलाप; नवम में दशरथ का आखेट, दस से

लेकर चतुर्दशसर्ग तक पाँच सर्गों में रामचरित्र, अनन्तर बहुत ही संक्षेप में कुश से लेकर अग्निमित्र तक बहुत से राजाओं का वर्णन है। अन्तिम १९ वें सर्ग में कामुक अग्निमित्र की शृंगार लीलायें बड़े विस्तार से वर्णित हैं। रघुवंश की आलोचना क्या की जाय? यह तो संस्कृत साहित्य का अनमोल रत्न है। आदर्शों की सृष्टि जैसी रघुवंश में है, वैसी अन्यत्र नहीं मिल सकती।

(५) **मालविकाग्निमित्र**—इस नाटक में सुंगवंशी राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रेम कहानी निबद्ध की गई है। इसमें राजा की पत्नियों में आपस की डाह, राजा की कामपरायणता, प्रधान महिषी धारिणी की धीरता तथा चतुरता आदि विषय अच्छी तरह दिखलाये गये हैं।

(६) **विक्रमोर्वशीय**—रूपक में पुरुरवा और उर्वशी की प्रेमलीला वर्णित है। पुरुरवा के विरह का अच्छा दृश्य दिखाया गया है। कविता भी ऊंचे दर्जे की है। पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान ऋग्वेद में संवाद के द्वारा बर्णित है, ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वह विस्तृत रूप से लिखा गया है। कालिदास ने इसी प्राचीन आख्यान को एक रमणीय रूपक का रूप दे डाला है। भला भारत के राष्ट्रीय कवि ऐसा क्यों न करते? "कवि ने प्रणय तथा प्रणयोन्माद को ही प्रधान प्रतिपाद्य समझा है। × × × धर्मभाव-शून्य प्रणय के द्वारा, प्रणय रूपी पाशबंधन के द्वारा, प्रणयी का भी अमङ्गल साधन होता है। ऐसे प्रणय में पड़ने से जितना अमङ्गल होता है, धर्मभावमय प्रणय में पड़ने से उतना ही, किंबहुना उससे

भी अधिक, मङ्गल होता है। कवि ने इस तत्त्व का उद्घाटन मालविका तथा विक्रमोर्वशीय में नहीं किया।"

(७) **शाकुन्तल अथवा अभिज्ञानशाकुन्तल**—यह कालिदास का सब से प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने इसे नाटक-साहित्य में सब से श्रेष्ठ बतलाया है—"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।" पश्चिमी विद्वानों ने भी इसे अत्युत्तम नाटक माना है। इस नाटक में सात अंक हैं। पहले अंक में हस्तिनापुर का राजा दुष्यंत आखेट करने के लिये वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्मकथा सुन उसके हृदय में शकुन्तला के लिये अनुराग उत्पन्न होता है। द्वितीय अंक में ऋषियों की प्रार्थना पर आश्रम की रक्षा करने के लिये वह स्वयं वहीं रह जाता है। तृतीय अंक में राजा और शकुन्तला का समागम है। चतुर्थ अंक में कण्व तीर्थयात्रा से लौटकर आश्रम में आते हैं और शकुन्तला को आपन्नसत्त्वा जान गौतमी तथा शारद्वत और शार्ङ्गरव नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं। शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है। यह चतुर्थ अंक शकुन्तला में सबसे अच्छा समझा जाता है—'तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः'। पञ्चम अंक में शकुन्तला हस्तिनापुर पहुँचती है परन्तु दुर्वासा के अभिशाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं। इस प्रत्याख्यान के बाद ऋषियों के चले जाने पर शकुन्तला को कोई दिव्य ज्योति आकाश में उड़ा ले जाती है और मरीचि के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के

साथ निवास करती है। षष्ठ अंक में राजा की नामाङ्कित अंगूठी मछुए के पास से राजा को मिलती है। उसे देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है; वह अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यान से अत्यन्त विह्वल हो उठता है। अन्त में इन्द्र की सहायता करने के लिये स्वर्ग लोक में जाता है। सप्तम अंक में दुष्यन्त विजय प्राप्त कर स्वर्ग से लौटता है और मरीचि-आश्रम में अपने पुत्र तथा प्रियतमा का साक्षात्कार करता है। इसी मिलन तथा मरीचि के आशिर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

शकुन्तला कालिदास की अनुपम कृति है। यह आरम्भ से अन्त तक नाट्यकला का प्रशंसनीय निदर्शन है। साहित्य की दृष्टि से यह तो श्रेष्ठ है ही, साथ ही साथ इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी संकेत किया गया है। चौथे अंक में 'अयमहं भोः' (मैं यह आया) इस प्रकार द्वार पर ऊँची पुकार लगानेवाले, पवित्र तपोजीवन के लिए आह्वान करनेवाले, दुर्वासारूपी अरण्य-वास सादा जीवन विलास रहित आचरण तथा तपश्चर्या के मार्ग का तिरस्कार करनेवाली और छिपे चोर की तरह वृक्षों की ओट से प्रवेश करनेवाले दुष्यन्तरूपी विलासिता के जीवन को स्वीकार करनेवाली, शकुन्तलारूपी भारतभूमि की शोचनीय दशा देखकर किसके हृदय में सहानुभूति की सरिता नहीं उमड़ पड़ती। तपोमार्ग के अवलम्बन करनेसे असीम शान्ति तथा नित्य अक्षय्य सुखकी प्राप्ति देखकर कौन मनुष्य तपोमय जीवन बिताने के लिए शिक्षा नहीं ग्रहण

करता। शकुन्तला की दुर्दशा को दिखला कर क्या कालिदास ने गान्धर्व बिवाह की प्रथा को दूषित नहीं बतलाया है ? शकुन्तला तथा दुष्यन्त का चरित्र-चित्रण कालिदास ने जिस खूबी के साथ किया है, वह भी अवलोकनीय है। चतुर्थ अंक में कालिदास का प्रकृति प्रेम तथा प्रकृतिदेवी की सजीव मूर्ति का दर्शन किसे रसमय नहीं बनाता। प्रथम अङ्क में आश्रम का कैसा सच्चा वर्णन किया गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने दिखलाया है कि अनुसूया प्रियंवदा जैसे सजीव पात्रों की तरह तपोवन का अस्तित्व भी ठीक सजीव है। तपोवन के न रहने पर शकुन्तला कुछ और ही होती। तपोवन का प्रभाव शकुन्तला के चरित्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। सच्चा प्रेम पाने का कितना सुन्दर साधन बतलाया गया है। कठिन तपस्या के पहले सच्चा प्रणय पैदा नहीं हो सकता, वह तो केवल कामवासना है। जब तक काम तपस्या के कठोरानल में—वियोग की कराल आग में—दग्ध होकर शुद्ध नहीं बनता, तब तक सच्चा स्नेह उद्भूत ही नहीं होता। दुष्यन्त-शकुन्तला का प्राथमिक प्रेम केवल काम के ढाल में ढला था, उसमें स्वार्थ के जहरीले कीट पैदा हो गये थे। प्रत्याख्यान किये जाने पर शकुन्तला शान्त मन से मरीचि के आश्रम में तपस्या में अनुरक्त होती है और दुष्यन्त स्वयं पश्चात्ताप तथा वियोग की भीषण वड़वाग्नि में अपने को तप्त कर शुद्ध करता है। तब कहीं जाकर सच्चे स्नेह की प्रतिमा उनके सामने झलकती है। अतएव जर्मन महाकवि गेटे की यह प्रशस्त प्रशंसा कितनी औचित्यपूर्ण है—

Wouldst thou the life's young blossoms and
fruits of its decline,
And by which the soul is pleased, enraptured,
feasted, fed—
Wouldst thou the earth and heaven
itself in one sweet name combine ?
I name thee; O Shakuntala, and all at once
is said.

कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'प्राचीन साहित्य' में शेक्सपिअर के टेम्पेस्ट नाटक तथा कालिदास के शकुन्तला का विषय-तारतम्य क्या ही सुन्दर दिखलाया है:—"टेम्पेस्ट में शक्ति है, शाकुन्तल में शक्ति है; टेम्पेस्ट में बल के द्वारा जय हुई है और शाकुन्तल में मंगल के द्वारा सिद्धि। टेम्पेस्ट में आधे मार्ग पर विराम हो गया है और शाकुन्तल में सम्पूर्णता का अवसान है। टेम्पेस्ट में मिरांडा सरल माधुर्य से परिपूर्ण है, परन्तु इस सरलता की नीव अज्ञता-अनभिज्ञता-पर अवलम्बित है; शकुन्तला की सरलता अपराध, दुःख, अभिज्ञता, धैर्य्य तथा क्षमा से परिपक्व, गम्भीर तथा स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुसरण कर मैं फिर भी यही कहता हूँ कि शकुन्तला के आरम्भ के तरुणसौन्दर्य ने मङ्गलमय परम परिणति से सफलता प्राप्त कर मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित करा दिया है।"

डी० एल० राय ने, जिनकी समालोचना शकुन्तला नाटक के बहिरङ्ग भागों पर ही है गूढ़ आध्यात्मिक भावों पर नहीं, शाकु-

न्तला की प्रशंसा इन शब्दों में की ❀ है: – "विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग क्रीडा में, भाषा के गाम्भीर्य में तथा हृदय के माहात्म्य में उत्तररामचरित श्रेष्ठ है और घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानवचरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता तथा लालित्य में अभिज्ञानशाकुन्तल श्रेष्ठ है।"

श्रुतबोध, नलोदय आदि ग्रन्थ भी कालिदास के कहे जाते हैं परन्तु न तो उनमें वैसी कविता है, न कालिदास के द्वारा रचित होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण ही है। प्रसिद्ध कालिदास के अनन्तर कितने कवियों ने अपना नाम कालिदास रखा। उन्हीं में से यह किसी की रचना हो सकती है।

कविता

कविगुरु कालिदास की कविता-कामिनी की कमनीय कान्ति किस सहृदय के हृदय को नहीं लुभाती। प्रसाद की अगाधता, माधुर्य का मधुर निवेश, पदों को कोमलकान्त अवली, भाव का सौष्ठव, उपमा को विमलता तथा अपूर्वता, अलङ्कारों की रमणीयता—सबने कालिदास की कविता को विश्वविख्यात बना डाला है। जिस पहलू से देखिये उससे ही कविता की कमनीयता प्रकट होती है, सुन्दर भावों का साम्राज्य मन को मुग्ध कर डालता है। कालिदास की उपमा संस्कृत साहित्य में अनुपम, अनूठी और चमत्कारिणी हैं। कालिदास का सृष्टि-नैपुण्य अद्वितीय है। रघुवंश

❀ कालिदास और भवभूति पृष्ठ २०७

की तरह आदर्श सृष्टि कहीं अन्यत्र नेत्रगोचर नहीं होती। मधुर पाक का नमूना इनकी ही कविता है। इनकी कविता के माधुर्य के सामने सस्कृत के अन्य कविवरों की कविता के मिठास की तुलना नहीं हो सकती। मानव हृदय के सूक्ष्म भावों का जैसा आपने निरीक्षण किया है वैसा निरीक्षक कवि शायद कहीं मिलेगा। प्रकृति के गूढ रहस्यों का उद्घाटन जैसा कालिदास ने किया है, प्रकृति के साथ अपूर्व सहानुभूति जैसी इनकी कविता में प्रकट की गई है, प्रकृति के अनुपम दृश्यों का सच्चा चित्र जैसा इनके काव्य में चित्रित है, वैसा संस्कृत-साहित्य में बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। संक्षेप में कालिदास सतत परिवर्तन-शील अन्तर्जगत् के जैसे सूक्ष्म पारखी थे, वैसेही बाह्यजगत् के विशद पर्यवलोकन में उनकी प्रतिभा का प्रकर्ष सर्वत्र प्रतीत होता है।

कालिदास की असाधारण विश्वव्यापिनी प्रतिभा जैसे महा-काव्यों में विचित्र वर्णन करने —अलौकिक रससन्दोह अभिव्यक्त करने तथा विश्व में आदर्शभूत सृष्टि करने—में निपुण थी; जैसे वह गीतिकाव्य में सूक्ष्म विकारों के वर्णन में समर्थ थी, वैसेही वह नाटकों में पात्रों के अनुरूप चरित्रचित्रण करने में भी अद्वितीय थी। कालिदास ने शकुन्तला नाटक में दुष्यन्त और शकुन्तला का सर्वतोव्यापी सजीव चित्र खींचा है। शकुन्तला के प्रत्येक मानवगुण अत्यन्त अभिवृद्ध हैं। दुष्यन्त के प्रत्येक राजकीय अथवा साधारण मानवीय भावों की पूरी झलक हमारी आँखों को चकाचौंध बना डालती है। शकुन्तला का हास्योत्पादक विदू-

षक भी संस्कृत साहित्य में अनूठा है। तात्पर्य यह है कि चरित्र चित्रण में कालिदास की प्रतिभा सर्वातिशायिनी है।

कालिदास को सर्वश्रेष्ठ महाकवि कहना पुनरुक्ति मात्र है। भारतीय महाकवियों ने अदब के साथ इन्हें सिर झुकाया है—प्रशस्त प्रशंसा की है—एक स्वर से इन्हें कवि-कुल-शिरोमणि स्वीकार किया है। महाकवि **बाणभट्ट ने**, जिसके विषय में 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' लोकोक्ति प्रसिद्ध है, कालिदास के विषय में क्या ही उपयुक्त लिखा है:—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते।

आशय है कि रस से भरी मधुरिमा में पगी हुई कालिदास की सूक्ति में मञ्जरी की तरह किसे आनन्द नहीं आता।

गोवर्धनाचार्य ने, जिनको विश्वविदित गीति-काव्य के रचयिता जयदेव ने शृङ्गारमयी कविता में अद्वितीय बतलाया है, कालिदासीय कविता की क्या ही सुन्दर प्रशंसा की है:-

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीलाकालिदासोक्ती॥

तात्पर्य है कि कालिदास की सूक्ति साभिप्राय, मधुर तथा कोमल विलासिनी के कण्ठस्वर की तरह है; पाठकों को शिक्षा-प्रदान करते समय भी यह आनन्द सागर में निमग्न कर देती है। यह समालोचना वास्तव में सत्यता से भरी है। कालिदास की

कविता की मधुरता, कोमलता, साभिप्रायता वास्तव में संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है।

कालिदास की अद्वितीयता के विषय में किसी आलोचक की क्या ही मार्मिक उक्ति है:—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा:।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।

किसी प्राचीन काल में कवियों की गणना आरंभ हुई तो सबसे पहिला स्थान कालिदास को दिया गया। कालिदास का नाम कनगुरिया पर रखा गया। अनन्तर यह विचार होने लगा कि द्वितीय स्थान किसे दिया जाय, परन्तु वैसे कवि के न होने से दूसरी अंगुली पर किसी का नाम पड़ा ही नहीं। अतएव कनगुरिया के समीप की अंगुली का नाम 'अनामिका' नाम वास्तव में सार्थक हुआ, क्योंकि उसपर किसी का नाम पड़ ही न सका—वह बिना नाम की ही रह गयी। कालिदास की सर्व-श्रेष्ठता कैसी युक्ति से प्रदर्शित की गई है।

उपमा की छटा

कालिदास उपमा के आचार्य हैं, यह कहना कुछ भी अत्युक्ति पूर्ण नहीं। प्रत्येक संस्कृतज्ञ 'उपमा कालिदासस्य' से अवश्य ही परिचित है। आपकी उपमाओं में ऐसी विचित्रता है जो और स्थानों पर अप्राप्य है। उपमा के जो प्रधान गुण—विषय को उज्वल करना, काव्य सौन्दर्य को बढ़ाना—आदि हैं, उनका पूर्ण विकाश इनकी अतुलनीय उपमाओं में हैं। आपकी उपमायें एक से एक

बढ़कर नवीन कल्पनामयी हैं, जूठी उपमाओं को तो आपने शायद ही प्रयोग किया हो। सब आपकी निज कल्पनाप्रसूत हैं। प्रायः ये उपमायें बहिर्जगत् तथा अन्तर्जगत् दोनों के पदार्थों से ली गई हैं। अतः इनका चमत्कार विशेष बढ़ गया है। उपमायें बिल्कुल नपी तुली हैं—इनका प्रयोग करते समय उपमान तथा उपमेय के वचन तथा लिंग तक का भी ख्याल रखा गया है। निम्नलिखित पद्यों में पाठक मेरे इन कथनों का प्रमाण तथा उदाहरण पावेंगे।

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

इन्दुमती स्वयंवर में उपस्थित भूपालमण्डली में अपने अनुरूप वर चुन रही है। उस स्वयंवर में बहुत से राजा आये थे, परन्तु उसने किसी को पसंद नहीं किया। वह सब राजाओं को छोड़कर आगे ही बढ़ती जाती थी। जिस जिस राजा को वह छोड़ती जाती थी उस के चेहरे पर ऐसी ही कालिमा (उदासीनता) छा जाती थी जैसी उस राजमार्ग के महलों पर होती है जिसे दीपशिखा रात में छोड़ती जाती है। इस पद्य में दीपशिखा की उपमा भारतीय कवियों को इतनी अच्छी लगी कि उन्होंने कालिदास का नाम 'दीपशिखा-कालिदास' रख दिया है। वास्तव में श्लोक की उपमा अतीव रमणीय तथा अनुरूप है। देखिये इन्दुमती की उपमा स्त्रीलिंग 'दीपशिखा' से दी गई है तथा राजा की समता पुल्लिंग 'अट्ट' से। लिंग की समता के साथ साथ वचन का साम्य भी उपयुक्त तथा दर्शनीय है। इन बाह्य-साहश्यों के अति-

रिक्त भीतरी समता तो और भी अनुरूपता से भरी है। युवती इन्दुमती के शरीर की कान्ति काञ्चनमयी है और उसका प्रकाश इतना चमकीला है कि चमकती दीपक की शिखा के तुल्य स्वयं परिस्फुट होता हुआ राजवृन्द को ही प्रकाशित कर रहा है। उपस्थित नृप भी साधारण राजा न थे, बल्कि बड़े बड़े महलों की तरह उनकी महत्ता तथा उच्चता सर्वत्र प्रसिद्ध थी। जिस प्रकार दीपक के सामने होने पर ऊँचे ऊँचे मकान चमकीले तथा सुहावने जान पड़ते हैं, उसी प्रकार इन्दुमती के अग्रसर होने पर उसकी प्राप्ति की इच्छा से राजा लोग अत्यन्त प्रमुदित होते थे। उनका अन्तःकरण भविष्य सुख की आशा से आनन्दसागर में दोलायित होने लगता था। परन्तु दीपक के आगे बढ़ जाने पर जिस तरह मकानों पर केवल कालिमा छा जाती है—वे अन्धकार से अभिभूत हो जाते हैं, उसी प्रकार इन्दुमती के आगे चले जाने पर राजा लोग उदासीन तथा मलिनमुख हो जाते थे।

किमित्यपास्ताभरणानि यौवने
धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका
विभावरी यद्यरुणाय कल्पते।

शिवजी को पाने के लिये जब पार्वती कठिन तपस्या कर रही थी, तब उसके प्रेम की परीक्षा करने के लिये वे स्वयं ब्रह्मचारी के रूप में उसके पास आये और पार्वती को वैसी दशा में देखकर कहने लगे "भला यह तुम्हारा कैसा हाल है। यह तुम्हारा यौवन-

काल है। इसमें सुन्दर आभूषण तुम्हें धारण करना चाहिये; परन्तु तुमने उन्हें छोड़कर इस वल्कल को पहना है। यह तो वृद्धावस्था में अच्छा लगता है। कहो तो सही, प्रदोषकाल में चन्द्रमा तथा प्रकाशमान नक्षत्रों को धारण करनेवाली रात्रि के समय क्या अरुण का उदय होना उपयुक्त होगा। चन्द्रमा तथा ताराओं से आभूषणों की समता उनकी कमनीयता को द्योतिका है तथा अरुण का सादृश्य बल्कल के लाल रंग को सूचित कर रहा है। रंगों की समता दर्शनीय है।

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां
वासो वसाना तरुणार्करागम्
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥

यह तब का वर्णन है जब पार्वती शिवजी की पूजा करने जा रही है। उसने बाल सूर्य के आतपसदृश लाल लाल वस्त्रों को पहना है। स्तनों के भार से वह कुछ झुक सी गई है। इसलिये जान पड़ता है कि फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लाल-लाल नये पल्लवों को धारण करनेवाली कोई लता आ रही हो।

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन, प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या।

वशिष्ठ की लाल गाय को चराकर राजा दिलीप जंगल से लौटे आ रहे हैं। रानी बाट जोहती हुई उनका स्वागत करने के लिये आगे खड़ी है। रास्ते में लाल गाय राजा के आगे चली जा रही है

उधर सुदक्षिणा उसके आगे खड़ी है। इन दोनों के बीच में गाय की वैसी ही शोभा ही रही है, जैसी दिन तथा रात के मध्यमें होनेवाली रक्तवर्णा सन्ध्या की होती है। उपमा की उपयुक्तता दर्शनीय है। सन्ध्या काल का यह अनुपम दृश्य कितना मनोमोहक हैं।

> अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
> रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
> अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
> न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।

[राजा दुष्यन्त विदूषक से शकुन्तला के अकृत्रिम सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है। वह कहता है—इस शकुन्तला का पवित्र, स्वभाव-सुन्दर रूप बिना सूँघे हुये फूल की तरह है; वह उस नवीन पल्लव के समान है जो नखों से छिन्न नहीं किया गया है; उस रत्न के तुल्य है जो कीटों के द्वारा विद्ध (छेदा) नहीं हुआ है; उस नवीन मधु के मानिन्द है जिसका रस अभी चखा नहीं गया; उस पुण्य फल के समान है जो अभी तक सम्पूर्ण है—भोग करने से घटा नहीं है। न मालूम ब्रह्मा किसे इस रूप का भोक्ता बनावेंगे। यह उपमाओं की अवली कालिदास के ही योग्य है; कैसे स्वभाव-रमणीय प्राकृतिक वस्तुओं से उपमा दी गई है! इन उपमाओं में सौन्दर्य का उत्कर्ष भी क्रम से बढ़ता जाता है। रूप की उपमा पुण्य फल से देते समय कवि अन्तर्जगत् की घटना को बहिर्जगत से मिला रहा है। इन उपमाओं को प्रयोग करने में कवि ने कमाल किया है।

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यःकृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य ।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥

यक्ष मेघ से कह रहा है कि कैलास पर्वत तुरन्त काटे गये हाथी दाँत के टुकड़े की तरह बिल्कुल सफेद है; और तुम चिकने मले हुये अंजन के समान काले रंगवाले हो। जब तुम उसके किनारे खड़े होगे तो उस पर्वत की शोभा निश्चल नेत्रों से देखने योग्य होगी। उसकी शोभा वैसी ही होगी जैसी कन्धे पर नील वसन रखे हुये शुभ्र शरीरवाले बलरामजी की होती है। यदि कालिदास नीर-पूरित मेघ को केवल रूखे अंजन के समान बतलाते तो यह सादृश्य अतीव नीरस होता। अतएव जल से परिपूर्ण मेघ की अनुरूपता की सिद्धि के लिये अंजन भी चिकना तथा खूब बारीक मला हुआ बतलाया गया है। कैलास की कमनीय शुभ्रता का अन्दाज़ा इसीसे किया जा सकता है कि वह हाथी के तुरन्त काटे गये अतएव ताज़े दन्त-खण्ड के सदृश वर्णित है।

कालिदास ने कहीं २ गूढ़ दार्शनिक विचारों को स्पष्टतया वर्णित किया है। इन पद्यों में विचित्र रमणीयता है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांँश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥

सुन्दर वस्तुओं को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर सुखी मनुष्य भी उत्कण्ठित हो जाता है। परन्तु उसे उत्कंठा क्यों हो जाती है ? उसे किसी तरह की कमी नहीं है। फिर उदासी होने का कारण क्या ? बात यह है, कि वह अपने चित्त से किसी पूर्व जन्म में होनेवाली मैत्री को सोचने लगता है। यद्यपि वह मित्रता इस समय स्वयं विद्यमान नहीं है, परन्तु उसका संस्कार हृदयपट पर ऐसा अंकित हो गया है कि बिना किसी प्रयत्न के ही वह स्मृति-पथ पर आ जाती है। मनुष्य को उसका पता तक नहीं लगता परन्तु मन अकस्मात, बिना किसी कारण के, उस सौहार्द की ओर चला जाता है ! इस अटल सत्य का अनुभव पाठकों को भी हुआ होगा। इस दार्शनिक तत्त्व को कालिदास ने कितने मधुर शब्दों में अभिव्यक्त किया है। 'मनोऽपि जन्मान्तर-संङ्गितज्ञम्' कहकर कालिदास ने इसी सिद्धान्त के स्वरूप को पुनः प्रतिपादित किया हैं।

आदर्श-सृष्टि

कविता के उद्देश्य के विषय में समालोचकों ने भिन्न भिन्न सम्मतियाँ दी हैं। स्विनवर्न आदि अंग्रेजी के कवियों की राय में कला का मूल्य कलाही है (Art for art sake)। ललित कला का प्रयोजन आनन्द सागर में पाठकों को केवल डुबा देना है। परन्तु मैथ्यू आर्नोल्ड, रस्किन आदि सुयोग्य समालोचक कविता का उद्देश नैतिक बतलाते हैं। उनकी राय में कविता का उद्देश्य ऐसे नैतिक आदर्शों की सृष्टि करना है जिसे देखकर हम अपने वर्तमान

जीवन को सुधार सकें। अतः कविता जीवन की आलोचना है 'Poetry is at bottom the criticism of life.' इस मुख्य उद्देश के साथ-साथ आनन्द देना भी कविता का उद्देश्य है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' (अर्थात् कविता कान्ता के कोमल उपदेशों के समान उपदेश देती है) लिख-कर दोनों मतों का समन्वय सा कर दिया है।

कालिदास इस नैतिक आदर्श की सृष्टि करने में किसीसे पीछे नहीं हैं। रघुवंश में इन आदर्शों का सम्मेलन खूब दिखाया है। इसके प्रत्येक पात्र हमारे लिये कुछ न कुछ उपदेश अवश्य देते हैं। कालिदास के सब काव्यों में रघुवंश सर्वश्रेष्ठ है अथवा रघुवंश संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसका कारण यही आदर्श-सृष्टि है। लोकोपयोगिनी बातों से रघुवंश साद्यन्त पूर्ण है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरु-वाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी पयस्विनी की परिचर्या, भिक्षार्थी अतिथि की इष्ट-पूर्ति के लिये धरिणी-पति राजा की व्याकुलता, लोकरंजन तथा राजसिंहासन निष्कलंक रखने के लिये नृपति के द्वारा अपनी प्राणोपमा पत्नी का निर्वासन रूपी आत्म-त्याग आदि अनेक लोक-हितकर विषय रघुवंश में वर्णित हैं। पाठक! कुछ आदर्शों के नमूने आपके सामने अनुकरण के लिये रखे जाते हैं।

राम ने सीता विषयक प्रवाद सुन लिया है। भाइयों के सतत विरोध करने पर भी राम प्रजारंजन व्रत के लिये निरपराधिनी सीता का त्याग करने के लिये उद्यत हैं। आज्ञाकारी लक्ष्मण के द्वारा

घोर बीहड़ जंगल में सीता छोड़ दी जाती है। सीता को जब अपने त्याग का वृत्तान्त ज्ञात होता है, वह मूर्च्छित हो जाती है; परन्तु फिर भी जो प्रशंसनीय सन्देश वह अपने पतिदेव के पास भेजती है, उसे देखिये। इस सन्देश में करुण रस की पराकाष्ठा है। सीता के सतीत्व का पूरा परिचय मिलता है। ऐसी पवित्रता तथा मधुरता से सनी हुई वाणी कम सुनने में आती है। पढ़िये, क्या ही फड़कती हुई वक्तृता है! गूढ़ व्यंजना की चिनगारियों के साथ-साथ सतीत्व के प्रताप को प्रत्यक्ष देखिये:—

आदर्श-सती

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ?

सीता लक्ष्मण से कह रही है, कि राम से मेरा वचन कहना! रावण-वध के अनन्तर सब देवता, बानर तथा राक्षसों के सामने अग्निदेव ने मुझे शुद्ध किया। ऐसी पवित्र नारी को जो आपने लोक प्रवाद सुनकर निकाल दिया है क्या यह आचरण आप के पवित्र सूर्य-कुल के सदृश है? क्या यह कामचारी होना आप के कुल के योग्य है? पतिव्रता अभिमानिनी नारी की कैसी मर्म-भेदिनी डाँट है। सीता का आत्माभिमान कितने सुन्दर शब्दों में झलक रहा है।

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥

अथवा आप तो बुद्धिमान हैं; आपने सोचकर ही यह काम

किया होगा। अतः यह त्याग आप ने अपनी इच्छा से नहीं किया है बल्कि यह वज्रपात मेरे जन्मान्तरों में किये गये पापों का फल है। मेरा ही दोष है, आप का नहीं। भारतीय ललना अपने भाग्य पर दोषों के मढ़ने के सिवाय क्या कभी देवकल्प पति पर दोषारोपण कर सकती है।

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हृतजीवितेऽस्मिन्
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः।

अथवा इस जीवन में मुझे कुछ भी प्रेम नहीं है, क्योंकि मुझे आप से फिर मिलने को आशा कुछ भी नहीं है। अतः इस जीवन में लापरवाही करने के लिये मैं तैयार थी, परन्तु मेरे गर्भ में स्थित तुम्हारा तेज इस कार्य में बाधा पहुँचा रहा है।

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।

अतएव लड़के के उत्पन्न होने के समय तक मैं सूर्य में दृष्टि लगाकर तपस्या करूँगी। इस तपस्या का फल यही होगा कि फिर भी,दूसरे जन्म में आप ही मेरे पति हों। परन्तु मुझे कभी आप से वियोग न होवे। बुरे कर्मों के कारण इस जन्म में तो मुझे विरह-वेदना सहनी पड़ी; परन्तु अगले जन्म में जिस तपोबल से वियोग न होवे ऐसी तपस्या करूँगी। सीता का पातिव्रत-धर्म कितने ऊँचे दर्जे का है! पति से परित्यक्ता सीता उसी पतिदेव के लिये कठिन तपस्या में अपना जन्म बिताकर अदृष्ट के लिये प्रायश्चित कर रही है।

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ।

मनु ने राजा का यही श्रेष्ठ धर्म बतलाया है कि वह चारों वर्णों तथा आश्रमों की यथोचित रक्षा करे। आप ने मुझे निकाल दिया है सही, परन्तु एक साधारण तपस्विनी की हैसियत से आप मेरा ख़याल कीजियेगा। मुझ में स्त्रीभाव न रखिये, परन्तु तपस्विनी होने के कारण मेरी रक्षा करना आप का परम धर्म है। कितने मधुर तथा गंभीर शब्दों में रक्षा की प्रार्थना की गई है।

पाठकों ने देख लिया कि इस वक्तृता से सीता का उच्च चरित्र कितना परिस्फुरित दिखाई पड़ता है। उसमें आत्माभिमान की मात्रा कितनी अधिक है। पति के सिर पर त्याग का दोष न मढ़ कर वह उसे अपने पापों का परिणाम समझ रही है। सतीत्व का ऐसा आदर्श शायद ही किसी साहित्य में मिलेगा। भारतीय महिलाओं को सदा इस आदर्श को सामने रखना चाहिये। सती सीता का यह पवित्र चरित्र प्रत्येक आर्य के हृदय पर चोट करता है।

आदर्श राजा

राजा के आदर्श को कालिदास ने स्थान स्थान पर दिखलाया है। देखिये आदर्श राजा कौन है? इसका उत्तर कालिदास कितना अच्छा देते हैं:—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णां
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥—शकुन्तला

वैतालिक राजा से कह रहा है:—हे राजन्! तुम्हारी वृत्ति इसी तरह की है कि तुम अपने सुख की अभिलाषा कभी नहीं करते और हमेशा संसार के लिये दुःख सहते हो। प्रजा के समुचित सुख देने में अपने सुख का ज़रा भी ख़याल नहीं करते। तुम्हारे चरित्र की उपमा केवल उपकारी वृक्ष से दी जा सकती है। वृक्ष अपने सिर पर घाम सहता है परन्तु अपनी छाया से नीचे आये हुये जनों की तकलीफ़ दूर करता है। वृक्ष घाम अपने ऊपर लेता है परन्तु दूसरों को शान्ति पहुँचाता है। आदर्श राजा का भी यही सच्चा व्यवहार है।

> नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः
> प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
> अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
> त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्॥

हे राजन! अपने दण्ड की सहायता से बुरे मार्ग पर चलने वाले को तुम दंड देते हो। प्रजा के झगड़ों को शान्त करते हो। लोक की रक्षा करने में समर्थ हो। अधिक धन रहने पर तो सभी मनुष्यों के मित्र होते हैं परन्तु बन्धु के सम्पूर्ण कामों का भार तुम्हारे ही ऊपर है। दुःख तथा सुख में तुम ही प्रजा के सच्चे बन्धु हो। क्या इससे बढ़कर राजा के लिये कोई उपदेश हो सकता है? यदि भारत के विदेशी शासक इन उपदेशों का पालन करे तो भारत का राजनीतिक-आकाश आन्दोलन-मेघों से बिल्कुल निर्मल हो जायगा।

राजा अज के व्यवहार पर ज़रा दृष्टि डालिये:—

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥

—रघु

वह राजा न तो अत्यन्त कड़ा व्यवहार करता था, न अत्यन्त नम्र ही। यदि राजा अत्यन्त कड़ा हो जांय तो लोग उससे उद्विग्न होकर उसके विरुद्ध आन्दोलन करने लगते हैं और यदि वह अत्यन्त कोमल हो जाता है तो प्रजा उसके अपमान करने से भी नहीं चूकती। यह समझकर राजा ने मध्यम-मार्ग का अवलम्बन कर राजाओं को बिना उखाड़े ही नवा दिया। वायु भी ऐसा ही करती है। वेग को रोकने वाले वृक्षों को वह उखाड़ नहीं देती बल्कि केवल उन्हें नवा देती है—वश में कर लेती है। राजाओं के लिये कितना सुन्दर उपदेश है।

राजा की कर-प्रणाली (Taxation) का उद्देश क्या होना चाहिये?

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥

—रघु

राजा दिलीप अपनी प्रजा के कल्याण के लिये ही उनसे कर लिया करते थे। सूर्य पृथ्वी से जल (किरणों द्वारा) लेता है परन्तु, उससे हजारों गुना अधिक जल दे देता है। राजा भी थोड़ा कर लेता है परन्तु उससे ही प्रजा के अनेक लाभकारी कार्य कर देता है।

ऐसे सुयोग्य राजा की प्रजा की दशा देखिये:—

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ।

—रघु

प्रत्येक मनुष्य यही सोचता था कि सब प्रजा में राजा मुझ पर ही अधिक प्रेम करता है। जिस प्रकार समुद्र हजारों नदियों में से किसी भी नदी का तिरस्कार नहीं करता, उसी प्रकार राजा ने किसीका तिरस्कार नहीं किया। धन्य हैं ऐसे राजागण !

कालिदास राजा के अनेक संकटों को भी जानते थे। सुख का सतत भोग करने पर भी उत्तरदायी राजा का जीवन अत्यन्त कष्ट-मय है, इस बात से वह अच्छी तरह परिचित थे। जिस प्रकार सिर पर कच्चे सूत में बँधी हुई तरवार के गिरने का भय आनन्द में डुबे हुये मनुष्य को सतत चिन्तित रखता है, उसी प्रकार राज्य-सुख का अनुभव करनेवाले राजा के हृदय में भी चिन्ता का साम्राज्य रहा करता है। राज्य से सुख नहीं जान पड़ता। राजा दुष्यन्त स्वयं अपने मुँह से यह बात कह रहा है:—

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥

—शाकुन्तल

राज्य की प्राप्ति केवल चिन्ता को दूर कर देती है। साधारण

मनुष्य के विपरीत राजा को सब चीजें प्राप्य रहती हैं। अतः उनके पाने की उत्सुकता नहीं होती परन्तु पाये हुये राज्य पर शासन करना बेतरह दुःख देता है। राज्य पाने से श्रम दूर नहीं होता बल्कि परिश्रम बढ़ता जाता है। जिस प्रकार छाता के डंडे को अपने हाथ में धारण करनेवाले मनुष्य को छाया से उतना सुख नहीं मिलता जितना डंडे के बोझ से श्रम होता है। पाठक! आप राज्य और छाता[1] की सुन्दर उपमा को तभी हृदयंगम कर सकते हैं जब आप उस समय के भारी भद्दे छाताओं का ख़याल करें। प्राचीन काल में छाते का डंडा मोटा होता था और छाते के ऊपर सोने या चाँदी की कलशी रखी जाती थी; तिसपर छाते को मोड़ नहीं सकते थे। वास्तव में ऐसे छाते को हाथ में लेकर चलने से सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक होगा। कालिदास की तरह शेक्सपियर ने भी क्या ही अच्छा कहा है:—

'Uneasy lies the head
That wears the crown.'

---

१ जैन कवि हरिचन्द्र ने अपने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक महाकाव्य में जम्बूद्वीप की—जिसमें शेषनाग के हजारों फन कमानियों का काम दे रहे हैं और सुमेरु सोने की कलशी की तरह जिसके ऊपर चमका करता है—मनोहर समता एक छाते के साथ क्या ही अच्छी दी है। पद्य यह है:—

अवाप्य सर्पाधिपमौलिमैत्रीं छत्रद्युतिं तन्वति यत्र वृत्ते
धत्ते समुत्तेजितशातकुम्भकुम्भप्रभां काञ्चन काञ्चनाद्रिः। १ स० ३६ श्लो०

आज भी नैपाल के प्रधान-मंत्री का छाता अपनी प्राचीनता की रक्षा करते हुये उसी प्रकार का होता है जैसा ऊपर वर्णन किया गया है।

जिसके सिर पर ताज रखा हुआ है उसका मन हमेशा अशान्त रहता है।

× × × ×

प्रकृति-वर्णन

कालिदास प्रकृति देवी के प्रवीण पुरोहित थे; उनकी सर्वव्यापिनी दृष्टि ने प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को सावधानतापूर्वक हृदयंगम किया था। इनके प्रकृति-वर्णन इतने सजीव हैं कि वर्णित वस्तु हमारे नेत्रों के सामने आकर नाचने लगती है। बाह्य जगत् के सौंदर्यमय वर्णनों से कालिदास की विलक्षण निरीक्षण-शक्ति का परिचय प्रत्येक कविता-पारखी को मिलता है। पाठकों को भूलना न चाहिये कि पाश्चात्य कवियों के प्रकृति वर्णन नग्न होते हैं—बिना किसी आवरण के प्रकृति अपने असली रूप में आकर उपस्थित होती है परन्तु भारतीय कवियों का प्रकृति-वर्णन अलंकृत है—ये महाकवि प्रकृति को सुन्दर मुग्धकारी आभूषणों से सुसज्जित कर पाठकों के सामने लाते हैं। महाकवि कालिदास इस अलंकृत वर्णन की शैली में अतीव निपुण हैं। इतना ही नहीं, इन प्रकृति-वर्णनों में आपके वैज्ञानिक ज्ञान का पूर्ण परिचय पाया जाता है। पाठक! जरा प्रकृति-वर्णनों का आनन्द उठाइये।

जगत्पावन तीर्थराज प्रयाग में गंगाजी यमुनाजी से कल्लोलें कर रही हैं—भागीरथी का विमल जल सूर्यसुता के नील नीर से मिलकर कितना रमणीय मालूम हो रहा है। कालिदास ने इसका

क्या ही सुन्दर, सच्चा परन्तु अलंकृत वर्णन किया है। प्रयाग का ऐसा विशद वर्णन शायद ही किसी साहित्य में उपलब्ध होगा।

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शवलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः॥

—रघु, सर्ग १३.

भावार्थ—रावण का वध कर पुष्पक विमान पर चढ़कर राम अयोध्या को लौटे आ रहे हैं। मार्ग में प्रयाग मिलता है। वह सीता से कहने लगते हैं, हे निर्दोष अंगोंवाली! गङ्गा और यमुना के संगम को देखो; यमुना की तरङ्गों से पृथक किया हुआ गंगा का प्रवाह कितना सुन्दर मालूम होता है। कहीं तो गंगा फैली हुई कान्तिवाले नीलमों के साथ गूँथे हुये मुक्ताहार के सदृश शोभित है और कहीं नीले कमलों के संग पोही हुई सफेद कमलों की माला की तरह शोभा पाती है। कहीं वह नील हंसों के साथ मानसरोवर के प्रेमी उज्ज्वल हँसों की पंक्ति के समान दृष्टिगोचर होती है और कहीं कालागुरु की पत्र-रचना की हुई पृथ्वी की चन्दन-रचना सी जान पड़ती है। कहीं छाया में छिपे हुये अन्धकारों से

कुछ कालिमा ली हुई चन्द्रमा की विमल प्रभा के समान रमणीय ज्ञात होती है और कहीं छिद्रों से आकाश को दिखलाती हुई शरद ऋतु की शुभ्र मेघमाला की तरह भासित होती है और कहीं काले सापों का गहना पहनी हुई और भस्म का अंगराग धारण की हुई शिवजी की मूर्ति की तरह चमक रही है। भिन्न भिन्न प्राकृत उपमाओं का यह सम्मेलन किसे मुग्धकारी नहीं प्रतीत होता!

कालिदास ने नर्मदा का अत्यन्त रोचक उपमापूर्ण वर्णन किया है:—

रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥

—मेघदूत, पूर्वभाग

हे मित्र मेघ! तुम को नर्मदा दिखाई पड़ेगी। कंकड़ पत्थरों से कठिन विन्ध्याचल के निम्न प्रान्तों में फैली हुई रेवा कितनी रमणीय मालूम होगी। उसकी शोभा इसी प्रकार तुम्हें मुग्ध कर देगी जिस प्रकार भिन्न भिन्न रेखाओं से बनाई गई हाथी के अंग की सुन्दर रचना।

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥

—पूर्वमेघ

दूर होने से जिस नदी का चौड़ा भी प्रवाह पतला जान पड़ता

है उस पर कृष्ण के समान श्यामवर्णवाला मेघ जब जल पीने के लिये झुकेगा, तब आकाशचारी देवतागण दृष्टि नीचे कर उसे उसी तरह देखेंगे मानो पृथिवी के गले में मोतियों की माला पड़ी हुई हो और उसके बीच में एक बड़ा नीलम लगा हुआ हो। शुभ्र नदी मुक्तामाला के समान तथा कृष्ण मेघ नीलम के तुल्य वर्णित है। कालिदास की अद्भुत प्रकृति-प्रेक्षण-शक्ति का यह नमूना है।
पावन आश्रम का कितना सच्चा वर्णन है:—

नीवाराः शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदीङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

शाकुन्तल, १ अंक १३ ।

आश्रम में ऋषियों ने वृक्षों को लगाया है। उनके खोखलों में तोतों के बच्चे आराम कर रहे हैं। शुक धान को लाकर अपने बच्चों के मुँह में डालते हैं जिससे कुछ नीवार के दाने वृक्षों के नीचे गिरे हुये हैं। पत्थर चिकने दीखते हैं जिससे जाना जाता है कि ऋषियों ने उनसे इङ्गुदी के फलों को तोड़ा है। मृगों का ऋषियों में इतना विश्वास हो गया है कि शब्द सुन कर भी नहीं भागते हैं, ज्यों के त्यों खड़े हैं। सरोवर के मार्ग भीगे वल्कल वस्त्र से चुये हुये जल की रेखाओं से अंकित हैं। समुचित वर्णन से आश्रम का वास्तविक दृश्य पाठकों की आँखों के आगे झूलने लगता है।

एक और आश्रम-वर्णन देखिये:—

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥
आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजांगणभूमिषु ॥
अभ्युत्थाग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥

—रघु, प्रथमसर्ग ४६-५३ ।

भावार्थ—दिन को ऋषिगण इन्धन के लिये जंगल में गये थे । सायंकाल वे लोग समिधा, फूल, फल तथा कुश लेकर दूसरे जंगलों से लौटे आ रहे हैं; उन्हें स्वागत करने के लिये अग्नि स्वयं आगे जाते हैं; इन आहिताग्नि ऋषियों से वह (वसिष्ठ का) आश्रम भर रहा था । ऋषियों की पर्णशालाओं के द्वार को मृग रोक कर बैठे हुये हैं; ज्ञात होता है कि ये ऋषिपत्नियों की सन्तान हों । क्यों न हों, ऋषिगण नीवार का कुछ अंश इन्हें भी दिया करते हैं । अतः इन पर ऋषियों का सन्तान के समान ही स्नेह है । मुनि-कन्यायें वृक्षों को घड़ों से सींच रही हैं । पेड़ों पर बैठे हुये पक्षी वृक्षों के आलवाल में जल पीना चाहते हैं, अतः मुनिकन्यायें उन छोटे छोटे वृक्षों को छोड़कर चली जा रही हैं जिससे वे पक्षी विश्वास

पूर्वक आनन्द से जल पीलें। अहा, ऋषिकुटियों की आंगनों की कैसी शोभा है! ग्रीष्म के बीत जाने पर ऋषियों ने नीवार काट कर इन आंगनों में इकट्ठा किया है; इनमें बैठ कर मृग जुगाली कर रहे हैं। वाह रे इन जंगली जीवों का विश्वास तथा इन ऋषियों का विश्वप्रेम! अग्नि में होम किये गये हैं। उनके धूम से सुरभित वायु इधर-उधर बिखर रही है; उस आश्रम की ओर आने वाले अतिथियों को अग्नि के धूम पवित्र कर रहे हैं। आश्रम का कितना वास्तविक वर्णन है। सानन्द बैठे हुये मृग, फैलता हुआ यज्ञाग्निधूम, नीवारराशि से भरा आंगन, पौधों को सींचने वाली ऋषि कन्यायें हमारी आँखों के सामने चित्रित सी जान पड़ती हैं।

रघुवंश के नवम सर्ग में कविवर ने वसन्त का बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन किया है। देखिये पवन से हिलाई गई लता कैसी नाच रही है:—

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥

रघु० ६-३५।

उपवन में लताएँ नाच रही हैं। सुनने में रमणीय भ्रमर की गुंजार गान की भाँति मालूम होती है; विकसित फूल कोमल कांति वाले चमकते दाँत हैं। जैसे गाते समय नर्तकी के दाँत स्फुट दिखाई पड़ते हैं उसी तरह लता के विकसित कुसुम रमणीय जान पड़ते हैं। उनके कोमल पत्ते वायु से हिल रहे हैं, मानों वे लय से युक्त हाथों से भाव बतला रही हों। लता तथा नर्तकी का साम्य कितना सुन्दर है।

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या ।
आपक्वशालिरुचिरा तनुगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ॥

नवविवाहिता वधू की तरह रमणीय रूप वाली शरद् आ गई। खिले हुये काश उसके वस्त्र हैं। विकसित कमल-समूह इसका मनोहर मुख है। उन्मत्त हंसों की ध्वनि इसके नूपुर की आवाज़ है। पके हुये धान के खेतों की शोभा की तरह इसके पतले गात्र की सुघरता है। नवीन विवाहिता तथा शरद् की समता कितनी मनोमोहक है।

कालिदास ने प्यारी ग्रीष्मऋतु का एक सुन्दर वर्णन किया है। पद्य में स्वभावोक्ति कूट कूट कर भरी है।

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः।

—शाकुन्तल १म अंक ३ प०।

गर्मी के दिनों में जल में स्नान करना कितना सुहावना जान पड़ता है। पाटल फूल खिले हुये हैं, उनके संसर्ग से जंगली हवा भी सुगन्धित हो रही है। घने वृक्षों की छाया में नींद अनायास आ जाती है और दिन ढलने पर कुछ शान्ति मिलती है; जिससे सायंकाल रमणीय मालूम पड़ता है। ग्रीष्म के दिनों के इस वर्णन को प्रत्येक पाठक ने अनुभव किया होगा।

कुमार-संभव के आठवें सर्ग में सन्ध्याकाल अत्यन्त विशद रूप से वर्णित है। नीचे का श्लोक कालिदास के वैज्ञानिक ज्ञान को सुन्दर शब्दों में प्रकट कर रहा है:—

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्भरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥
—कुमार, सर्ग ८।३१

हिमालय पर बैठे हुये शिवजी पार्वती से कह रहे हैं:—यह देखो, तुम्हारे पिता के झरने बहे चले जा रहे हैं परन्तु इनकी पहले जैसी शोभा नहीं है। सूर्य के डूब जाने से उसके किरणों का सम्पर्क झरनों के जलकणों से जाता रहा। अतएव वे इन्द्र-धनुप के परिवेष से शून्य हैं। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है, जिसका अनुभव जलप्रताप को सावधानी से देखने वाले पाठक को हुआ होगा कि जब झरने से जलकण निकलते हैं, तब सूर्य-किरणों के ठीक उन पर पड़ने से उन छोटे कणों में भी इन्द्रचाप दृष्टि-गोचर होते हैं। इसी अनुभव का द्योतक यह पद्य है जिससे कालिदास की विलक्षण प्रकृतिपर्यवेक्षण शक्ति का पता लगता है।

पाठकों ने रेल द्वारा यात्रा करके आनन्द उठाया होगा। रेल की तेज़ी के कारण विभिन्न प्राकृतिक दृश्यों का सौन्दर्य देखा होगा। सुहावने वृक्षों की शोभा आपके मन में झूलती होगी। आइये, तेज़ रथ पर यात्रा करने वाले दुष्यन्त के मुख से कुछ प्रकृति के वर्णनों को सुनिये।

यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्द्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात्॥
—शाकुन्तल, १म अंक।

जो वस्तु देखने में सूक्ष्म मालूम पड़ती थी, वह अकस्मात् मोटी जान पड़ती है। जो बीच में टूटी जान पड़ती थी वह मानो जुटी हुई दीख पड़ती है। जो स्वभाव से टेढ़ी थी वह भी देखने में सीधी हो गई है। रथ के वेग के कारण कोई भी वस्तु क्षण भर भी न तो मुझ से दूर रहती है न समीप। चीजें नज़दीक आकर दूर चली जाती है और दूर वाली समीप आ जाती है, परन्तु क्षण भर भी स्थिर नहीं रहती। हमारे पाठकों ने रेल से अवश्य इस दृश्य का अनुभव किया होगा। कितना सच्चा और मधुर वर्णन है।

एक दूसरा प्राकृतिक दृश्य देखिये। यह रेल से समतल भूमि का चित्र नहीं है, बल्कि यह व्योमयान से यात्रा करने वाले लोगों के ही दृष्टि-पथ में आता है। दुष्यन्त इन्द्र की सहायता के लिये अमरावती गये थे; पौरवराज ने देवराज के दुःसाध्यकार्य को समाप्त किया। देवराज ने कृतज्ञता प्रकाशित की। राजा अपनी प्यारी राजधानी के लिए मातलि के साथ आकाश से उतर रहे हैं। व्योमयान से भूमितल का सतत परिवर्तनशील दृश्य इतना विचित्र था कि राजा से विना वर्णन किये न रहा गया। वह मातलि से कह रहे हैं:—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः।
सन्तानं तनुभागनष्टसलिलव्यक्त्या व्रजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते॥

—शाकुन्तल, ७ म अंक।

मुझे ज्ञात हो रहा है कि सारे पर्वत ऊपर को उठ रहे हैं और

उनके शिखरों से पृथ्वी नीचे उतर रही है। दूर से जान पड़ता था कि वृक्ष अपने पत्तों के भीतर छिपे हुये हैं, परन्तु अब उनके स्कन्ध साफ़ दिखाई पड़ रहे हैं। पहले नदियों के पतले भागों का जल दिखाई नहीं देता था। अतः वे विच्छिन्न जान पड़ती थी ; परन्तु अब जल के दिखाई देने से वे मिली हुई दीख रही हैं। देखो जान पड़ता है, जैसे कोई पृथ्वी को उछालता हुआ मेरे पास ला रहा है। क्या ही सुन्दर चित्र है। कितने सच्चे तथा सरल शब्दों में यह कहा गया है। इसे देख कर यह कहना पड़ता है कि कालिदास ने व्योमयान से यात्रा अवश्य की होगी। मेघदूत में वर्णित कितने दृश्य इस सिद्धान्त के पोषक हैं। परन्तु कुछ लोगों की सम्मति है कि उस समय ये व्योमयान कहाँ; यह सब महाकवि की कल्पना से प्रसूत हैं। यदि यही बात है, तो धन्य है कवि की ऐसी अलौकिक कल्पना शक्ति !

× × × ×

सौन्दर्य-वर्णन

नारी के सौन्दर्य का वर्णन करना कवियों को अत्यन्त प्रिय है। वे रमणी के नख से शिख तक रूप-राशि के वर्णन में अपना सारा कवित्व समाप्त कर देने से तनिक भी नहीं हिचकते। संस्कृत का ही नहीं बल्कि हिन्दी का भी अधिकांश साहित्य ऐसे ही वर्णनों से भरा है। कालिदास भी स्त्री-सौंदर्य के वर्णन में बड़े प्रवीण हैं ; परन्तु आप में वह विशेषता है— ऐसी मौलिक कल्पना है—जो कहीं देखने को भी नहीं मिल सकती।

शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त कह रहे हैं:—

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण॥

शकुन्तला के स्कन्ध देश में छोटी गांठ देकर वल्कल बांधा गया है जिससे उसका विशाल स्तनमण्डल ढक गया है; अतएव शकुन्तला का नवीन कोमल शरीर पीले पत्तों से ढके हुए फूल की तरह शोभा नहीं पाता। परन्तु दुष्यन्त को अपनी भूल तुरन्त ज्ञात होती है। सहज-सुन्दर शकुन्तला की रूप राशि में वल्कल वस्त्र से भी वृद्धि ही होती है, हानि नहीं। वह कहता है:—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

शाकुन्तल १म अङ्क, १७ प०

जैसे शैवाल से ढके रहने पर भी कमल रमणीय मालूम होता है, जैसे चन्द्रमा की मलिन कालिमा उसकी शोभा को और भी बढ़ाती है, उसी तरह यह भी सुकुमाराङ्गी वल्कल धारण करने पर भी अधिक मनोहर जान पड़ती है। ठीक ही है, जिसकी आकृति मनोहर होती है उसके लिए कौन चीज़ आभूषण का काम नहीं

देती ? अर्थात् मलिन तथा क्षुद्र वस्तु के भी संयोग से उसकी शोभा अधिक बढ़ जाती है ।

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥

कुमार १ म सर्ग ४१ प०

मेरी कल्पना यह है कि पार्वती के दोनों हाथ शिरीष फूल से भी अधिक सुन्दर हैं । क्योंकि यदि यह बात न होती, तो कामदेव अपने पुष्पबाणों से शिव को वश करने में असमर्थ होकर पराजित बन उनके कण्ठ को बाँधने के लिए इन भुजाओं की सहायता क्यों लेता ?

निम्नलिखित पद्य में कालिदास ने पार्वती की मुसकराहट का क्या ही अच्छा वर्णन किया है: —

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्यात् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

कुमार १ । ४४

यदि उज्वल फूल ईषद्रक्त नवीन पल्लव पर रखा जावे, यदि मोती लाल-लाल मूगों पर निहित हो, तभी ये दोनों सुमन तथा मोती पार्वती की लाल-लाल होंठों पर फैली हुई कमनीय मुसकराहट की समता पा सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥

रघु० ३ सर्ग २ पद्य

शरीर की दुर्बलता से थोड़े गहने पहननेवाली उस सुदक्षिणा (दिलीप की धर्म्म पत्नी) की लोध्र फूल के समान पीले मुँह से ऐसी शोभा हुई जैसे प्रातःकाल टिमटिमाते हुए ताराओं से युक्त रात्रि की शोभा पीले चन्द्रमा से होती है। सुन्दर पूर्णोपमा है।

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छून नेत्रं प्रियाया
निश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तमुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरण क्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥

—उत्तरमेघ

यक्ष अपनी दयिता के विषय में मेघ से कह रहा है:—

मेरी प्रिया के नेत्र हमेशा रोने से सूज गये हैं। वह गर्म आहें भरा करती है, जिससे उसके सुन्दर होठों का रंग बिलकुल बदल गया है। उसकी लम्बी-लम्बी खुली हुई अलकों से उसका मुख छिप गया होगा; इसलिए हाथ पर रक्खा हुआ उसका मुख तुम्हारे अनुसरण के कारण क्षीण कान्तिवाले चन्द्रमा के समान मलिन जान पड़ता होगा। जिस प्रकार काले मेघों से ढके हुये चन्द्रमा की दयनीय दशा देखकर मनुष्यों को बिना दया हुये नहीं रहती, उसी प्रकार काले अलकों से ढके हुये मुख को देख प्रत्येक पाठक का कोमल हृदय यक्ष-पत्नी की शोचनीय अवस्था से अवश्य प्रभावान्वित होगा।

× × ×

काव्य तथा नाटक कवि-हृदय का प्रत्यक्षीकरण है—मानव भावों का पूर्णतया दिग्दर्शन है। जिस कवि ने मानव-हृदय के

भावों को अच्छी तरह मनन नहीं किया है, वह नाटकरचना में कदापि सफल-मनोरथ नहीं हो सकता। नाटक का मन्तव्य किसी सामाजिक दुर्गुण से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम अथवा गुणों से उत्पन्न सुपरिणाम को दिखा कर पाठकों के हृदय पर ऐसा प्रभाव डालना है कि वे उस दुर्गुण को छोड़ कर अच्छे रास्ते पर आ जाँय। इसीलिये जब नाटककार मानवीय भावों का सच्चा वर्णन दर्शकों के सामने उपस्थित नहीं कर सकता, तब उस नाटक से अभिलषित प्रभाव डालना एक कठिन काम बन जाता है। हृदय के भाव विभिन्न दशाओं में जिस प्रकार उदय होते हैं, उसी प्रकार अच्छी तरह उन्हें चित्रित कर देना सचमुच एक दुष्कर कार्य्य है। समुचित भाव-चित्रण के लिये अनुभव की बड़ी आवश्यकता है, केवल कल्पनाशक्ति से काम नहीं चल सकता। अच्छा नाटककार होने के लिये कल्पनाशक्ति के साथ साथ बाह्य पदार्थों के विशेष अनुभव की मात्रा भी चाहिये। साथ साथ नाट्य-कला की ज़रूरत होने से नाटक-रचना बायें हाथ का खेल नहीं है। नाटक की भाँति काव्य गुम्फन के लिये भी इन दो गुणों—कल्पना और अनुभव—की बड़ी ज़रूरत है। इनके बिना न काव्य में रस आता है और न कविता ही हृदय में चुभती है। यदि किसी कवि में इनका अभाव हो, तो वह महाकवि की ऊँची पदवी से सदैव वंचित रहेगा। इन्हें निकाल डालने से कविता में कवित्व ही नहीं रहता।

प्रकृति-वर्णन करने में कवि की योग्यता

तुलसीदास के वर्षा तथा शरद् वर्णन कितने विशद और मनोहर हैं। कारण यह है कि इन वर्णनों में महाकवि ने अपने विस्तृत अनुभव से काम लिया है और साथ ही साथ इन्हें अपनी प्रखर कल्पनाशक्ति से परिपुष्ट किया है। रामायण में कल्पना तथा अनुभव की मिली हुई छटा सहृदय-हृदय-संवेद्य अनुपम काव्यानन्द पैदा करती है। यदि पाठकों को कल्पना और अनुभव का मधुर शरबत पीना अभीष्ट हो—मीठी चाशनी चखनी हो-तो वे महाकवि बिहारी के "नावक के तीर"—हृदय में घाव करने वाले—दोहों को खूब मनन करें। इन्हीं अद्भुत शक्तियों के न होने के कारण प्रौढ़ा नायिका के तिरछे कटाक्षों पर अपनी समग्र काव्य-शक्ति अर्पण कर देने पर भी शायद ही कोई शृङ्गारिक कवि कविता-कामिनी-कान्त बिहारी के समुन्नत पद तक पहुँचा है।

बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य वर्णन में कवि की अधिक शक्ति का परिचय मिलता है। इस विषय पर कवि, नाटककार डी० एल० राय ने क्या ही ठीक कहा है—"बाहरी सौन्दर्य्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्त्तनीय है। आकाश चिरकाल से जैसा नीला है वैसा ही नीला है; यद्यपि बीच बीच में वर्षा आदि के अवसर पर उसका वर्ण धूसर या कृष्ण होता है; तथापि उसका स्वभाविक रङ्ग नीला है। समुद्र तथा नदियाँ तरंग पूर्ण होने पर भी उनका साधारण आकार एक ही प्रकार का है। परन्तु मनुष्य के हृदय में घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है; अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है और प्रति-

हिंसा से कृतज्ञता का जन्म हो जाता है। जो कवि इस अन्तर जगत के विचित्रता के रहस्य को खोल कर दिखा सकता है; वही यथार्थ में कवि के नाम से पुकारा जाता है"।

कहना व्यर्थ है कि कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास की कविता में दोनों का कमनीय मिश्रण पाया जाता है। कल्पनाशक्ति की पराकाष्ठा के साथ साथ उसमें अनुभव की पूर्ण मात्रा भी पाई जाती है। कालिदास के भावमय नाटक इन शक्तियों के पूरे परिचायक हैं। नाटकों को छोड़ कर काव्यों में भी इनकी पूरी झलक दृष्टिगोचर होती है। मानव हृदय के भावों का जैसा सूक्ष्म अध्ययन कालिदास ने किया था, वैसा बहुत कम कवि करने में समर्थ हुये हैं। कान्ता-विरहित यक्ष की विरहावस्था तथा मानसिक वेदना का विशद वर्णन पढ़कर कौन ऐसा सहृदय है, जिसके हृदय में सहानुभूति की नदी नहीं उमड़ पड़ती! निर्जीव मेघ को दूत बनाकर अपनी प्राण-प्रिया प्रियतमा के पास प्रेममय कुशल सन्देश भेजने वाले यक्ष के प्रेमोन्माद को पढ़कर कौन सहृदय उस के आदर्श स्नेह की शतशः प्रशंसा नहीं कर बैठता है? पुरुष तथा स्त्रियों के विभिन्न परन्तु सूक्ष्म मनोविकारों को कालिदास ने कितनी बारीकी से वर्णन किया है; जो एक दो पद्यों को उद्धृत कर दिखाया जाता है।

अंगेनांगं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।

उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्त्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥

—उत्तर मेघ

मेघ के द्वारा यक्ष अपनी शिखरिदशना पत्नी के पास सन्देश भेज रहा है कि यद्यपि भाग्य ने सच्चे संयोग को रोक रखा है, तथापि वह अपने मानसिक संकल्पों से तुम्हारे अत्यन्त कृश शरीर में अपने कृश अङ्ग द्वारा प्रवेश करता है। शारीरिक संयोग न सही, परन्तु मानसिक संयोग को कौन रोक सकता है ? उसी भाव को यह पद्य द्योतित करता है। इसके विशेषणों पर गौर करने से कालिदास की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का पता लगता है। कवि ने यक्ष के शरीर के लिये तनु-कृश विशेषण दिया है और यक्ष-पत्नी के शरीर के लिये प्रतनु-अत्यन्त कृश। इन विशेषणों से कवि पुरुष तथा स्त्रियों के शारीरिक संगठन के भेद को दिखला रहा है। अबलायें स्वभाव से ही सुकुमार होती हैं। तिसपर हृदय-सर्वस्व प्रियतम के वियोग में 'कनगुरिया की मुँदरी कंगन होय' वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है। परन्तु पुरुषों का शरीर इतना सुकुमार नहीं होता। पुरुषों की विचारशक्ति अधिक होती है—दयिता के आकस्मिक वियोग से वह बिलकुल दुःख-सागर में डूब नहीं जाता, बल्कि धैर्य के सहारे कुछ शोक को कम करने का प्रयत्न करता है। परन्तु प्रियतम के वियोग से स्त्रियों का धैर्य छूट जाता है, उनके ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ता है। वे सदा नेत्रों से आँसुओं की धारा बरसाने लगती हैं। कविवर ने इसी विभिन्न

विचारशक्ति के द्योतन के लिये यक्ष को केवल साश्रु-आँसुओं से युक्त बतलाया है; परन्तु यक्ष-पत्नी को अश्रुद्रुत-आँसुओं से पिघली हुई बताया है। कालिदास ने यक्ष को केवल उत्कण्ठित बताया है; परन्तु उसकी पत्नी को अविरतोकण्ठित—लगातार उत्कण्ठित। पुरुष को वियोग-दुःख भिन्नभिन्न कार्यों की व्यग्रता के कारण सदा नहीं सताया करता। दयिता की मधुर स्मृति जब कभी आ जाती है, तभी मिलने के लिये उत्कण्ठा उत्कट हो उठती है। पर्दानशीन अबलाओं के पास मनोरञ्जन की सामग्री ही क्या है? सदा बन्द कोठरी में निवास करने से बाहरी वस्तु उनके नेत्रों से नहीं मिलती जिससे मनोवेदना भी तनिक दूर हो। अतएव उनकी उत्कण्ठा कभी घटती नहीं। इन्हीं भावों को प्रगट करने के लिये कालिदास ने विभिन्न विशेषणों का प्रयोग किया है। इस प्रयोग से कालिदास की स्त्री-पुरुष सम्बन्धी प्रकृति की सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति का पता लगता है। पाठक! इस निरीक्षण-शक्ति के गहरापन का ख्याल स्वयं कर सकते हैं।

कालिदास ने मानसिक विकारों का वर्णन ठौर ठौर पर किया है, जिससे उनकी अद्भुत शक्ति का पता लगता है।

> अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
> स्थानादनुचलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥
>
> शकु० १। ३२

जब शकुन्तला जाने लगी, तब प्रेम के वशीभूत राजा भी उसके पीछे पीछे जाने को तय्यार हुआ। परन्तु इस अनुचित इच्छा

को उसने तुरन्त दबा डाला और उस समय उसने कहा:—यद्यपि विनय से रोके जाने पर मैं मुनि कन्या के पीछे नहीं गया, अपने स्थान से उठा तक नहीं, तथापि जान पड़ता है कि मैं उसके पीछे जाकर लौट आया हूँ। कामियों के सच्चे हृदय का यह पूर्ण निदर्शन है!

शकुन्तला आश्रमकुटी की ओर लौट रही है—परन्तु प्रेम के कारण राजा को फिर देखना चाहती है। पाठक! देखिये किस बहाने वह अपने मनोरथ को सिद्ध कर रही है:—

दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥

शकु० २।१२

शकुन्तला सखियों के साथ कुछ दूर जाकर अचानक ठहर जाती है। वह बहाना करने लगती है कि कुश के छोटे छोटे अंकुर मेरे पैरों में चुभ रहे हैं। ज़रा धीरे धीरे चलूँगी; थोड़ा आराम कर लूँ। उसका वल्कल पेड़ की डाल में लगा नहीं था, तो भी बहाना करके नहीं लगे हुये वल्कल को छुड़ा रही है और इसी व्याज से दुष्यन्त को बारंबार देख रही है! कहिये कैसा अच्छा मनो-विकार व्यंजक चित्र है! शकुन्तला के नवीन उदीयमान प्रेम का कैसा मधुर दृश्य है!

विवृण्वती शैलसुतापिभावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥

कुमार ३ । ६८

जब कामदेव ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाया, तब शिवजी का भी धैर्य्य क्षणभर के लिये छूट गया, और वे पार्वती को देखने लगे। तब पार्वती भी नवकदम्ब-कुसुमों के सदृश अपने पुलक-पूर्ण अङ्गों से अपना भाव प्रगट करती हुई तिरछे मुँह कर के खड़ी हो गई।

रस-वर्णन

कालिदास रस वर्णन में अतीव निपुण हैं। वे मानव-हृदय के सच्चे पारखी थे अतः उनके वर्णन बिल्कुल सच्चे हैं। कालिदास कोमल रसों के वर्णन में दक्ष हैं। उनके शृंगार तथा करुण का वर्णन अत्युत्तम है। कालिदास के वीररस का वर्णन इतना ओजस्वी नहीं है कि उसके सुनते ही हृदय में उत्साह की आग जलने लगे; इतना फड़कता हुआ नहीं है कि कायर भी वीर बन जाय। भवभूति की

वीर-रस

वीरमयी कविता की तुलना में वह श्रेष्ठ नहीं उतर सकते। उनके युद्ध-वर्णनों में कोमलता है, ओज नहीं। उनमें न तो योद्धाओं का हुँकार, न आयुधों की झनझनाहट ही सुन पड़ती है। इनसे हृदय में उतना वीर-रस दीप्त नहीं होता; तथापि ये वर्णन हैं बड़े सुन्दर। कुछ पद्यों को देखिये:—

नदत्सु तुर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान्
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः।
रघु० ७। ३८

तुरहियों का इतना तुमुल नाद था कि योद्धागण एक दूसरे की बातें नहीं सुन सकते थे। इसीलिये उन्होंने कुल का नामोच्चारण न कर बाणों से ही अपने नाम एक दूसरे को बतलाये। योद्धाओं के बाणोंपर उनके नाम अङ्कित थे। उसे पढ़कर दूसरों ने उनका परिचय पाया।

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम्॥
रघु० ७।३९

युद्ध में घोड़ों के टापों से खूब धूल उड़ी। रथों के पहियों से वह धूलि और भी बढ़ गई। हाथियों ने अपने कान की फटकार से चारों ओर धूल ही धूल कर दिया। फल यह हुआ कि धूलि ने आँखों को ढकते-ढकते सूर्य को भी छिपा दिया।

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे॥
रघु० ७।४३

संग्राम में आकाश-व्यापी धूल का क्या ही आलङ्कारिक वर्णन है। रुधिर के प्रवाह से पृथ्वी पंकमयी हो गई है—धूलि का नामोनिशान भी ग़ायब हो गया है। जो धूलि पहले से उठी थी उसे वायु ने खूब ही तितर बितर कर दिया है। अतः धूलि उसी

भाँति प्रकाशित होती है, जैसे अङ्गार शेष रहनेवाले अग्नि का पहले से उठा हुआ धुआँ आकाश में शोभित होता है। धूलि तथा धूम की उपमा कैसी साङ्गोपाङ्ग है। महात्मा तुलसीदास का यह दोहा भी इस पद्य से साम्य रखता है:—

रुधिर गाढ़ भरि भरि जमेउ, ऊपर धूलि उड़ाइ।
जिमि अंगार रासिन्ह पर, मृतक धूम रह छाइ॥

पाठकों ने ध्यान दिया होगा कि इस वर्णन में मधुरता है, भवभूति के तुल्य ओज नहीं दिखाई पड़ता। अतएव कहना पड़ता है कि कालिदास माधुर्य तथा प्रसादगुणों के कवि थे, ओज गुण के नहीं। शृङ्गार, शान्त, करुण रसों के कवि थे, उद्धत वीर रस के नहीं।

× × × ×

कालिदास का करुणरस का वर्णन अतीव नैसर्गिक है। इन के काव्यों में दो बार विशेष रूप से इसका प्रसंग आया है।

करुण-रस

रघुवंश के अष्टमसर्ग में पुष्पमाला के आघात से इन्दुमती के मरजाने पर महाराज अज ने विलाप किया है। कुमार के चतुर्थसर्ग में कामदेव के जल जाने पर रति का विलाप है। ये दोनों ही वर्णन अत्यंत करुणोत्पादक हैं।

अज इन्दुमती के मरने पर विलाप कर रहा है:—

कुसुमान्यपि गात्रसंगमात् प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत् प्रहरिष्यतो विधेः॥

—रघुवंश ८।४४

यदि कोमल फूल भी शरीर को छूकर जीवन नष्ट करने में समर्थ है, तो मारनेवाले निर्दयी विधाता के लिए और कौन चीज़ साधन नहीं हो सकती ! जब कोमल सुमन से ऐसी दशा हो जाती है, तो कठोर वस्तुओं का कहना ही क्या ?

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥

—रघु० ८।४५

अथवा यमराज कोमल वस्तु को मारने के लिए कोमल वस्तु का ही उपयोग करता है । देखो ! सुकुमार कमलिनी का नाश कोमल पाले के पड़ने से हो जाता है ।

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥

—रघु० ८।४६

यदि यह माला प्राण लेनेवाली है, तो यह मेरे हृदय पर रखी गई है । मुझे क्यों नहीं मार डालती ? बात यह है कि विधाता की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी बिष बन जाता है । दैव की इच्छा से ही इस कोमल माला ने मेरी प्राणप्यारी के प्राणों को लेने में विष का काम किया है ।

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥

—रघु० ८।४७

अथवा मेरे भाग्य-दोष से विधाता ने इस माला को भी

वज्र बना डाला है। इसने वृक्ष को तो नहीं गिराया, परन्तु उसके सहारे खड़ी होनेवाली लता को नष्ट भ्रष्ट कर डाला। भाग्य के विप्लव से अचिन्तित घटना भी घटित हो सकती है।

कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे॥

—रघु० ८।४८

जब कभी मैंने अपराध किया, तब भी तुमने मेरा तिरस्कार नहीं किया। क्या कारण है कि आज बिना अपराध के ही मुझ से अकस्मात् रूठ गई हो। सैकड़ों विनय करने पर भी तुम मुझ से बातें भी नहीं करती।

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम्॥

—रघु० ८।५७

हे प्यारी! नवीन कोमल पत्रों की शय्या पर भी लेटने से तुम्हारा मृदु अङ्ग क्लेश पाता था, वही अङ्ग आज कठोर चिता पर कैसे रखा जायगा! अग्नि की विषम ज्वाला उसे कैसे सह्य होगी!

शिवजी ने पुष्पधन्वा काम को अपने ललाट की अग्नि से जला डाला है। पति के भस्मीभूत शरीर को देखकर रति विलाप कर रही है—

हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः।
वद सम्प्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति॥

—कुमारसंभव ४।१४

हे प्रिय ! तुम्हारे बिना तुम्हारे प्यारे साथियों की कैसी दुरवस्था होगी। यह आम की नई मंजरी, जिसका डंठल हरा, लाल और सुन्दर है, जिसके आविर्भाव की सूचना कोकिल की मधुर काकली दे रही है, अब किस का बाण बनेगी ?

अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियबन्धोस्तव निष्फलोदयः।
बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनंग मोक्ष्यति ॥

—कुमार० ४।१५

हे अनङ्ग ! तुम्हारी मृत्यु का हाल सुनकर आकाश में व्यर्थ उदय लेनेवाला चन्द्रमा कृष्ण पक्ष के बीत जाने पर भी अपनी कृशता बड़े दुःख से छोड़ेगा ; तुम्हारे बिना अब वह कामी जनों को कदापि मुग्ध नहीं कर सकता। अतः उदय होने पर भी वह दुःखी है।

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

—कुमार० ४।३३

चन्द्रमा के अस्त होने पर साथ ही उसकी चाँदनी भी अस्त हो जाती है। मेघ के साथ बिजुली भी विलीन हो जाती है। स्त्रियाँ अपने पति का सदा अनुसरण करती हैं। इसकी पुष्टि अचेतन जीवों के व्यवहार से भी हो रही है। चेतन प्राणियों की बात ही न्यारी है। प्रमदा सदा पति की अनुगामिनी होती है, इसे कैसे प्राकृतिक दृष्टान्तों से कवि ने सिद्ध किया है।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में प्रेम तथा करुणा का अपूर्व

सम्मेलन है। चौथे अंक में, जहाँ शकुन्तला अपने पतिगृह जा रही है, कवि ने जैसा करुण चित्र अंकित किया है वैसा शायद ही कहीं चित्रित हो। दुष्यन्त के पास प्यारी कन्या शकुन्तला को भेजते समय संसार के विषय से विमुख होने पर भी कण्व की कैसी दशा है! देखिये—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

—शकुन्तला ४।५

'आज शकुन्तला पतिगृह को चली जायगी।' इससे उत्कण्ठा के मारे मेरा हृदय उच्छ्वसित हो रहा है। आँसुओं के अवरोध के कारण कण्ठ गद्गद हो रहा है, चिन्ता से दृष्टि शिथिल हो गई है, पास की चीज़ भी नहीं देख सकती; मैं तो अरण्यवासी हूँ; जब संसारी न होने पर भी प्रेम के कारण मेरी ऐसी विह्वल दशा होगई है तब अपनी कन्या को, न जाने, पहिले पहिल पतिगृह भेजते समय गृहस्थों को कितना दुःख होता होगा?

शकुन्तला के इस अंक में कालिदास ने प्रकृति और मनुष्य को एक घनिष्ठ प्रेम-बन्धन से बँधा हुआ दिखाया है। आश्रम की बालिका शकुन्तला को अलंकृत करने के लिए स्नेह से प्रकृति आभूषण वितरण कर रही है। मृग का छौना शकुन्तला को जाने नहीं देता। प्रकृति पत्तों के गिरने के व्याज से आँसू बहाती है। ऐसा

प्रकृति तथा मनुष्य का सहानुभूति-वर्णन संस्कृत-साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। यह दृश्य कालिदास के प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम तथा असीम करुण-रस की वर्णन-शैली का सुस्पष्ट परिचायक है।

महर्षि कण्व शकुन्तला की विदाई की आज्ञा प्रकृति से माँग रहे हैं:—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्याः भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

—शकुन्तला ४।८

हे वृक्ष! जो शकुन्तला पहिले तुम्हें जल पिलाये बिना स्वयं जल न पीती थी; नवल पल्लवों के गहने पहनने की शौकीन होने पर जो प्रेम के मारे तुम्हारे पल्लवों को नहीं तोड़ती थी, जो तुममें पहिले-पहल फूल आने पर खूब उत्सव मनाती थी, वह आज पतिगृह जा रही है। तुम सब जाने की अनुमति दो।

शकुन्तला के जाते समय तपोवन कितना दुःख प्रगट कर रहा है:—

उग्गलिअदब्भकवला मिगा परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअपंडुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥
[उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्राः मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः]॥

—शकुन्तला ४।११

मृगीगण कुश के ग्रास को वियोग से दुःखी होकर गिरा रही

हैं। शकुन्तला के आश्रम छोड़ने से वे इतनी शोक-ग्रस्त हैं कि उन्हें खाना नहीं सुहाता। जो मयूरी आनन्दोल्लास में नाच रही थी उसने अपना नाचना छोड़ दिया। लताओं से पीले-पीले पत्ते झड़ रहे हैं, मानों वे आँसुओं को बरसा रही हैं। क्योंकि प्रकृति के गोद में पाली गई शकुन्तला आज अपने प्यारे आश्रम-सहचरों को छोड़कर भारत की महारानी बनने जा रही है। कण्व का गला बँध जाना सहज है, प्रियम्वदा तथा अनुसूया की भी विह्वलता बोधगम्य है, परन्तु अचेतना प्रकृति का यह हार्दिक शोक, अन्तःकरण की करुणदशा को व्यक्त करनेवाली प्रकृति की यह मूकवाणी, सच्चे सहृदय के अतिरिक्त किसे सुन पड़ती है? प्रकृति में मानव-वियोग का यह आन्दोलन बिना किसी मार्मिक कवि के अन्तश्चक्षु के किन नेत्रों से प्रत्यक्ष किया जा सकता है? मनुष्य तथा प्रकृति का यह दर्शनीय वियोग किस रसिक की हृदय-तन्त्री को निनादित नहीं करता? धन्य हैं कालिदास और धन्य है उसकी सौन्दर्य-दर्शन-चातुरी!

× × × ×

सम्भोग शृंगार की भाँति विप्रलम्भ शृंगार भी कवियों का एक मनोरञ्जक विषय है। विप्रलम्भ के करुण-मय वर्णन के बिना वे अपने को कृतकार्य नहीं समझते। कालिदास ने शृंगार-रस को खूब अपनाया है। उनके काव्यों में सम्भोग का प्रकाशमान रूप और विप्रलम्भ की करुण मूर्ति दोनों हमारे हृदय में चमत्कार पैदा करते हैं।

वियोग-वर्णन

कालिदास ने शिव-पार्वती के सम्भोग वर्णन में पाठकों को सम्भोग शृंगार खूब चखाया है। मेघदूत में विप्रलम्भ शृंगार द्वारा वियोगी यक्ष की हृदय-पीड़ा पूर्णतया अभिव्यक्त की गई है। अपनी प्रेयसी के वियोग में यक्ष ने अपने मुँह से अपनी दुःखकथा कह सुनाई है। पाठकों के रसास्वादन के लिए कतिपय पद्य उद्धृत किये जाते हैं:—

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि ! सादृश्यमस्ति ॥

—उत्तर मेघ

मेघ के मुँह से यक्ष अपनी प्रिया को सन्देश भेज रहा है—

हे प्रिये ! तुम्हारे कोमल अंगों की समता प्रियङ्गुलता में पाता हूँ। चकित हरिणी की दृष्टि में तुम्हारे नेत्रपात का अनुमान करता हूँ। चंद्रमा में तुम्हारे मुख की शोभा पाता हूँ। मयूरों के पुच्छों में तुम्हारे अलकों का अनुमान करता हूँ। मैं नदियों की पतली लहरों में तुम्हारी भौंहों की शोभा पाता हूँ। इस प्रकार प्रत्येक अङ्ग की समता तो मिलती है। परन्तु हे प्रिये ! तुम्हारी सारी मूर्ति मैं कहीं नहीं पाता। इस पद्य में कालिदास की प्रकृति के साथ कितनी सहानुभूति लक्षित होती है।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

—उत्तरमेघ

हे प्रिये ! चट्टान के ऊपर मैं गेरू आदि धातु के रंगों से तुम्हारी मूर्ति बनाना चाहता हूँ । मैं तुम्हारी सौम्य प्रतिकृति नहीं खींचता, बल्कि तुम्हारी प्रणय-मान के समय की मूर्ति बनाना चाहता हूँ और कोप को शान्त करने के विचार से मैं अपने आपको तुम्हारे चरण-कमलों पर गिराना चाहता हूँ । आशा होती है कि असल संयोग न सही, इस नक़ली संगम से ही मन को तृप्त करूँगा, परन्तु हाय ! इस क्रूर दैव को कौन समझावे ? इस कृतान्त को हमारा कल्पित संयोग भी मंजूर नहीं ! यह प्रेम-चित्र हजारों कोशिशें करने पर भी तैयार नहीं होता। बात यह है कि मेरी आँखों से प्रेमाश्रुओं की धारा बहने लगती है । कुछ दिखाई नहीं पड़ता । चित्र, तैयार हो तो किस प्रकार !

देखिये, यक्ष की कैसी शोचनीय दशा हो गई थी ।

भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वस्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥

—उत्तरमेघ

हे प्रिये ! जब देवदारु वृक्षों के पल्लवों के तोड़ने पर उनके दूध की गन्ध से सुगन्धित वायु हिमालय से चलती है, तब मैं

उनका आलिङ्गन किया करता हूँ। इसका कारण यह है कि मैं सोचता हूँ कि शायद तुम्हारे अङ्गों से यह हवा छू गई हो। अतः वायु के आलिङ्गन करने से मुझे तुम्हारे कोमल अंगों के आलिङ्गन का भी सुख मिल जायगा। विचारे प्रणयी यक्ष का यह आचरण किस हृदय को करुणामय न बना डालेगा। वाह! यक्ष में अपनी प्रेयसी के लिए कितना सच्चा स्नेह है?

राजा दुष्यन्त ने दुर्वासा के शाप के कारण स्वयं शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर दिया है परन्तु अंगूठी को देखते ही विस्मृत-पूर्व गान्धर्व-विवाह का दृश्य आँखों के सामने झलकने लगता है —विवाह की सुधि हठात् हो जाती है। उस समय शकुन्तला के विरह में उसकी दशा कितनी दुःख उपजानेवाली हो गई है।

> रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
> शय्योपान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
> दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
> गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडावनम्रश्चिरम्॥

शाकुन्तल ६। ५।

वह सुन्दर चीजों से द्वेष करता है। पहिले की तरह राजमन्त्रियों को पास नहीं आने देता। सारी रात बिस्तर के ऊपर करवटें बदलते बिताता है। अपने महल की स्त्रियों से अनुकूलता की रक्षा करने के लिये उचित उत्तर देता है, परन्तु जब कभी २ गोत्र-स्खलन में अर्थात् दूसरों के पुकारते समय शकुन्तला का नाम अकस्मात् निकल पड़ता है, तब लाज के मारे सिर नीचा कर लेता है।

विरही राजा का कैसा दयनीय चित्र है !

× × × ×

कालिदास के भिन्न भिन्न विषयों पर विचार उनके ग्रन्थों में बिखरे हुये मिलते हैं। उनके ग्रन्थों को मनोयोग से पढ़नेवाला ही उन समग्र विचारों का सुन्दर गुम्फन कर सकता है। तथापि कतिपय विषयों पर कालिदास के विचार (जिनसे हम अनेक उपदेश ले सकते हैं) यहाँ निबद्ध किये जाते हैं।

कालिदास के विचार-रत्न

(१) शरणागत-रक्षा

शरणागत की रक्षा भारतीयों के धर्म में मुख्य समझी जाती है; सज्जनों ने शरणागत की रक्षा करने के लिये अपने प्रिय प्राणों की भी तिलांजलि दे डाली है। प्राणों को न्योछावर कर शरणागत की रक्षा करने की प्रथा प्राचीनकाल से चली आती है। भारतीय इतिहास इसके पूर्ण साक्षी हैं। राजा शिवि शरणागत बाज के लिये अपनी जान तक देने के लिये तैयार हो गये थे। कालिदास के विचार इस विषय में स्वतः उन्नत हैं। उनका मत यह है:—

क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव।

—कुमार० १।१२

यदि कोई छोटी जाति का या गुणहीन भी मनुष्य शरण में आ जाय तो सज्जन लोग उस पर उतनी ही ममता—मेरा है ऐसा अभिमान—रखते हैं, जितनी उच्चकुल में उत्पन्न गुणवान् मनुष्य पर होती है। कितनी उच्चकोटि की शिक्षा है—सहायता करने में

जाति-पाँति का संकीर्ण विचार कभी नहीं करना चाहिये। ब्राह्मण हो या शूद्र, पातकी हो या पुण्यात्मा, जब आपके द्वार पर सहायता के लिये आ जाय तो उसको नीच जाति का ख्याल कर दुरदुराना सर्वथा निन्दनीय है। सर्वश्रेष्ठ भाव यह है कि सब पर बराबर ममता रखी जाय और यथाशक्ति सहायता दी जाय। मनुष्यों को ऐसी उज्ज्वल शिक्षा को गांठ बाँध लेनी चाहिये।

(२) आदर्श धीर

धीर का लक्षण कवि ने परिमित शब्दों में बहुत ही अच्छा दिया है:—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

—कुमार, १।५९

धीर वही है जिसका चित्त विकार पैदा करनेवाले कारणों के रहने पर भी विकृत न हो। यह लक्षण कितना विशद तथा तात्त्विक है। धीरता की सच्ची कसौटी यही है कि सैकड़ों वासनायें मन को बुरा बनाने पर तुली हों, परन्तु चित्त की वृत्ति में कुछ भी विकार नहीं पैदा होता। इसी भाव का यह प्रसिद्ध पद्य है:—

नवे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते।

शान्त वही है जो युवावस्था में शान्त है। जब प्रलोभनों का अन्त हो जायगा तो शान्ति स्वयं आ जायगी। बुढ़ापे की शांति को क्या असली शान्ति कहेंगे? हमें चाहिये कि सच्चे धीर बनने का सतत प्रयत्न करें।

(३) मित्र-माहात्म्य

सच्चे मित्र की प्रशंसा है। यदि एक भी सच्चा मित्र मिल जाय तो जीवन की गति अच्छी बन सकती है। सुख के दिनों में सदा साथ देनेवाले बहुत मिलेंगे, परन्तु विपत्ति आ जाने पर मित्र का साथ देने वाले कम मिलते हैं; मित्रों की पहचान के लिये दुःख निकष-ग्रावा है। विपत् की कसौटी पर कसे जाने पर चमकने वाले मित्र ही आदर्श मित्र हैं। ऐसे मित्रों के प्रेम के विषय में कवि का मत है:—

दीयतास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने।

—कुमार ४।२८

पुरुष का प्रेम पत्नी पर निश्चल नहीं, परन्तु मित्रजनों पर प्रेम सदा अटल रहता है। ऐसे ही मित्रों से जीवन सुखमय बन जाता है। आजकल के नवयुवकों को सोच-समझकर किसी से मैत्री करनी चाहिये।

(४) सच्चा प्रेम

किसी किसी कवि ने प्रेम के विषय में इसे सिद्धान्त-सा मान लिया है—"मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् स्नेहः प्रवासाश्रयात्" अर्थात् विदेश में रहने से स्नेह नष्ट हो जाता है। ये महानुभाव संयोग में ही स्नेह का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि प्रेम वियोग होते ही उड़ जाता है। कालिदास ने इस सिद्धान्त का सर्वथा खण्डन किया है। उनका मत है:—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगात्
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ।
—उत्तरमेघ ।

घटने की बात तो दूर रहे, वियोग में स्नेह बढ़ता है। कारण यह है कि वियोग में स्नेहरस का आस्वादन नहीं होता। अतः रस एकत्र होते २ महान् राशि बन जाता है। इसके विपरीत, संयोग में प्रेम आस्वादन के कारण घटता हुआ प्रतीत होता है। किस सहृदय को यह सिद्धान्त मान्य नहीं ?

(५) सज्जन

सज्जन के विषय में कालिदास के विचार सुनने लायक हैं। उसका आचरण करना अपने को मनुष्यों में उच्च बनाना है। कवि अपनी सुन्दर सम्मति दे रहा है:—

निःशब्दोऽपि प्रदिशति जलं याचितश्चातकेभ्यः ।
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥
उत्तर मेघ ।

सज्जन प्रणयी जनों की याचना का जवाब उनकी अभिलाषा को पूरा करने ही से देते हैं, मुख से इच्छापूर्ति के वचन नहीं कहते। माँगी हुई चीज़ को ही दे डालते हैं—याचना की सिद्धि कर देते हैं। बस उसका यही उत्तर है। मुख से केवल शब्दों का व्यर्थ खर्च नहीं करते, शीघ्र मनोरथ ही पूरा कर देते हैं। चातक ने मेघ से प्यास बुझाने के लिये जल माँगा। मेघ गर्जन रूपी शब्दों से इसे स्वीकार नहीं करता। वरन् जल बरसाकर उसे तृप्त कर देता है—सज्जनों का

उत्तर कार्यमय होता है शब्दमय नहीं। वे ही सच्चे सज्जन हैं जो प्रणयी की अभिलाषा पूर्ण करके दिखा देते हैं। इस ऊँची पदवी के योग्य वे लोग नहीं हैं जो मुँह से काम करने की प्रतिज्ञा कर देते हैं, परन्तु उसे पूरा करने से कोसों दूर भागते हैं। इसी भाव को किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है:—

गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः
नीचो वदति न कुरुते, न वदति सुजनः करोत्येव।

(६) सुख-दुःख

कालिदास ने दुःख-सुख के परिवर्तन की उपमा पहिये की नेमि से दी है। जिस प्रकार पहिये की नेमि नीचे से ऊपर तथा ऊपर से नीचे घुमा करती है, उसी प्रकार दुःख-सुख की भी दशा है। संसार में कौन ऐसा मनुष्य है जो सदा सुख भोगे और कौन ऐसा है जो दुःख के नरक में पड़ा हुआ सदा आहें भरा करे? संसार का इतिहास साक्षी है कि अवनति के बाद उन्नति तथा उन्नति के बाद अवनति अवश्य होती है। इस सिद्धान्त में तनिक भी संदेह नहीं है। मेरी समझ में भारतभूमि के लाडिले सपूत कालिदास मेघदूत के द्वारा अपनी प्यारी जननी के पास संदेश भेज रहे हैं:—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

—उत्तरमेघ।

हे भारतभूमि घबड़ाओ नहीं, दुःख सदा नहीं रहता। पराधीनता पंक में फँसी हुई भी तुम्हें यह सोचना न चाहिये कि इस

विपत् से उद्धार नहीं होगा। ज्ञान सूर्य की किरणें अब चमकने लगी हैं। उन्नति तथा स्वाधीनता की ऊषा अपनी लालिमामयी साड़ी पहने तुम्हारा स्वागत करने के लिये आरही है। घबड़ाने का समय नहीं। पहिये की नेमि की तरह दुःख तथा सुख परिवर्तित होते रहते हैं। भास कवि ने ऐसा ही कहा है:—

चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः (स्वप्नवासवदत्ता)।

(७) निर्धन

अंग्रेजी में एक कहावत है—Empty sack can not stand erect. निर्धन कभी इमानदार नहीं हो सकता। परन्तु कहने की जरूरत नहीं कि यह बहुत अंशों में गलत है। क्या भारत में और क्या विदेश में, हजारों निर्धन ऐसे हैं जो धनिकों से कहीं बढ़कर इमानदार हैं। आजकल तो यह देखा जाता है कि धनिक ही अधिक बेइमान हैं। परन्तु कालिदास का गरीबों के विषय में यह विचार सर्वथा अखण्डनीय है:—

रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।

—उत्तर मेघ।

सब खाली चीजें हलकी होती हैं, निर्धन का सब जगह निरादर होता है। परन्तु भरपूर होने से भारीपन आता है। धनिकों का सब जगह आदर होता है। सोचिये इस विचार में कितनी सचाई है। अन्य देशों में अपमान सहनेवाले निर्धन भारतीय इस सिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

(८) धन का फल

धन इकट्ठा करना ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य नहीं है। रुपया कमाकर उसे अपने ही काम में खर्च करना ठीक नहीं है। स्वार्थ-पंक में फँसकर जीवन बिताना कभी श्रेयस्कर नहीं है। रुपये का एक उद्देश्य भोजन बिना मरनेवाले भाइयों की मदद करना भी होना चाहिये। धन इकट्ठा करो सही, पर दूसरों के दुःख दूर करने में भी उसका व्यय भी करना चाहिये। कालिदास की यही राय है:—

आपन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम्

—पूर्वमेघ

उत्तम पुरुषों की संपत्ति का फल यही है कि वह विपद में पड़े हुये मनुष्यों के दुःखों को दूर करे। ठीक है—परोपकाराय सतां विभूतयः।

(९) कृतज्ञता

कालिदास कृतज्ञता को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। सब मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि उपकारी को समय पड़ने पर सहायता करें।

न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः।

—पूर्वमेघ।

छोटे मनुष्यों के पास भी यदि कोई मित्र आश्रय के लिये आ जाय, तो उसके पहिले किये गये उपकारों को याद कर उसे जरूरी है कि वह विमुख न करे—यथाशक्ति आश्रय दे। फिर बड़ों

की तो बात ही क्या है ? छोटा या बड़ा, गरीब या धनिक, सबका कर्तव्य है कि उपकारी के साथ कृतज्ञता प्रकट करे। लोक या शास्त्र में कृतघ्नी की बड़ी निन्दा है।

(१०) विपत्ति

विलाप के विषय में कालिदास ने अपना मत यों प्रगट किया है:—

स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।

—कुमार ४।२६

किसी स्नेही परिचित के आगे दुःख के द्वार मानो खुल जाते हैं। जिस प्रकार द्वार खुल जाने पर भीतर रोकी गई चोज़ बड़े वेग से बाहर आने लगती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में दबा दबाया दुःख बन्धुजन के आगे आँसुओं के रूप में निरन्तर निकलने लगता है। कालिदास के मानव-भाव-चित्रण का यह ख़ासा नमूना है। कहने की ज़रूरत नहीं कि वास्तव में अनुभव इसकी ताईद करता है— इसकी सत्यता प्रमाणित करता है।

उपसंहार

इसमें बहुत से विचार बिल्कुल नवीन हैं; बहुत से पुराने भी हैं। परन्तु कालिदास ने उन्हें नये मधुर शब्दों में लिखकर जीता जागता बना डाला है। इन विचारों के अनुसार कार्य करने से जीवन की गति अच्छी हो सकती है। काव्य-रसिकों को कविता-सुधा का पूर्ण आनन्द लेते हुये इन शिक्षाओं को बिल्कुल भुलाना नहीं चाहिये। वे आनन्द-सागर में गोते लगावें, परन्तु साथ ही साथ इन उपदेशरत्नों को भी तिरस्कार की दृष्टि से न देखें।

४—अश्वघोष

बौद्ध-आचार्यों में अश्वघोष का स्थान बहुत ही ऊँचा है। महायान सम्प्रदाय को दृढ़ भित्ति पर स्थिर करनेवाले आचार्यों में इनका नाम सबसे पहले लिया जाता है। अभी तक साहित्य-संसार इनकी दार्शनिक कृतियों से ही (जिनका अनुवाद चीनी, तिब्बती, जापानी आदि पूर्वी भाषाओं में हजारों वर्ष पहले हो चुका है) परिचित था, परन्तु नई खोज से इनका नाम संस्कृत-साहित्य के महाकवियों में भी उल्लेखनीय हो गया है। नई खोज से न केवल इनके महाकाव्यों का ही पता लगा है, बल्कि सुदूर मध्यएशिया में की गई खुदाई से इनके एक अपूर्ण परन्तु महत्त्वपूर्ण नाटक की भी उपलब्धि हुई है। १८९२ ई० के पहले अश्वघोष का नाम केवल बौद्ध दार्शनिकों की ही श्रेणी में स्थान पाता था, परन्तु आज वह न केवल एक महाकाव्य निर्माता की दृष्टि से देखा जाता है वरन सुयोग्य नाटककारों की उज्वल पंक्ति में ऊँचा स्थान रखता है।

सौभाग्यवश अश्वघोष के जीवन की मुख्यघटनाओं पर भारतीय तथा चीन देशीय दन्त-कथाओं से अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनसे जान पड़ता है कि इनका जन्म

जीवन वृत्त

साकेत—अयोध्या—में हुआ था। इनकी माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' था। इनके महाकाव्यों में वेद तथा शास्त्रों की अनेक बातें मिलती है जिससे इनका एक शिक्षित

ब्राह्मण-कुल में जन्म लेना सिद्ध होता है। बचपन में इन्हें वैदिक धर्म की शिक्षा दी गई थी; परन्तु समयानन्तर पार्श्व के शिष्य **पूर्णयशस** ने इन्हें बौद्धधर्म्म में दीक्षित किया। ये पार्श्व अपने समय के एक बड़े विद्वान् भिक्षु थे और कहा जाता है कि कनिष्क महाराज के द्वारा सङ्गठित चतुर्थ बौद्ध-समिति के, (जो ई० सन् १०० के आस-पास जालन्धर में हुई थी), ये प्रधान —सभापति—थे। एक जन-श्रति के अनुसार 'कात्यायनी पुत्र' ने अभिधर्म पिटक की 'महाविभाषा' नामक महती टीका में सहायता लेने के लिये इन्हें काबुल बुलाया था। ह्वेनच्वांग की साक्षी पर यह महाविभाषा कनिष्क की चतुर्थ बौद्ध-समिति में तैयार की गई थी। बौद्धधर्म में दीक्षित होनेपर अश्वघोष ने शाक्यमुनि के धम के प्रचार में अपनी सारी शक्ति लगा दी। इन्होंने पाटलि-पुत्र में आकर साधारण जनता को बौद्धधर्म के गूढ़ रहस्यों को मधुर भाषा में समझाना आरम्भ कर दिया। अश्वघोष ने प्रचार-कार्य्य में न केवल अपनी दार्शनिक तथा कवित्व शक्ति को ही खर्च किया बल्कि अपने अलौकिक संगीत-ज्ञान का भी पूरा उपयोग किया। कहा जाता है कि इनके व्याख्यान इतने मधुर, रोचक तथा आकर्षक होते थे कि हिनहिनाता घोड़ा भी अपनी हिनहिनाहट छोड़कर मौन बन, सावधानता से उन्हें सुनने लगता था। कविवर का 'अश्वघोष' (अर्थात घोड़ों की आवाज़) नाम इन्हीं आकर्षक मनोमुग्धकारी व्याख्यानों के कारण पड़ा।

एक दूसरी दन्त-कथा के अनुसार, सुनते हैं, अश्वघोष का यह

धर्म-प्रचार अचानक रुक गया। चन्दन-कनिष्क—सम्भवतः प्रसिद्ध कुषाणवंशी महाराजा कनिष्क—ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। पाटलिपुत्र (पटना) के शासक ने हार मानकर छः करोड़ रुपया देना स्वीकार किया। उसने तीन करोड़ रुपयों के बदले में बुद्ध भगवान् के भिक्षा-पात्र को दे डाला और शेष तीन करोड़ में अश्वघोष को कनिष्क के अर्पण किया। कनिष्क अश्वघोष को अपनी राजधानी पेशावर में लाया और उनसे बौद्धधर्म की दीक्षा लेकर स्वयं उनका शिष्य बन गया। अश्वघोष ने अपनी शेष आयु कनिष्क को बौद्धधर्म के उपदेश देने में बिताई और उनकी ही शिक्षा का यह प्रभाव था कि कनिष्क ने अशोक के समान बुद्धधर्म के प्रचार के लिए चीन, तिब्बत, मध्य-एशिया, जापान आदि देशों में भिक्षुओं को भेजा। उन्हीं के प्रयत्नों का यह फल है कि अपनी जन्मभूमि से उत्पाटित होने पर भी यह धर्म-वृक्ष इन पूर्वी देशों में अभी तक हरा भरा है। सारांश यह है कि समग्र दन्त-कथाएँ कुशानवंशी कनिष्क* के साथ अश्वघोष का घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करती हैं। अतएव निश्चित

* कनिष्क-काल के विषय में ऐतिहासिकों में बड़ा मत-भेद है। फ्लीट, फ्रैंके, लूडर्स आदि विद्वानों की सम्मति में कनिष्क ने ही विक्रम सम्वत् को चलाया, अतः उसका काल ५८ ई० पूर्व के आस-पास है। डाक्टर भण्डारकर आदि कतिपय भारतीय विद्वानों की राय में ईसा की तीसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध कनिष्क का काल है। परन्तु ये मत ठीक नहीं जँचते। किसी कुशान-वंशी राजा के ही राज्याभिषेक से शक-काल का आरम्भ होता है। इसको पुष्ट करनेवाले एक प्रमाण की उपलब्धि हाल में ही हुई है। मथुरा के आस-पास के एक प्रसिद्ध देवकुल से, जहाँ

है कि अश्वघोष का समय भी ईसा की पहली शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा दूसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध (७५-१५० ई०) है।

कनिष्क के सारनाथ के शिला लेख में किसी **राजा अश्वघोष** का उल्लेख है। कई विद्वानों की राय है कि यह शिला-लेख महाकवि अश्वघोष से सम्बन्ध रखता है। एक बड़े भारी भिक्षु को राजा की उपाधि धारण करना कुछ असम्भव नहीं जँचता, क्योंकि आज-कल भी प्रभावशाली सन्यासी तथा महन्त 'महाराज' कहे जाते हैं। परन्तु मेरी सम्मति में इस शिला-लेख से महाकवि का कोई

कनिष्क की विशाल पत्थर की मूर्ति मिली है, वेम कैडफाइसस नामक राजा की भी शिलामयी प्रतिमा उपलब्ध हुई है। प्रतिमा के निर्माण का काल पांचवें वर्ष में है, परन्तु उस पर किसी सम्बत् का उल्लेख नहीं है। उसी देवकुल से काठियावाड़ के पश्चिमी क्षत्रपों के राज्य की नींव डालने वाले चष्टन की भी शिलामयी प्रतिमा मिली है। एक ही देवकुल से क्षत्रपों तथा कुशानों की प्रतिमा के मिलने से ज्ञात होता है कि क्षत्रप लोग कुशन-वंशियों के नज़दीकी थे। सम्भवतः क्षत्रप लोग कुशानों के द्वारा काठियावाड़ के ऊपर शासन करने के लिए गवर्नर नियुक्त किये गये थे। यह निर्विवाद है कि क्षत्रपों के शिला-लेखों का समय शककाल में दिया गया है। अतएव वेम कैडफाइसस की प्रतिमा का समय भी शक संवत में ही दिया गया होगा। कुशानबंशियों का शक सम्बत के साथ घनिष्ठ संबंध है। अतः इनका समय शक-काल के आरम्भ (७८ ई०) से बहुत पीछे नहीं है। कनिष्क का भी समय ईस्वी की प्रथम शताब्दी से प्राचीन नहीं है। सम्भवतः वेम कैडफाइसस (कनिष्क का पूर्व वर्ती राजा) के राज्याभिषेक के उपलक्ष में शककाल चलाया गया था।

सम्बन्ध नहीं है। अधिकतर सम्भव है कि यह शिला-लेख किसी अश्वघोष नामक स्थानीय शासक से सम्बन्ध रखता हो।

अश्वघोष के **आर्यशूर, मातृचेट** आदि कितने उपनामों का चीनी तथा तिब्बती ग्रन्थकारों ने उल्लेख किया है। परन्तु इस कथन में कुछ सत्यता नहीं जान पड़ती। बुद्धधर्म के इतिहासकार तिब्बती तारानाथ ने मातृचेट तथा अश्वघोष को एकही व्यक्ति माना है। परन्तु चीनी यात्री इत्सिंग (६०५ ई० - ६९५ ई०) के कथन से इनकी एकता सिद्ध नहीं होती। उसने मातृचेट के डेढ़ सौ पद्यों वाले एक स्तोत्र की प्रशस्त प्रशंसा की है और लिखा है कि अश्वघोष वगैरह प्रसिद्ध विद्वान् भी मातृचेट के अनुकरण करने से नहीं हिचकते थे। इस कथन से मातृचेट तथा अश्वघोष की भिन्नता स्पष्ट सिद्ध होती है। मातृचेट का कनिष्क के नाम लिखा हुआ 'कणिक लेख' नामक पद्यात्मक एक पत्र[1] तिब्बती भाषा में अभी तक संरक्षित है। इस पत्र में मातृचेट ने बुढ़ापे के कारण कणिक (सम्भवतः कनिष्क) के पास आने में असमर्थता प्रगट की है। परन्तु अश्वघोष का महाराज कनिष्क के साथ रहना निस्सन्देह सिद्ध है। अतएव कणिकलेख के आधार पर भी अश्वघोष मातचेट से भिन्न ही ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार आर्यशूर भी व्यक्तिवाचक नाम जान पड़ता है। अतएव अश्वघोष, मातृचेट तथा आर्यशूर को एक ही व्यक्ति मानना समुचित नहीं जान पड़ता।

---

१. इस पत्र का अंग्रेजी अनुवाद डाक्टर टामस ने इण्डियन एन्टिक्वेरी १९०३ साल में किया है।

ग्रन्थावली

अश्वघोष के बनाये हुए ग्रन्थ[1] ये हैं—

[१] **बुद्धचरित**—यह एक महाकाव्य है। इसे प्रोफेसर कावेल ने १८९३ ई० में इङ्गलेण्ड से प्रकाशित किया है। यहकाव्य खण्डित है। सन् ४०४ के लगभग चीनी भाषा में इसका अनुवाद हुआ था तथा ८०० के आस पास तिब्बती भाषा में। इसमें भगवान् बुद्ध का चरित विशद रूप से वर्णित है। भाषा-शैली अत्यन्त सरल तथा मधुर है। उपमायें बड़ी ही सुन्दर तथा समुचित हैं। स्थान-स्थानपर प्राकृतिक वर्णन अत्यन्त सजीव है।

[२] **सौन्दरनन्द महाकाव्य**—महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इस काव्य को कलकत्ते से प्रकाशित किया है। इसमें सुन्दरनन्द नामक गौतमबुद्ध के छोटे भाई के, जो सांसारिक सुखों में ही लिप्त था, बौद्धधर्म में दीक्षित होकर तपस्या करने का वृत्तांत विशद रूप से वर्णित है। स्थान-स्थान पर बौद्धधर्म के दार्शनिक रूखे सिद्धान्त कोमल, सरल, सुधा-वर्षिणी भाषा में परिचित उपमा तथा रूपक के द्वारा समझाये गये हैं। कविताशैली शुद्ध वैदर्भी है; भाषा की सरलता तथा कोमलता में यह काव्य अपना सानी नहीं रखता। कविता की सजीवता दर्शनीय है।

---

१. जहाँ तक निश्चय किया जा सकता है, येही ग्रन्थ महाकवि अश्वघोष की लेखनी से प्रसूत हैं। इनके नाम से और भी अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिनकी सत्यता में बहुत सन्देह है।

[३] **शारिपुत्र प्रकरण**—इसकी उपलब्धि अभी हाल में हुई है। मध्यएशिया में तुरफान की खोज में इसके कुछ अंश मिले हैं। डाक्टर लूडर्स ने बर्लिन से इसे प्रकाशित किया है। संस्कृत के अन्य उत्तम नाटकों की भांति नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, गद्य-पद्य का मिश्रण, संस्कृत तथा विभिन्न प्राकृत का प्रयोग, भरतवाक्य-आदि सभी नाटकीय विलक्षणतायें इसमें उपलब्ध होती हैं, जिससे संस्कृत नाटक के उत्पन्न होने का काल ईसा से कितने ही शताब्दी पूर्व सिद्ध होता है।

[४] **वज्रसूचि उपनिषद्**—इसमें जन्मना जाति का पूर्णतया खण्डन किया गया है। बौद्ध लोग जाति पाँति कुछ नहीं मानते। बौद्धों के आशय को प्रकट करते हुये अश्वघोष ने वर्ण-व्यवस्था को खूब आड़े हाथों लिया है।

[५] **महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र**—इस पुस्तक का चीनी भाषा से अँग्रेजी में अनुवाद जापानी विद्वान् सुजुकी ने किया है। इसका मूल संस्कृत ग्रन्थ अब बिल्कुल लुप्त हो गया है। इस छोटे ग्रन्थ में समग्र महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया गया है। यह रूखा दार्शनिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अश्वघोष की गम्भीर दार्शनिक अभिज्ञता को सूचित करता है।

[६] **सूत्रालङ्कार**—यह ग्रन्थ चीनी भाषा से फ्रेन्च में अनुवादित है। अभी तक किसी ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद नहीं किया। इसमें छोटे-छोटे किस्सों के द्वारा बौद्धधर्म के आचारों का वर्णन किया गया है। यह तत्कालीन भारतीय समाज

के ऊपर विशद प्रकाश डालता है। तत्कालीन भारतीयों की खाद्य-सामग्री, संगीत-प्रेम आदि अनेक ज्ञातव्य बातें इससे जानी जाती हैं। कथानक साहित्य में भी इसका स्थान ऊँचा है। आर्यदेव आदि परवर्ती ग्रन्थकारों ने सूत्रालङ्कार की अनेक कथाओं को अपनी पुस्तकों में उद्धृत किया है। इनके तारतम्य से अनेक साहित्यिक बातें ज्ञात होती हैं।

कविता

अश्वघोष की कविता-शैली उत्कृष्ट वैदर्भी है। स्वाभाविकता की यह खान है और कृत्रिमता से कोसों दूर है। कविता धारा-प्रवाह से बहती जाती है। माधुर्य तथा प्रसाद गुण तो इसमें कूट-कूट कर भरे हुये हैं। कविता को हृदयंगम करने में कुछ भी देर नहीं लगती। उपमा का इतना अनुरूप प्रयोग कम देखने में आता है। अश्वघोष ने रूखे सूखे दार्शनिक तत्त्वों को मधुर भाषा में घरेलू परिचित दृष्टान्तों के द्वारा ऐसी खूबसूरती से समझाया है कि बिना किसी परिश्रम के वे हृदयंगम हो जाते हैं। वास्तव में दर्शन को इतनी मधुर तथा सरल भाषा में समझाना कोई हँसी-खेल नहीं है। मानव हृदय का भी सच्चा वर्णन पाया जाता है तथा स्थूल प्रकृति का भी। रसों का भी मनोहारी वर्णन है। शृंगाररस की सुन्दरता खूब ही देखने में आती है। करुणरस का प्रवाह भी अपने वेग से सहृदय हृदय को द्रवीभूत कर देता है परन्तु सबसे अधिक शान्त-रस ही दृष्टिगोचर होता है। नीचे से ऊपर तक इनकी कविता शान्त रस में पगी हुई है।

कविवर अश्वघोप की उपमायें जितनी स्वाभाविक हैं, उतनी ही अनुपम हैं। उपमा की अनुरूपता तथा नवीनता के विषय में अश्वघोष कालिदास से टक्कर लेते हैं—कालिदास की प्रसिद्ध उपमाओं की तरह ये उपमाएँ भी संस्कृत-साहित्य में अपना सानी नहीं रखतीं। इन उपमाओं में प्रकृति का जितना सुन्दर उपयोग किया गया है, जितना लिङ्ग-समता का ख़याल रखा गया है, जितनी चमत्कारिकता तथा विलक्षणता पर दृष्टि रखी गई है, उसकी उतनी प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकते! इन सबका सुन्दर प्रयोग अश्वघोष को डंके की चोट से महाकवि सिद्ध कर रहा है। कतिपय उपमायें नीचे उद्धृत की जाती हैं:—

उपमा तथा रूपक का औचित्य

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष,
भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ;
तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥

४ स०, ४२ श्लो०।

जब नंद को अपने महल में भगवान् बुद्ध के आगमन तथा निराश लौट जाने के दुःखद समाचार मालूम हुए, तो वह शीघ्र ही अपनी प्यारी से छुट्टी लेकर बुद्धदेव के पास चला। बुद्धदेव में जितना गौरव वह रखता था वह उसे आगे की ओर खींचता था और उसकी प्रियतमा का अनुराग उसे पीछे खींचता था। इस अनिश्चय में पड़ा हुआ नंद न तो वहाँ से आ सका और न वहाँ

खड़ा ही रह सका। उसकी दशा वैसी ही थी जैसी तरंगों में तैरते हुए राजहंस की होती है। तरंग का झोंका राजहंस को पीछे लौटने को बाध्य करता है और तैरता हुआ हंस आगे पढ़ने का सतत प्रयत्न करता है। न तो आगे बढ़ता है और न स्थिर भाव से एक जगह ठहर सकता है। स्वाभाविक मनोवृत्ति का यह यथार्थ दिग्दर्शन है। नंद और राजहंस की उपमा कितनी सुन्दर सोची गई है। इसी भाव की द्योतिका उपमा कालिदास ने भी प्रयुक्त की है:—

मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः,
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।

—कुमार० ५।८५

इसी भाव को कवि ने एक और सुन्दर उपमा से व्यक्त किया है :—

स कामरागेण निगृह्यमाणो,
धर्मानुरागेण च कृष्यमाणः।
जगाम दुःखेन विवर्त्यमानः;
प्लवः प्रतिस्रोत इवापगायाः॥

—४ स० ४४ श्लो०

उस नन्द को काम-राग एक ओर खींच रहा था और धर्मानुराग दूसरी ओर। इन दोनों प्रतिकूल झंझटों में पड़ा हुआ वह बड़े दुःख से आगे बढ़ सका, जिस प्रकार नदी की धारा के प्रतिकूल जानेवाली नाव बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ सकती है।

तस्याः मुखं पद्मसपत्नभूतं,
पाणौ स्थितं पल्लवरागताम्रे ।
छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य ;
बभौ नतं पद्ममिवोपरिष्टात् ॥

—६ स० ११ श्लो०

सुन्दरी अपने प्राण-प्यारे के विरह में अकेली बैठी है। पल्लव के रंग की तरह ताम्र-वर्णवाले हाथ पर कमल की शोभा धारण करने वाला मुख रखा हुआ है। जान पड़ता है कि जल में प्रतिबिम्बित कमल के ऊपर झुका हुआ कोई कमल हो।

उपमा की तरह रूपक का भी समुचित प्रयोग अश्वघोष ने किया है। इन रूपकों में भी अनुरूपता तथा नवीनता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

सा हासहंसा नयनद्विरेफा, पीनस्तनाभ्युन्नतपद्मकोषा ।
भूषा वभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥

—४ । ४०

वह सुन्दरी नंद के द्वारा अत्यन्त शोभित होती थी। वह स्त्री पद्मिनी नन्दरूपी सूर्य से, जो अपने कुल में उदित हुआ था, बारम्बार विकसित की जाती थी। सुन्दरीरूपी कमलिनी का हास (हँसी) हंस था; नेत्र भौंरे थे, मोटे स्तन पद्मकोष थे; इस प्रकार वह सुन्दरी एक सुन्दर पद्मिनी थी, जिसने नन्दरूपी सूर्य से विकास पाया था।

बुद्ध के धर्म-चक्र-परिवर्तन का सुन्दर रूपक देखिये:—

अथ धर्मचक्रमृतनाभि, धृतिमतिसमाधिनेमिमत् ।
तत्र विनयनियमारमृषिर्जगतो हिताय परिषद्यवर्तयत् ॥

—३ स० ११ प०

उस मृगदाव के परिषद् में महर्षि बुद्धदेव ने संसार के हित के लिये उस धर्म-चक्र को चलाया—वह धर्मचक्र, जिसको नाभि सत्य था, धैर्य, मति तथा समाधि जिसकी नेमि थे और विनय तथा नियम जिसके अर थे ।

बुद्धधर्म के सुन्दर उपदेश

"सौन्दरनन्द' महाकाव्य में अश्वघोष ने अत्यन्त रोचक तथा सरल शब्दों में बुद्धधर्म के सिद्धान्तों को प्रकट किया है, जिनके समझने में पाठको को कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता । पाठकों के ज्ञान के लिये कतिपय पद्य उद्धत किये जाते हैं:—

दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद्,
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
तथा कृती निर्वृत्तिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
क्लेशक्षयात केवलमेति शान्तिम् ॥

—१६ । २८-२९

इन पद्यों में निर्वाण का तत्त्व समझाया गया है। साधारण लोगों का यह गलत खयाल है कि मरने के अनन्तर किसी दूसरे पवित्र आनन्दमय लोक में मनुष्य निर्वाण पाता है। यह बात ठीक नहीं, तत्त्व तो यही है कि इसी लोक में क्लेशनाश से मनुष्य निर्वाण पा लेता है—शान्त हो जाता है। अश्वघोष इस निर्वाण-तत्त्व को दीपक के दृष्टान्त से समझा रहे हैं। जिस प्रकार निर्वृत्ति पाया हुआ—बुझा हुआ—दीपक न तो कहीं और पृथिवी में जाता है, न आकाश में, वह न तो किसी दिशा में जाता है न किसी विदिशा में (दिशाओं के कोण-भागों में)। वरन् स्नेह (तेल) के नाश हो जाने पर उसी स्थान पर शान्ति पा लेता है। उसी प्रकार निर्वाण को पानेवाला विद्वान् न तो कहीं पृथ्वी पर जाता है न आकाश में। न किसी दिशा में जाता है न किसी विदिशा में; वरन् क्लेशों के नाश हो जाने पर वह ऐकान्तिक शान्ति को पा लेता है। इसी लोक में निर्वाण की प्राप्ति होती है, किसी दूसरे लोक में नहीं। कठिन समस्या को समझाने लिये इससे भी स्पष्ट भाषा का प्रयोग शायद ही कहीं मिलेगा !

यथा हि भीतो निशि तस्करेभ्यो,
द्वारं प्रियेभ्यो ऽपि न दातुमिच्छेत्।
प्राज्ञस्तथा संहरति प्रयोगं,
समं शुभस्याप्यशुभस्य दोषैः ॥

—१६ स० ७६ प०।

भावार्थ—जिस प्रकार चोरों से भयभीत मनुष्य रात में अपने

प्रिय के लिये भी दरवाजा नहीं खोलता, उसी प्रकार कार्यों के दोषमय होने से विद्वान् लोग शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कार्यों का प्रयोग एक साथ छोड़ देते हैं। न तो वे बुरा काम करते हैं और न अच्छा ही।

उपर्युक्त अवतरणों से पाठकों ने अश्वघोष की काव्य-चातुरी का परिचय पा लिया होगा।

शरीर की अनित्यता

सौन्दरनन्द महाकाव्य में महाकवि अश्वघोष ने शरीर की अनित्यता को सुन्दर युक्तियों से प्रतिपादित किया है। जब बौद्ध-धर्म स्वीकार करने पर भी, भिक्षु हो जाने पर भी, सुन्दरनन्द के चञ्चल चित्त से विषय-वासना उन्मूलित नहीं हो सकी, जब वह अपनी प्यारी स्त्री में अनुरक्त अपने चित्त को कामना से विरहित नहीं कर सका, तब मैत्रेय भिक्षु ने एक बड़ा सारगर्भित व्याख्यान "शरीर की अनित्यता" पर दिया। यह वर्णन समग्र ९ वें सर्ग में दिया हुआ है। युक्तियों की अपूर्वता, उपमाओं की अनुरूपता, उदाहरणों की अनुकूलता, भावों की सुष्ठुता, तथा भाषा की मधुरता के मिश्रण से ऐसा सुन्दर वर्णन संस्कृत-साहित्य में बड़ी कठिनता से उपलब्ध होगा। इस रोचक व्याख्यान के कतिपय पद्यों को हम पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं।

शरीरमामादपि मृन्मयात् घटात् इदन्तु निःसारतमं मतं मम।
चिरं हि तिष्ठेत् विधिवद्धृतो घटः समुच्छ्रयोऽयं सुधृतोऽपि भिद्यते।

इस शरीर में बल का लेश भी नहीं है, इसे व्याधि, जटा, तथा मृत्युरूपी शत्रुओं ने बुरी तरह दबोच रखा है। यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े के समान क्षण-भंगुर है।

मेरी राय है कि यह शरीर मिट्टी के घड़े से भी निःसार है। यदि घड़े को ठीक ठीक काम में लगावें, तो वह बहुत दिनों तक ठहर भी सकता है। परन्तु यह शरीर अच्छी तरह से रखने पर भी टूट जाता है, ठहर नहीं सकता। पद्य कितनी सुन्दरता से शरीर की क्षणभंगुरता सिद्ध कर रहा है।

सच्ची शूरता इन्द्रियों का जीतना है: —

तथा हि वीराः पुरुषा न ते मता जयन्ति ये साश्वरथद्विपान् नरान्
यथा मता वीरतरा मनीषिणो जयन्ति लोलानि षडिन्द्रियाणि ये॥

जो मनुष्य रण में शूरता दिखलाते हैं, घोड़े हाथी रथ से युक्त सैनिकों को जीतते हैं, वे सच्चे शूर नहीं हैं। सच्चे शूर तो वे विद्वान् लोग हैं, जो चञ्चल छहों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हैं। सच्ची वीरता भीतरी जगत के जीतने में है, बाह्य जगत के नहीं।

यथा मयूरश्चलचित्रचन्द्रको बिभर्ति रूपं गुणवत् स्वभावतः।
शरीरसंस्कारगुणादृते तथा बिभर्षि रूपं यदि रूपवानसि॥
यदि प्रतीपं वृणुयान्न वाससा न शौचकाले यदि संस्पृशेदपः।
मृजाविशेषं यदि नाददीत वा वपुर्वपुष्मन्! वद कीदृशं भवेत्॥

इस शरीर को सुन्दर कहना बुद्धि का भ्रम है। सच्ची सुन्दरता तो विचित्र रङ्गवाले चञ्चल पंख धारण करने वाले मयूरों की है; जो स्वभाव से ही इतनी मनोहारिणी है, संस्कार से नहीं। परन्तु

बिना संस्कार के मनुष्य का शरीर कुरूपता का घर बन जायगा।

शरीर की कुरूपता

यदि हम अपने शरीर के दोषयुक्त भागों को वस्त्र से न ढक लें, यदि समय समय पर शुद्धि के विशिष्ट साधनों का उपयोग न करें, तो कहिये ! इस रूपवान् शरीर की क्या दशा होगी ? यह कुरूपता के कीचड़ में लोट-पोट करने लगेगा। सच्ची सुन्दरता नैसर्गिक होती है कृत्रिम नहीं।

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः, क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते, जलं नदीनाञ्च नृणाञ्च यौवनम्॥

गई हुई ऋतु फिर भी लौट आती है। क्षीण चन्द्रमा फिर भी बढ़ता है। ये दोनों प्राकृतिक पदार्थ क्षीण होने पर भी वृद्धि पा जाते हैं, पर नदियों का जल और मनुष्यों का यौवन सदा के लिये चला जाता है। क्षीण होने पर फिर नहीं बढ़ता। इसी के समान भाव का कविवर रुद्रट का यह श्लोक भी संस्कृतज्ञों में खूब प्रसिद्ध है:-

यौवन की चञ्चलता

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते नित्यम्।
विरम विरम सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातंतु॥

× × × ×

सविषा इव संश्रिता लताः परिमृष्टा इव सोरगा गुहाः।
विवृता इव चासयो धृता व्यसनान्ता हि भवन्ति योषितः॥

जिस प्रकार विषैली लताओं के आश्रय करने से दुःख होता

है, जैसे साँपवाली गुफाओं में प्रवेश लेने से विपत्ति आ पड़ती है, जैसे म्यान के बाहर चमकती हुई तलवारों को छूने से विपदा आ घेरती है उसी प्रकार नारी का परिणाम सदैव कष्टमय हुआ करता है।

नारी का स्वरूप

वचनेन हरन्ति वर्णना निशितेन प्रहरन्ति चेतसा।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदये हालहलं महद्विषम्॥

स्त्रियाँ तरह तरह के विचित्र वचनों से पुरुषों के चित्त को आकृष्ट कर लेती हैं, परन्तु अपने कठोर चित्त से—अपने क्रूर व्यवहार से—उन्हें गहरी चोट पहुँचाती हैं। नारियों के वचन में मधु का निवास है, परन्तु उनके हृदय में भयङ्कर हालाहल का। वचनों के मधुमय होने पर भी उनका हृदय बड़ा कुटिल तथा क्रूर हुआ करता है।

सन्यास लेने पर सुन्दरनन्द के मन से उसकी दयिता के चन्द्र-विनिन्दक मुख की मोहकता दूर करने के विचार से मैत्रेय ने उक्त रीति से उसके सामने स्त्रियों का वास्तविक रूप प्रकट किया। परन्तु नन्द का मन विषय-वासना में इतना लिप्त था कि मैत्रेय के कोमल कान्त उपदेशों को सुनकर भी उसका चित्त वैराग्य की ओर न झुका। सन्यास लेकर फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की बात को अश्वघोष ने इतनी मनोहरता से दिखलाई है—इतने मनोरम दृष्टान्तों की कमनीय कल्पना की है—कि उसे पढ़कर सहृदय पुरुषों का चित्त वास्तव में संसार को तुच्छ समझने लगता

दृष्टान्त की कमनीयता

है। कतिपय दृष्टान्तों की छटा स्वयं निरखिये।

कृपणं वत यूथलालसो महतो व्याधभयात् विनि:सृतः।
प्रविवृक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः॥

क्या ही अनर्थ है कि जिस चपल मृग ने व्याध के बड़े भारी संकट से अपने को अभी दूर हटाया है, वह गीत की ध्वनि से वञ्चित होकर फिर भी विषम जाल में फँस जाना चाहता है।

कलभः करिणा खलूद्धृतो बहुपङ्कात् विषमात् नदीतलात्।
जलतर्षवशेन तां पुनः सरितं ग्राहवतीं तितीर्षति॥

संसार से हटकर फिर संसार में प्रवेश करने वाले मनुष्य की दशा उस कलभ (हाथी के बच्चे) के समान होती है जिसे हाथी ने बहुत पंकवाले भयंकर नदी के तल से निकाल बाहर किया है; परंतु जो प्यास के मारे व्याकुल होकर उसी ग्राहवाली नदी को पार करना चाहता है।

शरणे सभुजङ्गमे स्वपन् प्रतिबुद्धेन नरेण बोधितः।
तरुणः खलु जातविभ्रमः स्वयमुग्रं भुजगं जिघृक्षति॥

जिस प्रकार साँपवाले घर में सोया हुआ कोई व्यक्ति पहले जगे हुए किसी मनुष्य से जगाये जाने पर भी होश नहीं सँभालता, बल्कि इसके विपरीत भ्रान्ति में पड़कर उस भयंकर साँप को स्वयं पकड़ने की इच्छा करता है, उसी प्रकार सन्तों के मधुर उपदेश को सुनकर भी जो मनुष्य नहीं चेतता है, बल्कि सर्परूपी विषय को स्वयं पकड़ना चाहता है। उसकी दशा उसी प्रकार भयानक तथा शोचनीय होती है। देखिये! इन मनोहर उदाहरणों को देकर

अश्वघोष ने बड़ी सुगमता से संसार की भयंकरता तथा वैराग्य की उपकारिता प्रतिपादित की है।

महाकवि अश्वघोष करुण-रस के वर्णन में भी अतीव दक्ष हैं। उनके दोनों महाकाव्यों में करुण-रस-विषयक अनेक प्रसङ्ग हैं। नन्द के भिक्षु बन जाने पर उसकी हृदयेश्वरी सुन्दरी का विलाप, पत्नी के लिये नन्द का शोक, बालक सिद्धार्थ के प्रव्रज्या-ग्रहण करने पर दयिता यशोधरा, माता माया, तथा पिता शुद्धोदन के विलाप—इतने करुणोत्पादक हैं कि इन्हें सुन विरले मनुष्यों के हृदय में करुण-रस की नदी न उमड़ पड़ेगी तथा आँखों में आँसुओं की अविरल धारा न निकल पड़ेगी। बुद्ध-चरित का आठवाँ सर्ग आरम्भ से अन्त तक करुण-रस से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त अन्य रसों का भी यथास्थान सन्निवेश पाया जाता है। सिद्धार्थ ने जिस रात में राज्य-पाट छोड़ प्रव्रज्या ग्रहण की उसी रात में इनके पिता के महल में बड़ा भारी उत्सव मनाया गया था। उस वर्णन में शृंगाररस से युक्त अनेक दृश्य दिखलाये गये हैं।[1]

रस वर्णन

१—नई खोज से पता चलता है कि जो पुस्तक अब तक अश्वघोष कृत 'सूत्रालङ्कार' के नाम से प्रसिद्ध थी वह वास्तव में कुमारलात कवि की 'कल्पनामण्डितिका' है। डाक्टर ल्यूडर्स (Dr. Luders) ने इसे सम्पादित कर प्रकाशित किया है। अश्वघोष का सूत्रालङ्कार सम्भवतः गद्य पद्य मिश्रित था और बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादक था।

५—भास

संस्कृत-नाटक-साहित्य में महाकवि भास की बड़ी प्रसिद्धि है। साधारण नाटककारों की बात तो अलग रहे, स्वयं कालिदास की लेखनी ने भी भास का लोहा मान लिया है।

संस्कृत साहित्य में प्रसिद्धि

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से स्पष्ट ही प्रश्न करवाया है कि प्रख्यात कीर्ति वाले भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर कालिदास की कृति का इतना अधिक आदर क्यों हो रहा है ? इस प्रश्न से अच्छी तरह माल्रूम पड़ता है कि कालिदास के समय में भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय थे। उनके सामने साधारण जनता कालिदास की कमनीय रचनाओं को भी आदर की दृष्टि से नहीं देखती थी। कालिदास के परवर्त्ती कवियों ने भी भास के रूपकों का अतिशय आदर किया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में भास की विशद प्रशंसा की है। उनका कहना है कि भास ने सूत्रधार (नाटक का मैनेजर तथा कारीगर) से आरम्भ किये गये, बहुत से भूमिका (पार्ट और आङ्गन) वाले, तथा पताका (नाटक की

---

१. 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः'—मालविकाग्निमित्र।

मुख्य अवान्तर घटना तथा ध्वजा) से सुशोभित मन्दिरों के समान अपने नाटकों से खूब ही यश पाया[1]। राजशेखर ने भी भास के नाटकों की अग्नि-परीक्षा तथा स्वप्नवासवदत्ता के न जलने की बात लिखी है[2]। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में सर्वसाधारण में भास के नाटकों का खूब प्रचार था।

दुर्भाग्यवश ऐसे प्रसिद्ध नाटककार के विषय में भी हम कुछ नहीं जानते थे, क्योंकि इनके नाटक अभी तक अज्ञानान्धकार में छिपे हुये थे। अकस्मात् एक ही स्थान पर अनन्त-शयन के म० म० गणपति शास्त्री को १९०९ ई० में दस रूपकों की उपलब्धि हुई। उस समय के अनंतर अन्य तीन नाटकों का पता चला। इन तेरहों नाटकों की प्राप्ति का वृत्तांत १९१२ ई० में सर्वसाधारण के सामने प्रकाशित हुआ जिससे संस्कृतज्ञों को आनन्द-पूर्ण विस्मय हुआ। म० म० गणपतिशास्त्री ने इन्हीं तेरह रूपकों को अनन्त-शयन-संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित किया है।

रचना की उपलब्धि

इस नाटक-समूह के कर्त्ता के विषय में बड़ा मतभेद है। वास्तव में इनके भास कृत होने में कितने विद्वानों को सन्देह है। सन्देहवादियो का कहना है कि इस नाटक-चक्र का केवल

---

१. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

२. भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

'स्वप्नवासवदत्ता' भास कृत हो सकता है, क्योंकि आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी "अभिनवभारती" में इस रूपक का उल्लेख किया है[१]। परन्तु अन्य रूपकों को भास कृत मानने में कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है। स्वर्गीय पण्डित रामावतार शर्मा की सम्मति में कुछ नाटकों के कतिपय अंश भास रचित हैं अवश्य, किन्तु समग्र नाटकों की रचना भास ने नहीं की।[२] किसी केरल कवि ने भास के उपलब्धांशों की पूर्ति कर दी है। अतएव इन नाटकों को भास कृत मानना समुचित नहीं है। डाक्टर[३] बार्नेट भी इन नाटकों के रचयिता को प्रसिद्ध भास मानने को उद्यत नहीं हैं। कतिपय भारतीय विद्वान् केरल देश में ही इनकी उपलब्धि होने से कुछ संदेह कर रहे हैं। वे इसे भास का न मानकर किसी केरलीय नाटककार का षड्यन्त्र समझ रहे हैं। परन्तु कुछ प्रमाण[४] नीचे दिये जाते हैं, जो इन नाटकों को भास प्रणीत सिद्ध करने में अमूल्य सहायता देंगे।

इन रूपकों का रचयिता कौन है?

(१) यद्यपि 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक ही भासकी एकमात्र रचना साधारण रीति से जान पड़ता है, तथापि प्राचीनकाल में भास

---

१. क्वचित् क्रीडा यथा वासवदत्तायाम्।

२. शारदा (संस्कृत पत्रिका) प्रथमवर्ष की पहिली संख्या।

३. देखिये Bulletin of School of Oriental Studies तथा J.R. A. S. 1919,p. 233 तथा 1921 p. 587

४. Thomas–Plays of Bhasa. J. R. A.S. 1922.p.79.

के एक से अधिक रूपकों के होने का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। बाणभट्ट के पूर्वोद्धृत 'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैः' पद्य में प्रयुक्त बहुवचनान्त 'नाटकैः' पद से स्पष्ट प्रतीत होता है

भासकृत होने के प्रमाण

कि सातवीं सदी में भास के नाम से अनेक नाटक प्रचलित थे। राजशेखर ने तो भास के 'नाटक-चक्र' का स्पष्टतः उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने 'स्वप्न-नाटक' तथा 'दरिद्रचारुदत्त' का उल्लेख किया है। वामन ने 'प्रतिज्ञानाटिका', 'चारुदत्त' तथा 'स्वप्न-वासवदत्ता' से कतिपय पद्योंको 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में उद्धृत किया है। भामह ने भी प्रतिज्ञा नाटक के वस्तु—कृत्रिम हस्ती के द्वारा वत्सराज की छलना—की आलोचना भामहालंकार में की है। 'प्रतिज्ञा' के एक प्राकृत अंश का संस्कृत अनुवाद भी उनके पद्यों में पाया जाता है[1]। इन सब प्रमाणों पर दृष्टि रखते हुये कहना पड़ता है कि प्राचीनकाल में भास को खूब प्रसिद्धि थी तथा उनके अनेक नाटकों का प्रचार सर्वत्र था। अतः यदि ये तेरहो नाटक आन्तरिक समानता रखने के कारण भास प्रणीत माने जायँ तो किसी तरह की ऐतिहासिक विप्रतिपत्ति प्रतीत नहीं होती।

(२) डाक्टर बार्नेट ने भास के नाम से प्रचारित नाटकचक्र के कर्ता पर यह दोषारोपण किया है कि स्वयं

---

१. इन उल्लेखों के लिये म० म० गणपति शास्त्री कृत स्वप्नवासवदत्ता नाटक की भूमिका देखिये।

केरलीय कवि होते हुये भी उसने भास के नाटकों के नाम चुरा लिये हैं और भास के नाम से इन्हें प्रचारित किया है। यह कथन उचित नहीं जँचता, क्योंकि संस्कृत साहित्य में इस तरह की कल्पित प्रथा प्रचलित नहीं थी। किसी प्राचीन ग्रन्थ की छाया रहने पर भी ग्रन्थ का नवीन नामकरण किया जाता था। नाटकीय वस्तु के एक होने पर भी कवि लोगों को अपनी रचनाओं के नये नाम रखने में अतिशय आनन्द आता था। यही कारण है कि रामायणीय कथा के उपजीव्य होने पर भी भवभूति के नाटक 'महावीर चरित' तथा 'उत्तरराम चरित' हैं, तो मुरारि का 'अनर्घ राघव', जयदेव का 'प्रसन्न राघव' तथा दामोदर मिश्र का 'हनुमन्नाटक' है। उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से नाम चुराने का कलंक आरोपित करना केवल हास्यास्पद तथा अनुचित जान पड़ता है।

(३) यदि इस नाटकचक्र की भाषा—संस्कृत तथा प्राकृत—पर उचित ध्यान दिया जाय, तो इसकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध होगी। विद्वानों का कहना है कि इसके प्राकृत कालिदासीय प्राकृत से भी प्राचीन हैं। कुछ ऐसे प्राकृतरूप मिले हैं जो अश्वघोष के नाटक तथा अशोक के शिलालेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। स्वीकृत्यर्थक 'आम' का प्रयोग केवल पालीभाषा में ही पाया जाता है तथा कतिपय पुल्लिंग शब्दों के बहुवचनान्त रूप 'आनि' प्रत्यय जोड़कर इन नाटकों में बनाये गये हैं। यह रूप अति प्राचीन है क्योंकि यह अश्वघोष के नाटक तथा अशोक की धर्मलिपियों में भी डाक्टर लूडर्स के द्वारा ढूँढ़

निकाला गया है—पीछे इन रूपों का अस्तित्व मिलता ही नहीं। यह तो हुई नाटकों की प्राकृत की कथा। इनके संस्कृत के विषय में भी पूर्वोक्त सिद्धान्त अतिशय सत्यता से प्रयुक्त किया जा सकता है। इनमें ऐसे अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जिनकी उपलब्धि केवल रामायण तथा महाभारत में ही प्रचुरता से होती है, अन्यत्र नहीं। इससे इनकी प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

(४) इन प्रमाणों से इस नाटकचक्र की प्राचीनता सिद्ध होती है। अब इन्हें भास प्रणीत सिद्ध करने का उद्योग किया जायगा। संस्कृत साहित्य में कतिपय विशेषण भास के लिये प्राचीन कवियों ने व्यवहृत किये हैं। यदि इन विशेषणों के अनन्तशयन में प्रकाशित ग्रन्थावली के कर्त्ता के विषय में भी व्यवहृत होने का कारण मालूम हो तो इन्हें भासकृत मानने में अधिक संशय या दुविधा न होगी।

(क) साधारण नियम है कि नान्दी के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है परन्तु इन नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव है। ये नाटक नान्दी से न आरम्भ होकर सूत्रधार के द्वारा आरम्भ किये गये हैं। यह विशेषता भास के नाटकों में पाई जाती थी।

(ख) वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक प्राकृत महाकाव्य में भास को 'जलणमित्ते'—ज्वलनमित्रं-अग्नि का मित्र—कहा है। कतिपय विद्वानों की सम्मति में वासवदत्ता के जलने

१. भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीपुत्ते तहावि रघुआरे
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो।

की झूठी खबर फैलाकर भास को नाटकीय वस्तु के विकाश दिखलाने का उचित अवसर मिला है। अतः अग्निदाह का उपयोग करने वाले भास को ज्वलनमित्र कहा गया है। यदि यही कारण ठीक हो, तो उपलब्ध वासवदत्ता के कर्ता भास ही होंगे क्योंकि इसमें वासवदत्ता के अग्निदहन की वार्ता फैलाकर पद्मावती का विवाह सम्पन्न कराया गया है जिससे मुख्य कार्य—राज्य प्राप्ति-निष्पन्न हुआ है।

(ग) जयदेव ने भास को कविता-कामिनी का हास माना है[1]। इस विशेषण से हास्यरसवर्णन में भास की प्रवीणता प्रतीत होती है। उपलब्ध नाटको में भी हास्यरस के प्रसङ्ग अच्छे ढंग से दिखलाये गये हैं। इनमें हास्य के उद्धत तथा सुकुमार दोनों रूपों का समुचित वर्णन मिलता है। उद्धत हास्य के लिये 'प्रतिज्ञा' के विदूषक की श्लिष्ट भाषा पर ध्यान दीजिये तथा हास्य के सुकुमार रूप के देखने की अभिलाषा हो तो वासवदत्ता के औदरिक-पेटू-विदूषक पर दृष्टिपात कीजिये। दोनों रूपों का जीता जागता चित्र आपके सामने आकर उपस्थित हो जायगा। कालिदास के ग्रन्थों में केवल सुकुमार हास्य के ही दर्शन होते हैं। उद्धत हास्य की प्रतिमा तो केवल इन नाटकों में ही दीख पड़ती है।

---

१. भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
केषां नैषा कथय कविता-कामिनी-कौतुकाय।
—प्रसन्नराघव की प्रस्तावना।

अतः जयदेव का कथन इन नाटकों के कर्ता के विषय में भी पूरे तौर से घटता है। अतएव विद्वानों ने इन प्रमाणों के आधार पर इन नाटकों को भास कृत मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की है। प्रश्न की महत्ता से ही प्रेरित होकर ये प्रमाण यहाँ कुछ विस्तार से दिखाये गये हैं।

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर अनन्त-शयन-ग्रन्थावली में प्रकाशित स्वप्न वासवदत्ता आदि नाटक-चक्र के रचयिता प्राचीन नाटककार भास ही थे, ऐसा बहुत लोग मानते आये हैं; परन्तु इधर इस विषय की और भी खोज तथा परीक्षा करने पर यही प्रतीत होने लगा है कि इनके कर्ता सुप्रसिद्ध भास नहीं हो सकते। भास के स्वप्नवासवदत्ता नाटक के जो उदाहरण तथा विवरण रीति ग्रन्थों में आते हैं, वे प्रकाशित पुस्तक में मिलते नहीं। प्राकृत भाषा के अधार पर भी कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। इस नाटक चक्र को भास-कवि-कृत न कहकर केरलदेशीय कविरचित कहना अत्यन्त उपयुक्त है। अब तो महा महोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्म्मा जी की राय ही ठीक मालूम पड़ रही है कि इन नाटकों के कुछ अंश भास कवि के हो सकते हैं, परन्तु केरल देश के किसी कवि ने इन्हें पूरा किया है। यही कारण है कि ये नाटक केरल के बाहर प्रसिद्ध नहीं हो सके। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ केरल में ही मिली हैं और केरलदेश के ही नट लोग (जिन्हें चाक्यार कहते हैं) इनका अभिनय कर आज भी लोगों का मनोरंजन किया करते हैं। अतः ये किसी केरल कवि की ही रचनायें हैं; आजकल यही

बात प्रकाशित होने लगी है। परन्तु अभी तक यह विषय सिद्धान्त रूप से निश्चित नहीं हुआ है।

आविर्भाव-काल

भास के आविर्भाव काल के विषय में ऐतिहासिकों में बड़ा मतभेद है। इस विषय का अन्वेषण अभी तक चल रहा है; किसी ऐसे सिद्धान्त की उद्भावना अभी तक नहीं हुई है जो समग्र पण्डितजनों को मान्य हो। अतएव विभिन्न मतों का दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

भास नाटक-चक्र के आविष्कारक तथा सम्पादक गणपति शास्त्री ने भास को चाणक्य तथा पाणिनि से भी प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शूरों को युद्ध के लिए उत्साहित करने के प्रसंग में चाणक्य ने 'अपीह श्लोकौ भवतः' लिखकर जिन श्लोकों को प्रमाण कोटि में रखा है उनमें से एक भास की उपलब्ध प्रतिज्ञा नाटिका में पाया जाता है।[1] प्रतिमा नाटक में रावण के बार्हस्पत्य अर्थ-शास्त्र में प्रवीणता प्राप्त करने की बात लिखी हुई है।[2] बृहस्पति कृत अर्थशास्त्र कौटिल्य से भी प्राचीन है। अतः उसके उल्लेख की घटना चाणक्य-अर्थशास्त्र के विषय में भास की अज्ञानता की

प्रथम मत

---

१. नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥

२. भो काश्यपगोत्रोऽस्मि, साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पञ्च।

सूचिका है। प्रयोगों की अपाणिनीयता सिद्ध करती है कि पाणिनि के सर्वमान्य होने के पहिले ही इन नाटकों की रचना हुई। इन प्रमाणों के आधार पर भास का समय कम से कम पाँचवी सदी ईस्वी पूर्व माना गया है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत से सहमत नहीं है और वे चाणक्य तथा भास के पद्य को किसी अन्य ग्रन्थ से लिया हुआ बतला कर इस मत को प्रमाण कोटि में नहीं मानते।

द्वितीय मत

डाक्टर बार्नेट इस नाटक चक्र के 'कल्पितभास' को सप्तम शताब्दी का केरलीय कवि बतलाते हैं, क्योंकि उसी समय में लिखे गये महेन्द्रवीर विक्रम विरचित 'मत्तविलास' प्रहसन से इस नाटकों की भाषा तथा पारिभाषिक शब्द पूर्णतया समानता रखते हैं तथा 'राजसिंह' को, जिसका नाम भरत-वाक्यों में अधिकता से पाया जाता है, केरल देश का साँतवी सदी का राजा माना है। परन्तु भामह द्वारा उद्धृत तथा बाण के द्वारा प्रशंसित होने से इनका समय अवश्य ही प्राचीन होना चाहिये। इन नाटकों के पारिभाषिक शब्द भी प्राचीनता के ही द्योतक हैं तथा राजसिंह को व्यक्ति-वाचक नाम मानने में कोई दृढ़तर प्रमाण नहीं है। अतः इस सिद्धान्त में विद्वज्जन आस्था नहीं रखते।

डा० लेस्नी, विन्टर्ज, बैनर्जी-शास्त्री, सुखथनकर आदि पश्चिमीय तथा पूर्वीय पण्डितों ने बाह्यपरीक्षा को छोड़कर नाटकों को आन्तरिक परीक्षा की है—विशेषतः प्राकृतभाषा की विशिष्ट

आलोचना की है। उससे वे निरूपण करते हैं कि भास कालिदास (पाँचवीसदी) से पुराने हैं परन्तु अश्वघोष

तृतीय मत

(द्वितीय सदी) से अर्वाचीन। भास के रूपकों में उपलब्ध प्राकृत शब्दों के रूप प्राकृत वैयाकरणों की सम्मति में अत्यन्त प्राचीन ठहरते हैं। यदि 'अस्मि' के अर्थ में भास ने 'ह्मि' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने 'म्हि' का। 'हमारे' के अर्थ में भास ने 'अम्हअं' तथा 'अम्हाणं' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने नाटकों में केवल पहिले ही रूप का। 'अहम्' के लिये भास ने 'अहके' तथा 'अहं' का प्रयोग किया है, परन्तु कालिदास ने 'हग्गे' या 'हके' का। इसी प्रकार अश्वघोष की प्राकृत का विकाश भास में दीख पड़ता है। अतः इनका समय दोनों—अश्वघोष तथा कालिदास—के बीच अर्थात् तीसरी सदी में होना चाहिये; यही मत अधिकांश विद्वान् मानते हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि भास ने केवल रूपकों की ही रचना की है। उपलब्ध नाटकों की संख्या तेरह है। रूपकों के

भास के रूपक

आविष्कार तथा त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज में संपादन का श्रेय म० म० गणपति शास्त्री को है। इन नाटकों में से केवल दो का विषय रामायण से लिया गया है। पाँच नाटकों की वस्तु महाभारत से ली गई है। कुछ नाटकों की कथा प्राचीन अर्द्धैतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध हैं; परन्तु इन सब में भास की मौलिक तथा अनूठी कल्पनाशक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव प्रत्येक पाठक को हो सकता है। इन विभिन्न विषयों

पर नाटक लिखना भास की अपूर्व नाट्यकुशलता का निदर्शन है।

सम्भवतः भास ही सबसे प्राचीन नाटककार हैं जिन्होंने रामायण को रंगमंच के ऊपर जनता के सामने रखने का प्रशस्य प्रयत्न किया। यह प्रथा ऐसी उपयोगिनी तथा मनोहारिणी सिद्ध हुई कि रामायणीय नाटकों का ताँता सा बँध गया और यदि आधुनिक रामलीला पर ध्यान दें, जो नाट्य के विकृत रूप हैं, तो उस प्रथा का प्रचुर प्रचार आज भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। भास के नाटकों का सामान्य परिचय यहाँ दिया जाता है। जिन्हें विशेष जानना हो वे इन्हें स्वयं पढ़ने का कष्ट उठावें:—

(१) **प्रतिमा नाटक**—राम का वनवास, सीताहरण आदि अयोध्याकाण्ड से लेकर रावणबध तक की घटनाओं का वर्णन इस नाटक में किया गया है। इस नाटक से प्राचीन भारत में कला-विषयक नवीन वृत्तान्त[१] का पता लगता है। प्राचीनकाल में राजाओं के देवकुल होते थे जिनमें राजाओं की मृत्यु के अनन्तर उनकी पत्थर की बड़ी मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी। इक्ष्वाकुवंश का भी ऐसा ही देवकुल था जिसमें मृत नरेशों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। केकयदेश से आते समय अयोध्या के समीप देवकुल में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर ही भरत ने उनकी मृत्यु का अनुमान आप ही आप कर लिया। इसी कारण इसका नाम 'प्रतिमा-नाटक' है। पढने से

१. चन्द्रधरशर्म्मा गुलेरी—'देवकुल' ना० प्र० पत्रिका, १ भा० १ अंक।

प्राप्त शैशुनाग राजाओं की मूर्तियों से भी भास की बात सर्वथा पुष्ट होती है। स्वप्नवासवदत्ता को छोड़कर यह नाटक सबसे बड़ा तथा मनोरञ्जक है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी भास के नाटकचक्र में इसका स्थान बहुत ऊँचा है।

(२) **अभिषेक नाटक**—इसमें राज्याभिषेक का वर्णन है। इन दोनों नाटकों में बालकाण्ड को छोड़कर रामायण की समग्र उपयोगिनी घटनायें आ गयी हैं। अनुमान है कि बालकाण्ड की कथा भी इसी प्रकार रंगमंच पर अभिनय के लिये लिखी गई थी परन्तु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

(३) **पञ्चरात्र**—इसमें महाभारत की एक घटना का अन्यथा वर्णन मिलता है। द्रोण ने दुर्योधन से आधा राज्य पांडवों को दे देने के लिये कहा। दुर्योधन ने प्रतिज्ञा की कि पाँच रातों मिल जाने पर मैं पाण्डवों को राज्य दे दूँगा। द्रोण के प्रयत्न करने पर पाण्डव मिल गये तथा आधा राज्य उन्हें दिया गया।

(४) **मध्यम व्यायोग**—इसमें मध्यम पाण्डव—भीम—ने एक ब्राह्मण के लड़के की रक्षा एक भयङ्कर राक्षस से की है। यह व्यायोग है।

(५) **दूत-घटोत्कच**—अभिमन्यु के वध होने पर पाण्डवों को अपनी विजय के विषय में सन्देह होने लगता है। इसलिये सन्धि स्थापित करने के लिये घटोत्कच दूत बनाकर भेजा जाता है, परन्तु दुर्योधन के न स्वीकार करने पर युद्ध फिर जारी किया जाता है।

(६) **कर्णभार**—इन्द्र भगवान् महादानी कर्ण से कवच-कुण्डल माँग ले जाते हैं। कर्ण भी अपने ऊपर युद्ध के नेतृत्व का भार ग्रहण करता है।

(७) **दूतवाक्य**—सन्धि करने के लिये श्रीकृष्ण का दुर्योधन के शिविर में जाना तथा उनका विफल मनोरथ होना इस नाटक में वर्णित है।

(८) **ऊरुभङ्ग**—भीम तथा दुर्योधन के अन्तिम गदायुद्ध का तथा दुर्योधन की मृत्यु का करुणापूर्ण वर्णन है। संस्कृत साहित्य का यह प्रसिद्ध नियम है कि कोई भी संस्कृत नाटक वियोगान्त नहीं होता—उसके अन्त में सदैव संयोग तथा सुख का वर्णन होना चाहिये; परन्तु केवल यही नाटक इस नियम का प्रतिवाद-स्वरूप है। क्योंकि इसके अन्त में दुर्योधन की मृत्यु रंगमंच पर अभिनीत हुई है। अतएव यह नाटक छोटा होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है।

(९) **बालचरित**—कृष्ण के बालचरित का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। जिन्हें कृष्ण के बालचरित-वृन्दावन लीला-जानने की अभिलाषा हो उनके बड़े काम का है।

(१०) **चारुदत्त या दरिद्र-चारुदत्त**—यह रूपक पूरा पूरा उपलब्ध नहीं होता परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इस अपूर्ण रूपक का भी अधिक मूल्य है क्योंकि शूद्रक का प्रसिद्ध 'मृच्छकटिक' इसी के आधार पर लिखा गया माना जाता है। इसमें धनहीन परन्तु

सुचारित्र्य सम्पन्न ब्राह्मण चारुदत्त तथा गुणग्राहिणी वारवनिता वसन्तसेना का पवित्र आदर्श-स्नेह बड़े मार्मिक ढङ्ग से वर्णित है।

(११) **अविमारक**—'अविमारक' नाम राजकुमार के चरित्र का वर्णन किया गया है। कामसूत्र में उल्लिखित होने से यह प्राचीनकाल की अतिशय प्रसिद्ध आख्यायिका जान पड़ती है।

(१२) **प्रतिज्ञायौगन्धरायण**—कौशाम्बी के आखेट के प्रेमी राजा उदयन को कृत्रिम हाथी के छल से उज्जयिनी-नरेश महासेन ने पकड़ लिया। इस रूपक में उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण ने दृढ़ प्रतिज्ञा करके केवल राजा को ही बन्धन से नहीं छुड़ाया बल्कि कुमारी वासवदत्ता का भी कपट से हरण कराया। मन्त्री की दृढ़-प्रतिज्ञता तथा कुटिलनीति का यह सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है।

(१३) **स्वप्नवासवदत्ता**—भास की नाट्यकुशलता का यह चूड़ान्त निदर्शन है। इसे 'प्रतिज्ञा' का उत्तरार्द्ध समझना समुचित होगा। राजा उदयन को अपने विरोधियों को परास्त करना है जिसके लिये मगध के राजा दर्शक की सहायता लेना नितान्त आवश्यक है। यौगन्धरायण दर्शक को ठगने के लिये वासवदत्ता के आग में जल जाने की झूठी खबर फैलाता है; परन्तु वास्तव में उसे दर्शक की भगिनी पद्मावती के पास वेश बदल कर रख जाता है। अनन्तर पद्मावती के साथ वत्सराज का शुभ विवाह हो जाता है। स्वप्न में राजा वासवदत्ता को देखता है जिससे मिलने से उसकी हार्दिक अभिलाषा अत्यन्त बढ़ जाती है और उसे वासवदत्ता के जीवित होने में कुछ विश्वास जमने लगता है। वत्स-

विजय के अनन्तर राजा के सामने वासवदत्ता लाई जाती है और दोनों का पुनः आनन्द मिलन होता है। चरित्र चित्रण में भास ने अपनी नाट्यकला का अद्भुत चित्र खींचा है—ऐसे शुद्ध तथा विशद प्रेम का वर्णन किया है कि मन आनन्द से मुग्ध हो जाता है। नाटकीय घटनाओं की ऐसी मनोहारिणी संगति दिखाई गयी है कि अस्वाभाविकता पास फटकने नहीं पाई है। वास्तव में यह नाटक संस्कृत साहित्य का एक जाज्वल्यमान रत्न है जिसकी प्रभा के सामने अनेक नाटक-रत्न छविहीन प्रतीत होते हैं।

भास की भाषा में एक विचित्र अनूठापन है। वाक्य हैं तो बड़े छोटे छोटे, परन्तु उनमें विचित्र भाव भरा हुआ है। भास की

कविता

कविता-कामिनी अपने स्वाभाविक पदविन्यास के लिये जितनी प्रसिद्ध है, उतनी ही अपने भावों के लिये। कृत्रिमता तो कहीं देखने के लिये भी नहीं मिलेगी। इनकी भाषा तथा कविता भी प्रशंसनीय सरलता तथा आदरणीय सुन्दरता से सर्वत्र व्याप्त है। भास मानव-हृदय के विकारों के सच्चे पारखी हैं। बाह्य प्रकृति के भी सरल वर्णनों में इनकी योग्यता किसी से घटकर नहीं। अलङ्कारों के चुनाव में उपमा तथा स्वभावोक्ति पर ही आपका विशेष स्नेह दीख पड़ता है। ऊपर लिखा जा चुका है कि भास नाटकीय कला के पारंगत आचार्य हैं, चरित्र-चित्रण करने में अद्भुत चित्रकार हैं। यदि भास की कविता का यथोचित स्वाद लेना हो तो रूपकों का पाठ सावधानी से करना चाहिये।

भास की कविता के कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः ।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः ॥

स्थान की विशेषता से विश्वास करने वाले हरिण लोग बिना चकित हुये घास चर रहे हैं। वृक्षों की शाखायें फूल तथा फलों से लदी हुई हैं। ऋषियों ने दया करके इनकी रक्षा की है। कपिल रंग के गायों के झुण्ड विचर रहे हैं। खेत कहीं नज़र नहीं आते हैं। बहुत स्थानों से धूम निकल रहा है। अतएव निःसन्देह यह तपोवन ही है।[1]

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां काले काले छिद्यते रुह्यते च ॥

मृत्यु के समय में कौन किसकी रक्षा कर सकता है? जब रस्सी टूट गई तब घड़े को कौन रख सकता है? यह संसार वन के समान ही है। जिस प्रकार वन में वृक्ष काटे जाते हैं और फिर उगते हैं, उसी प्रकार इस संसार में भी मनुष्य मरता रहता है और पैदा होता रहता है।

---

१. शकुन्तला के प्रथम अङ्क में वर्णित तपोवन इस तपोवन से कई बातों में मिलता जुलता है। कालिदास के 'विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः' पद्यांश में इस पद्य के प्रथमांश की छाया स्पष्टतः दृष्टिगोचर होरही है।

व्यक्तं बलं बहु च तस्य न नैककार्यं
संख्यातवीरपुरुषं च न चानुरक्तम्।
व्याजं ततः समभिनन्दति युद्धकाले
सर्वं हि सैन्यमनुरागमृते कलत्रम्॥

उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के पास सेना तो बहुत है परन्तु वह एक ही कार्य में नहीं लगी है; बहुत से वीर पुरुष हैं परन्तु वे अनुरक्त नहीं है। इसीलिये युद्ध के समय में वह छल का प्रयोग कर रहा है, क्योंकि अनुराग के बिना सेना स्त्री की तरह निर्बल होती है।

कुलं तावच्छ्लाघ्यं प्रथममभिकाङ्क्षे हि मनसा
ततः सानुक्रोशं मृदुरपि गुणस्त्वेष बलवान्
ततो रूपे कान्तिं न खलु गुणतः स्त्रीजनभयात्
ततो वीर्योदग्रं नहि न परिपाल्या युवतयः।

राजा महासेन अपनी पुत्री वासवदत्ता के विवाह के विषय में विचार कर रहा है। वह कहता है कि पहले तो मैं प्रशंसनीय कुल चाहता हूँ। दूसरे वर को दयालु होना चाहिये। यह गुण सुकुमार होने पर भी बलवान् है। अनन्तर वर को सुन्दर भी होना चाहिये। गुणों के विचार से नहीं बल्कि स्त्रियों के डर से। फिर मैं बलशाली वर को चाहता हूँ क्योंकि युवतियों की रक्षा तो अवश्य करनी होगी। यदि वर महाशय दुर्बल हुये तो अपनी पत्नी की शत्रु से रक्षा किस तरह कर सकेंगे।

अहः समुत्तीर्य निशा प्रतीक्ष्यते शुभे प्रभाते दिवसोऽनुचिन्त्यते
अनागतार्थान्यशुभानि पश्यतां गतं गतं कालमवेक्ष्य निर्वृतिः।

दिन बिता कर रात का इन्तज़ार किया जाता है। प्रभात के शुभ होने पर दिन की चिन्ता लगी रहती है-सुबह तो इतना अच्छा बीता, अब देखें दिन में क्या होता है। भविष्य में होने वाले अनर्थों की चिन्ता करनेवाले पुरुष बीते हुये समय को देख देख कर आनंद मनाते हैं। इतने दिन तो अच्छी तरह बीत गये, अब देखें आगे कैसे बीतता है। यही तो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में विचार उठा करता है।

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥

सायंकाल का सुन्दर दृश्य है। चिड़िया अपने घोसलों में चली गईं। मुनिजन जल में स्नान कर चुके। सन्ध्याकाल में अग्निहोत्र के लिये जलाई हुई अग्नि शोभित हो रही है। धुआँ मुनियों के वन में घूम रहा है। सूर्य ने भी दूर से उतर कर अपने किरणों को बटोर लिया है और रथ को लौटाकर धीरे धीरे अस्ताचल पर घुसे चले जाते हैं। सन्ध्याकाल का नैसर्गिक वर्णन है। प्रसादगुण से पद्य पूरा भरा है।

———

६—मातृगुप्ताचार्य

प्राचीनकाल में काश्मीर संस्कृत विद्या का केन्द्र था। शैवागम प्रवर्तक प्रसिद्ध दार्शनिक वसुगुप्त, महाभाष्य पर प्रदीप लिखने वाले कैयट, राजतरङ्गिणीकार कल्हण आदि विद्वानों की जननी काश्मीर भूमि ही है। कविता के विषय में भी यह भूमि किसी अन्य प्रदेश से न्यून नहीं थी। महाकवि बिल्हण ने दावे के साथ लिखा है कि कविता का अंकुर काश्मीर-भूमि को छोड़ कर किसी अन्य प्रदेश में नहीं उगता। क्यों न हो, रत्नाकार, भल्लट, दामोदर गुप्त, बिल्हण, क्षेमेन्द्र आदि कवियों ने यहीं जन्म लिया; वामन, उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि साहित्य-मर्मज्ञों की उत्पत्ति भी इसी पवित्र भूमि में हुई है। यहाँ के राजा भी संस्कृत-साहित्य के प्रेमी तथा कवियों के आश्रय दाता थे। यहाँ हम एक प्रसिद्ध नृपति-कवि का परिचय देना चाहते हैं जिन्होंने काश्मीर के राज्यसिंहासन को कई वर्षों तक अलंकृत किया था। उनका नाम मातृगुप्ताचार्य है।

मातृगुप्त के जीवनकाल के विषय में राजतरङ्गिणी ही एकमात्र हमारा आश्रय है। उससे ज्ञात होता है कि मातृगुप्त जन्म से ही बड़े निर्धन थे। परन्तु उनके हृदय में कविता का अंकुर बाल्यावस्था में ही उग चुका था। किसी प्रकार का आश्रय न पाकर मातृगुप्त ने उज्जैन के प्रसिद्ध गुणग्राही राजा हर्ष विक्रमादित्य की सभा में अपनी कविता

जीवनवृत्त

सुना कर द्रव्यप्राप्ति के विचार से प्रस्थान करना निश्चित किया। परन्तु निर्धन की पूछ कहाँ ? कवि होने पर भी वे निर्धन होने से महाराज के पास नहीं जा सके। द्वारपाल इन्हें भीतर जाने ही नहीं देते थे। कवि को बड़ा दुःख हुआ, परन्तु जाँय तो कहाँ जायँ। तब वे राजा के द्वार पर ही टिक गये। जाड़े के दिन थे। बिना वस्त्र के रात के समय कविजी को नींद भी नहीं आती थी। वे बैठे ही बैठे आग तापा करते थे। अकस्मात् आधीरात को राजा ने द्वारपाल को पुकारा, परन्तु वे सब पड़े खर्राटे ले रहे थे। अवसर पाकर कवि जी ने निम्नलिखित पद्य में अपनी शोचनीय दशा का परिचय दिया:—

> शीतेनोद्घृषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः,
> शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे ।
> निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता,
> सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी ॥

पद्य का भाव यह है कि उड़द की छेमी (फली) की भाँति मैं पाले से घिसा जा रहा हूँ; होंठ मेरे फट गये हैं; आग बुझती जाती है—उसे सुलगाने के लिये मैं निरन्तर उसे फूँक रहा हूँ। भूख के मारे मेरा कण्ठ सूख गया है। मेरी यह दशा देखकर अपमानित भार्या की तरह नींद मुझे छोड़कर चली गई है तथा सुपात्र को दी गई पृथ्वी की तरह रात नहीं घट रही है।

महाराज विक्रमादित्य बड़े गुणग्राहक थे। ऐसी भावपूर्ण कविता सुनकर बड़े प्रसन्न हुये। उसी समय काश्मीर का राजा

हिरण्य निःसन्तान मर गया था। उसकी गद्दी खाली थी। अतएव ये कवि काश्मीर के राजा बनाये गये। जब हिरण्य का भतीजा प्रवरसेन द्वितीय, जो तीर्थयात्रा करने के लिये गया था, लौटकर आया, तब मातृगुप्त ने चार वर्ष राज्य करने के बाद सिंहासन खाली कर दिया और शेष आयु को सन्यासी बनकर काशी में जाकर बिताया।

बस मातृगुप्त के विषय में इतना ही ज्ञात है। डाक्टर भाऊ दाजी की राय में यही मातृगुप्त महाकवि कालिदास हैं। उनके सिद्धान्तके पोषक प्रमाण नीचे दिये जाते हैं।

मातृगुप्त तथा कालिदास की अभिन्नता

(१) यह दन्तकथा प्रसिद्ध है कि विक्रम ने प्रसन्न होकर कालिदास को अपना आधा राज्य दे डाला था।

(२) मातृगुप्त कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। यह विशेषण सा दीख पड़ता है। कालिदास तथा मातृगुप्त समानार्थक ही हैं।

(३) राजतरङ्गिणी में बड़े बड़े कवियों का उल्लेख उनके समुचित ऐतिहासिक क्रम में किया गया है। इसमें लिखा है कि महाकवि भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मन् के आश्रित थे। परन्तु कालिदास का नामोल्लेख कहीं भी नहीं मिलता।

(४) राजा प्रवरसेन की प्रार्थना पर कालिदास ने प्राकृत में सेतुकाव्य लिखा है। इसे सेतुकाव्य के टीकाकार ने लिखा है; विद्यानाथ कृत प्रतापरुद्र नामक आलंकारिक ग्रन्थ में, जो १८ वीं शताब्दी के अन्त में लिखा गया था, सेतुकाव्य से एक आर्या

उद्धृत की गई है और वह काव्य 'महाप्रबन्ध' कहा गया है। दण्डी ने भी इसकी बड़ी प्रशंसा की है। राजतरङ्गिणी में लिखा है कि राजा प्रवरसेन ने वितस्ता नदी पर, जहाँ काश्मीर की राजधानी थी, एक पुल बनवाया था। बस, इसी सेतुबन्धन का वृत्तांत सेतुकाव्य में दिया गया है। महाकवि बाण ने भी प्रवरसेन और सेतुकाव्य की प्रशंसा अपने हर्षचरित के प्रारम्भ में की है:—

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

भाव यह है कि जिस प्रकार वानरों की सेना ने सेतु द्वारा समुद्र को पार किया था, उसी प्रकार प्रवरसेन की निर्मल कीर्ति सेतुकाव्य द्वारा समुद्र के पार पहुँच गई। इस से ज्ञात होता है कि राजा की प्रार्थना से इस काव्य के लिखे जाने की बात सही है।

परन्तु मातृगुप्त को कालिदास कहना नितांत अशुद्ध है। इसके विरोध में बहुत से प्रमाण हैं। पहिली बात यह है कि कालिदास के नाटकों के नान्दी-पाठ से यह बात मालूम होती है कि कालिदास शिव-पार्वती के अनन्य भक्त थे। परन्तु राजतरङ्गिणीकार के कथनानुसार काश्मीर के राजा मातृगुप्त ने पशुहिंसा-निषेध से बौद्धों तथा जैनों को शान्त किया, विष्णु का मन्दिर बनाकर वैष्णवों को प्रसन्न किया तथा सेतुकाव्य में पहिले विष्णु का मंगलाचरण है फिर शिव का। सब से बड़ी बात यह है कि संस्कृत-साहित्य के ज्ञाता कल्हण ने कहीं पर एक साधारण सूचना तक

इस मत का खण्डन

नहीं दी है कि मातृगुप्त प्रसिद्ध शकुन्तला के लेखक थे। क्षेमेन्द्र की औचित्य-विचार-चर्चा से ज्ञात होता है कि मातृगुप्त नाम के कोई महाकवि थे। परन्तु क्षेमेन्द्र ने कालिदास के श्लोकों को उद्धृत करते हुये दोनों के एक होने के विषय में कुछ भी इशारा नहीं किया है। राघवभट्ट ने शकुन्तला की टीका में मातृगुप्त के कई एक उद्धरण दिये हैं जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने नाट्य के विषय में कोई ग्रन्थ लिखा था। परन्तु उनकी पुस्तक के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। सुना जाता है कि मातृगुप्त ने भरत नाट्यशास्त्र की एक टीका भी लिखी थी। परन्तु दुर्भाग्यवश यह टीका अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुई। अतः यह निश्चित है कि मातृगुप्त और कालिदास भिन्न भिन्न कवि थे। मि० औफ्रेक्ट ने ४३० ई० में उनका राज्यकाल बतलाया है।

क्षेमेन्द्र द्वारा उद्धृत पद्य यह है:—

नायं निशामुखसरोरुहराजहंसः,
कविता कीरीकपोलतलकांततनुः शशांङ्कः।
आभाति नाथ! तदिदं दिवि दुग्धसिन्धु-
हिण्डीरपिण्डपरिपाण्डु यशस्त्वदीयम्॥

कवि राजा की स्तुति कर रहा है—हे राजन्! कपोल के समान सुन्दर चन्द्रमा प्रदोषकालरूपी कमलों का राजहंस नहीं है—कमलों में घूमता हुआ हंस नहीं है। यह तो आकाश में विचरने वाला आपका यश है जो क्षीरसागर के फेन-समूह जैसा शुभ्र ज्ञात होता है। यह पद्य अपह्नुति अलंकार का उदाहरण है।

उपर्युक्त दोनों पद्यों को छोड़कर मातृगुप्त के नाम से वल्लभदेव की सुभाषितावली में एक पद्य और दिया गया है:—

नाकारमुद्वहसि नैव विकत्थसे त्वं
दित्सां न सूचयसि मुञ्चसि सत्फलानि।
निःशब्दवर्षणमिवाम्बुधरस्य राजन्!
संलक्ष्यते फलत एव तव प्रसादः ॥

कवि राजा की स्तुति कर रहा है—हे राजन्! न तो तुम अपनी प्रशंसा करना पसन्द करते हो, न बनावटी वेश-भूषा धारण करते हो। देने की इच्छा प्रकट नहीं करते, परन्तु मीठे और अच्छे फल देते हो। हे नृप! बिना गरजे मेघ के समान तुम्हारी प्रसन्नता फल से ही ज्ञात होती है। फल के पहिले कोई नहीं जानता!

कविवर के ये ही तीन पद्य मुझे ज्ञात हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कविता में प्रसाद गुण का बाहुल्य है तथा अलंकारों की भी अच्छी छटा है। कविवर के जीवन को जानकर कौन ऐसा होगा जो महाराज विक्रमादित्य की गुणग्राहकता और दानशीलता की प्रशंसा शतमुख से न करेगा। यदि मातृगुप्त स्वयं कालिदास नहीं थे तो भी उनकी रचना यह सूचित कर रही है कि वे एक सुकवि थे।

संस्कृत साहित्य में मातृगुप्त का नाम केवल सुकवि होने ही से प्रसिद्ध नहीं है और न कविता के पुरस्कार में विशाल राज्य पाने ही के लिये है। बल्कि वे हयग्रीववध महाकाव्य के रचयिता महाकवि भर्तृमेण्ठ के आश्रयदाता होने से अधिक विख्यात हैं।

धन्य है वह कवि जो न केवल अपने ही कविता-मन्दिर में प्रविष्ट है बल्कि दूसरे सरस्वती-सेवकों का प्रोत्साहक और आश्रय देने वाला भी है।

७–भर्तृमेण्ठ

महाकवि भर्तृमेण्ठ का नाम संस्कृत-साहित्य में आदर की वस्तु है। ये संस्कृत भाषा के एक बहुत ही अच्छे सुकवि थे। क्षेमेन्द्र विरचित सुवृत्त-तिलक, मम्मट के काव्य-प्रकाश प्रसिद्धि तथा भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण,— आदि अनेक रीति-ग्रन्थों में इनके श्लोक पाये जाते हैं। सूक्ति-ग्रन्थों में भी इनकी बहुत सी सूक्तियाँ संरक्षित हैं। राघवभट्ट ने शाकुन्तल नाटक की टीका में इनका एक श्लोक उद्धृत किया है। भर्तृमेण्ठ ने **'हयग्रीव-वध'** नामक महाकाव्य लिखा था जो दुर्भाग्यवश अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। रीति-ग्रन्थों तथा सूक्ति-ग्रन्थों में जो पद्य पाये जाते हैं वे ही इनकी उपलब्ध रचनायें हैं।

भर्तृमेण्ठ का हाल कल्हणपण्डित की राजतरंगिणी में मिलता है। सुनते हैं कि भर्तृमेण्ठ हाथीवान थे क्योंकि 'मेण्ठ' शब्द का अर्थ संस्कृत में हाथीवान होता है। इसी कारण से सूक्ति-ग्रन्थों में 'हस्तिपक' के नाम से जो पद्य मिलते हैं, उन्हें पण्डितों ने इसी कवि की रचना बताया है। संस्कृत कवियों की ऐतिहासिक परम्परा से परिचित राजशेखर का एक श्लोक भर्तृमेण्ठ की प्रशंसा में मिलता है जिसमें इनके हाथीवान होने की सूचना है। राजशेखर का यह पद्य यों है—

जीवनवृत्त

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्।
आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः॥

भावार्थ यह है कि जिस प्रकार हाथी महावत के अंकुश की चोट खाकर व्यथित हो सिर हिलाये बिना नहीं रहता, उसी प्रकार मेण्ठराज की वक्रोक्तियों को सुनकर कौन ऐसा सहृदय कवि है जो मर्म-विद्ध हो आनन्द से अपना मस्तक नहीं हिलाता। अंकुश और वक्रोक्ति का रूपक कविवर के महावत होने की कल्पना को अच्छी तरह से पुष्ट करता सा दीख पड़ता है। इस पद्य में इन्हें 'मेण्ठराज' कहा है, कहीं कहीं केवल 'मेण्ठ' ही मिलता है, परन्तु अधिकतया ये भर्तृमेण्ठ के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कल्हण पण्डित ने लिखा है कि भर्तृमेण्ठ ने 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य की रचना की। किसी गुणग्राही राजा के यहाँ आश्रय पाने की लालसा से इधर उधर घूमकर कवि जी कश्मीर पहुँचे। उस समय कश्मीर के राजा थे मातृगुप्त, जो स्वयं एक बहुत ही अच्छे

कवि थे। काव्य लेकर कवि मातृगुप्त के दरबार में गये। वहाँ अपनी मनोहर कविता, राजा की आज्ञा पाकर, सुनाने लगे। परन्तु इधर काव्य की समाप्ति हो चली, उधर काव्य के भले या बुरे होने के बारे में मातृगुप्त ने कुछ भी नहीं कहा। राजा के इस मौनावलम्बन से कवि अत्यन्त दुःखित हुये और उन्होंने इसे अपनी कविता का निरादर समझा। राजा में इस सरस महाकाव्य के गुण समझने की योग्यता का सर्वथा अभाव जानकर कविजी पुस्तक को वेष्टन में बाँधने लगे, परन्तु राजा मातृ-गुप्त ने पुस्तक के नीचे सोने की थाली इसलिये रखवा दी कि कहीं लावण्य ज़मीन पर टपक कर ख़राब न हो जाय—क़ाव्य-रस चूकर पृथ्वी पर गिर न पड़े। राजा की इस सहृदयता तथा गुणग्राहकता से भर्तृमेण्ठ अत्यन्त आह्लादित हुये—इसे ही उन्होंने अपना पूरा सत्कार समझा और राजा के द्वारा पुरस्कार के रूप में दी गई सम्पत्ति को पुनरुक्त के समान माना। इस घटना का वर्णन राजतरंगिणीकार के शब्दों में सुन लीजिये —

> हयग्रीववधं मेण्ठस्तदग्रे दर्शयन् नवम्।
> आसमाप्ति ततो नापत् साध्वसाध्विति वा वचः।
> अथ ग्रन्थयितुं तस्मिन् पुस्तके प्रस्तुते न्यधात्
> लावण्यनिर्याणभिया राजाधः स्वर्णभाजनम्॥
> अन्तरज्ञतया तस्य तादृश्या कृतसत्कृतिः
> भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोऽर्पणम्।

—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग (२६४–२६६)

बहुत सम्भव है कि ये मातगुप्त के सभा-पण्डित हो गये हों और कश्मीर में अपने दिन बिताये हों। इससे अधिक इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

कविवर राजशेखर के उल्लेख से जान पड़ता है कि भर्तृमेण्ठ ९०० ईस्वी के पहले ही होंगे। राजतरंगिणी के ऊपर दिये वर्णन के आधार पर भर्तृमेण्ठ और मातृगुप्त की समसामयिकता सिद्ध होती है। कल्हण के कथनानुसार मातृगुप्त ने पाँचवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (४३० ई० के आस-पास) कश्मीर देश पर शासन किया। अतः कविवर भर्तृमेण्ठ का भी वही समय—पाँचवीं सदी का पूर्वभाग—समझना चाहिये।

समय

ऊपर कहा गया है कि कवि ने '**हयग्रीववध**' की रचना की। यही इनकी एक मात्र रचना जान पड़ती है। दुर्भाग्यवश यह महाकाव्य अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ है। कहीं कहीं सूक्ति संग्रहों तथा रीतिग्रन्थों में उद्धृत श्लोक ही इस अनुपम महाकाव्य के अवशिष्ट अंश हैं; परन्तु ये इतने थोड़े हैं कि इनसे पूरे महाकाव्य के गुण-दोषों का विवेचन नहीं किया जा सकता। नाम से प्रतीत होता है कि इस महाकाव्य में विष्णु भगवान् के द्वारा हयग्रीव के वध का वृत्तान्त दिया गया है। **मम्मटाचार्य** ने अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में रस के दोषों को दिखाते हुए 'अंगस्याप्यति-विस्तृतिः' नामक एक दोष माना है। अंगी—मुख्यपात्र-का ही

ग्रन्थ

विस्तार से वर्णन काव्य में अभीष्ट होता है; परन्तु यदि ऐसा न कर अंग—अमुख्य पात्र - का विस्तार किया जाय तो साहित्यिक दृष्टि से इसे दोष समझना चाहिये। इसी दोष के उदाहरण में मम्मट ने 'हयग्रीववध' का नाम लिया है। इस महाकाव्य में नायक—अंगी-विष्णु भगवान् हैं; प्रति-नायक—अंग - हयग्रीव है; परन्तु कवि ने नायक के वर्णन की अपेक्षा प्रतिनायक का ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। उचित तो यह था कि प्रधानपात्र का विस्तृत विर्णन किया जाय, प्रतिनायक का कम। इस औचित्य के परित्याग करने से 'हयग्रीववध' में पूर्वोक्त रस-दोष आ गया है; मम्मट के कथन का यही सारांश है।

भर्तृमेण्ठ संस्कृत के एक प्रतिभाशाली कवि थे। बाल रामायण में **राजशेखर** ने अपने विषय में लिखते समय भर्तृमेण्ठ का नामोल्लेख किया है।

कविता

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

राजशेखर का कहना है कि वहुत पहिले वाल्मीकि कवि हुये; फिर वही संसार में भर्तृमेण्ठ के रूप में आये; अनन्तर भवभूति के रूप में फिर आ विराजे। वेही आदि-कवि वाल्मीकि आजकल राजशेखर हैं। राजशेखर की इस प्रशंसा से भर्तृमेण्ठ उच्च कोटि के कवि प्रतीत होते हैं। आश्चर्य की बात है कि राजशेखर ने वाल्मीकि तथा भवभूति के मध्यवर्ती समय के प्रधानकवि का उच्च पद कालिदास को न प्रदान कर **भर्तृमेण्ठ** को दिया है। इससे

राजशेखर की माननीय सम्मति में भर्तृमेण्ठ का स्थान बड़ा ऊँचा ठहरता है।

कहा जा चुका है कि हयग्रीववध उपलब्ध नहीं है। अतः मेण्ठ की संस्कृत साहित्य में संरक्षित रचनाओं के एकत्र संग्रह करने का उद्योग नीचे किया जाता है।

क्षेमेन्द्र के कथनानुसार 'हयग्रीववध' के आरम्भ का श्लोक यह है—

आसीत् दैत्यो हयग्रीवः सुहृद्वेश्मसु यस्य ताः।
प्रथयन्ति बलं बाह्वोः सितच्छत्रस्मिताः श्रियः॥

भावार्थ—हयग्रीव नामक एक दैत्य रहता था, मित्रों के घरों में रहने वाली, सफ़ेद छाते के समान मुसकुराहट वाली, सम्पदायें जिसके दोनों वाहुओं के बल को प्रगट करती थीं।

हयग्रीव की प्रभुता देखिये—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः।

प्रतापशाली हयग्रीव को देखकर ऐरावत के गण्डस्थल पर चिरकाल से बहने वाले मद ने वहाँ के रहने के प्रेम को छोड़ दिया—डर के मारे सूख गया और मान ने-अहंकार ने-इन्द्र के हृदय में निवास करने के स्नेह को छोड़ दिया अर्थात् इन्द्र के हृदय से डरके कारण अभिमान भग गया।

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती

देवताओं का गर्व चूर करने वाला हयग्रीव जब कभी स्वेच्छा से अपने महल के बाहर निकल पड़ता था, तब इसकी खबर पाकर इन्द्र अमरावती के फाटकों की अर्गला जल्दी में गिरा देते थे—फाटक बन्द कर देते थे। उस समय जान पड़ता था कि अमरावती ने भय के मारे अपनी आँखें बन्द कर ली हैं। ये दोनों श्लोक काव्यप्रकाश में उदाहरण दिये गये हैं।

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः।

हयग्रीव के सैनिकों ने नन्दन वन में उत्पन्न होने वाले कल्पवृक्ष की उन मंजरियों को, जो इन्द्राणी की केशरचना के काम में लाई जाती थीं, अनादर से छूआ। आशय है कि हयग्रीव ने स्वर्गलोक जीत लिया। साहित्यदर्पण में यह श्लोक 'पर्यायोक्त' अलङ्कार के उदाहरण में दिया गया है।

दानवाधिपते! भूयो भुजोऽयं किन्न नीयते।
सहायतां कृतान्तस्य क्षयाभिप्रायसिद्धिषु॥

हयग्रीव से कोई कह रहा है कि ऐ दानवों के राजा! आप संसार के नाश करने के अभिप्राय को सिद्ध करने के लिये यमराज को फिर अपने बाहु से सहायता क्यों नहीं करते?

महासुरसमाजेऽस्मिन् न चैकोऽप्यस्ति सोऽसुरः।
यस्य नाशनिनिष्पेषनीराजितमुरःस्थलम्॥

बड़े २ असुरों के इस समाज में ऐसा कोई एक भी असुर नहीं है जिसकी छाती इन्द्र के वज्र के आघात से सुशोभित न की गई हो।

राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में ये दोनों श्लोक 'कविसमय' के उदाहरण में दिये गये हैं। दानव, असुर तथा दैत्य में भेद होने पर भी कवि लोग इनमें भेद नहीं मानते। इन्हीं पद्यों में दैत्य हयग्रीव दानव तथा असुर कहा गया है। इसी कविसमय के दृष्टान्त में राजशेखर ने इन्हें उद्धृत किया है।

महात्माओं के सच्चे लक्षणों को बताने वाला यह प्रसिद्ध पद्य सुभाषितावलि में भर्तृमेण्ठ का बताया गया है—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा, सदसि वाक् पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ, प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।

महात्माओं की यही विशेषता है कि उनके मन सुख के समय में न तो हर्ष के वश में होता है, दुःख के समय में न विषाद के—

इदं हि माहात्म्यविशेषसूचकं वदन्ति चिन्हं महतां मनीषिणः
मनो यदेषां सुखदुःखसंभवे प्रयाति नो हर्षविषादवश्यताम्।

वाचो माधुर्यवर्षिण्यो नाभयः शिथिलांशुकाः
दृष्टयश्च चञ्चद्भ्रूका मण्डनान्यान्ध्रयोषिताम्

माधुर्य बरसाने वाली वाणी, ढीले कपड़े वाली नाभियाँ, चपल भौं वाली आँखें—आन्ध्रदेश की महिलाओं के ये ही भूषण हैं।

तथाप्यकृतकोत्तालहासपल्लविताधरम्
मुखं ग्रामविलासिन्याः सकलं राज्यमर्हति।

गाँव की सुन्दरी स्त्रियों का मुख बिना बनावट के अर्थात् स्वाभाविक अट्टहास से होठों को पल्लव के समान खिल जाने पर इतना मनोरम है कि इसके लिये पूरा राज्य न्यौछावर किया जा सकता

है। बहुत ठीक है ! एक दूसरे कविजी को भी ग्रामीण नारियों के स्वभाव सुन्दर हाव भाव अच्छे लगते हैं—

न तथा नागरस्त्रीणां विलासा रमयन्ति नः ।
यथा स्वभावमुग्धानि वृत्तानि ग्राम्ययोषिताम् ।

महद्भिरोघैस्तमसामभिद्रुतो भयेऽप्यसंमूढमतिः क्रमन् क्षितौ ।
प्रदीपवेषेण गृहे गृहे स्थितो विखण्ड्य देहं बहुधेव भास्करः ॥

सायंकाल अन्धकार की बड़ी सेना ने सूर्य के ऊपर चढाई कर डाली। विचारा सूर्य कहीं छिप जाने के लिये समग्र पृथ्वी में घूमने लगा। इस भय से उसकी बुद्धि मारी नहीं गई। सूर्य ठहरा बड़ा बुद्धिमान्। वह अपने शरीर को खण्ड खण्ड करके प्रत्येक घर में दीपक के रूप में ठहर गया। अब अन्धकार क्या कर सकता है। न पूरा सूरज मिलता है, न वह अपनी शत्रुता का बदला ले सकता है। सूरज को कैसी अच्छी चाल सूझी। इस रमणीय उत्प्रेक्षा के लिये हमारे भर्तृमेण्ठ भी पूरे कल्पना-राज्य के अधिपति ठहरते हैं।

आजकल के धनियों को धन से क्या लाभ है। ज़रा कवि की सुन्दर उक्ति सुन लीजियेः—

मधु च विकसितोत्पलावतंसं शशिकरपल्लवितं च हर्म्यपृष्ठम्
मदनजनितविभ्रमा च रामाः फलमिदमर्थवतां विभूतयोऽन्याः

धनाढ्यों का फल यही हैः—खूब शराब उड़ाना, चन्द्रमा की किरणों से सुशोभित महल का शिखर, कामविलास वाली स्त्री। बस, सुन्दर ऊँचे महल पर शराब से मस्त होकर काम

चेष्टा करना यही धन का फल है। धनिकों की और बातें सिर्फ विभूतियाँ हैं। उनसे उनको कुछ लाभ थोड़े है। आज कल के हमारे सेठसाहूकारों का व्यवहार आज भी उपर्युक्त पद्य को यथार्थ बनाये दे रहा है!

जनमजितमपीच्छता विजेतुं निशितदशार्धशरं धनुर्विमुच्य।
अतिरभसतयोद्यता स्मरेण ध्रुवमसियष्टिरिहाङ्गनाभिधाना॥

अंगना की यह सुन्दर परिभाषा है। कामदेव ने मनुष्य को जीतने के लिये अपने तीखे पांचों बाण छोड़े, परन्तु मनुष्य जीता नहीं गया। परन्तु कामदेव अपने हठ पर डटा था। समझा कि इस साधारण धनुष से काम नहीं चलने का; झट पट उसने तलवार उठा ली। यही तलवार नारी है। संसार में अवश को भी वश करने वाली युवती को छोड़ और कौन मोहक वस्तु है!

त्यक्तो विन्ध्यगिरिः पिता भगवती मातेव रेवा नदी।
ते ते स्नेहनिबन्धबन्धुरधियः तुल्योदयाः दन्तिनः॥
त्वल्लोभान्ननु हस्तिनि! स्वयमिदं बन्धाय दत्तं वपुः।
त्वं दूरे भ्रियसे लुठन्ति च शिरःपीठे कठोराङ्कुशाः॥
(सदुक्तिकर्णामृते)

हाथियों के पकड़ने के लिये पालतू हथिनी जंगलों में छोड़ दी जाती है। उसी के संग में हाथी अपने झुण्ड को छोड़ चला आता है और पकड़ लिया जाता है। ऐसे ही पकड़े गये हाथियों का करुण क्रन्दन है:—हे हथिनी! तुम्हारे लोभ में पड़कर मैंने पिता विन्ध्याचल को छोड़ दिया। माता के समान पालने वाली नर्मदा से

विमुख हुआ। अत्यन्त स्नेही समान-वयस्क अपने बन्धुवर्ग हाथियों को भी छोड़ दिया। इतना ही नहीं, अपने प्यारे शरीर को भी बंधन में डलवा दिया। यह सब तेरे लोभ में पड़ने से ही हुआ। आशा थी तुम्हारे संग की। परन्तु अब मैं अपनी भूल समझता हूँ। तुम तो दूर खड़ी हो और मेरे शिर पर कठोर अँकुश बरस रहे हैं। बड़ी भूल हुई!

इस प्रकार अपने दुर्भाग्य पर शोक करने वाले करिशावक को लक्ष्य कर कवि जो कह रहे हैं—

घासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ! प्रेमबन्धं करिण्याः
पाशग्रन्थिव्रणानामभिमतमधुना देहि पङ्कानुलेपम्
दूरीभूतास्तवैते शबरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तरम्या
रेवाकूलोपकण्ठद्रुमकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः।

ऐ हाथी के बच्चे! हथिनी का प्रेम अब छोड़ दो। वह तो तुम्हें बन्धन में डाल कर भाग गई है। घास के ग्रास लो, और तुम्हारे शरीर पर रस्सी बाँधने से जो घाव हो गये हैं उन पर कीचड़ का लेप लगाओ। अब तुम्हें विन्ध्याटवी में फिर लौट जाने की कोई आशा नहीं। शबर सुन्दरियों के विलास से रमणीय और रेवातट पर उगने वाले वृक्षों के पुष्प-पराग से धूसर वर्ण वाले विन्ध्याचल की पहाड़ियाँ अब तुम से बहुत दूर हो गई हैं।

अन्तिम दोनों ही पद्य कवि के हाथियों से विशेष परिचय तथा प्रेम को द्योतित कर रहे हैं।

८—शूद्रक

संस्कृत साहित्य के इतिहास में बहुत से ऐसे राजाओं के नाम मिलते हैं जिन्होंने कवियों तथा पण्डितों को आश्रय देकर आदर सत्कार करके ही सरस्वती देवी की सेवा नहीं की, बल्कि स्वयं कमनीय कविता लिखकर-सुन्दर काव्यग्रन्थों का निर्माण कर-शारदा की उत्कृष्ट सेवा की है। ऐसे नृपति-कवियों में शूद्रक का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। शूद्रक ने सुशासन से केवल पुरुषों को ही आनन्दित नहीं किया, प्रत्युत अपनी रमणीय नाट्यकला के प्रदर्शन से भी सहृदय जनों के हृदय को सर्वदा रसाप्लुत बनाया।

चरित्र

शूद्रक की प्रसिद्ध कृति मृच्छकटिक है जिसमें कतिपय पद्यों से रचयिता के विषय में कुछ वृत्त ज्ञात होता है। लिखा है कि शूद्रक ऋग्वेद, सामवेद, गणित शास्त्र, वैशिकी कला-नृत्य गायन

---

१ ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दिनदशसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ।।१।४
समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥१।५

आदि—हस्तिशास्त्र में परम प्रवीण थे, भगवान् शिव के अनुग्रह से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था, बड़े ठाट बाट से उन्होंने अश्वमेध किया था, अपने पुत्र को राज्य-सिंहासन पर बैठा दस दिन तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त कर अन्त में अग्नि में प्रवेश किया। वह युद्धों से प्रेम करते थे, प्रमाद रहित थे, तपस्वी तथा वेद जानने वालों में श्रेष्ठ थे। राजा शूद्रक को बड़े बड़े हाथियों के साथ बाहुयुद्ध करने का बड़ा शौक था। उनका शरीर था शोभन, उनकी गति थी मतङ्ग के समान; नेत्र थे चकोर की तरह, मुख था पूर्ण चन्द्रमा की भाँति। तात्पर्य यह है कि उनकी समग्र शरीर सुन्दर था। वे द्विजों में मुख्य थे।

परिचय

शूद्रक नामक राजा की संस्कृतसाहित्य में खूब प्रसिद्धि है। जिस प्रकार विक्रमादित्य के विषय में अनेक दन्त-कथायें प्रख्यात हैं, उसी प्रकार शूद्रक के विषय में भी हैं। कादम्बरी में विदिशा नगरी में, कथासरित्सागर में शोभावती तथा वेतालपञ्चविंशति में वर्धमान नामक नगर में शूद्रक के राज्य करने का वर्णन पाया जाता है। कथासरित्सागर में इस कथा का उल्लेख पाया जाता है कि किसी ब्राह्मण ने राजा को आसन्न मृत्यु जान कर उसके दीर्घ जीवन की आशा से अपने प्राण निछावर कर दिये थे। हर्षचरित में लिखा है कि शूद्रक चकोर के राजा चन्द्रकेतु का शत्रु था। राजतरंगिणीकार स्थिर-निश्चयता के दृष्टान्त के लिये शूद्रक का स्मरण करते हैं। स्कन्दपुराण के अनुसार विक्रमादित्य के सत्ताइस वर्ष पहिले शूद्रक

प्रसिद्धि

ने राज्य किया था। प्रसिद्धि है कि कालिदास के पूर्ववर्ती रामिल तथा सोमिल नामक कवियों ने मिलकर 'शूद्रक-कथा' नामक पुस्तक लिखी थी। अतः शूद्रक राजा की पर्याप्त प्रसिद्धि है; परन्तु अनेक पश्चिमी विद्वान् मृच्छकटिक को शूद्रक-कर्तृक होने में सन्देह प्रकट करते हैं। भला कोई कवि अपने मृत्यु का उल्लेख किसी अपने प्रबन्ध में कर सकता है? अतः प्रस्तावना का यह अंश अवश्य ही प्रक्षिप्त जान पड़ता है। डाक्टर पिशल ने मृच्छकटिक को काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित के लेखक दण्डी की रचना मानी है। परन्तु सब सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है कि दण्डी का मृच्छकटिक से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। अतः 'शूद्रक' ही इस मृच्छकटिक के रचयिता हैं, इसे मानने में अब तनिक भी सन्देह नहीं जान पड़ता है।

स्थितिकाल

शूद्रक के समय निरूपण के विषय में पश्चिमी तथा पूर्वी

---

१ 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' के अलंकार-निर्देश का वर्णन विशिष्टरूप से काव्यादर्श के द्वितीय अध्याय में पाया जाता है। यही श्लोक मृच्छकटिक में भी उपलब्ध होता है। अतः डाक्टर पिशल ने काव्यादर्श के समस्त पद्यों को दण्डी की रचना मानकर मृच्छकटिक को दण्डी-विरचित बतलाया है। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' दण्डी से बहुत प्राचीन है, क्योंकि इसके अलङ्कार का विवेचन भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न ढंग से किया है। इन विभिन्न प्रकारों का उल्लेख आचार्य दण्डी ने स्वयं किया है। अब तो यह पद्य 'दरिद्रचारुदत्त' में उपलब्ध होने से भास कवि का माना जाता है।

विद्वानों में बड़ा मतभेद है। पुराणों में आन्ध्रभृत्य कुल के प्रथम राजा शिमुक का वर्णन मिलता है। अनेक भारतीय विद्वान् राजा शिमुक के साथ शूद्रक की अभिन्नता अंगीकार कर इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानते हैं। यदि यह अभिन्नता सप्रमाण सिद्ध की जा सके, तो शूद्रक कालिदास के समकालीन अथवा उनके कुछ पूर्व के ही माने जायँगे। परन्तु मृच्छकटिक की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति है। अतः बहिरंग तथा अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर यहाँ बहुसम्मत तथा यथासम्भव विश्वासयोग्य समय का निरूपण किया जायगा।

काल निरूपण में मतभेद

वामनाचार्य ने अपनी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में ('शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु') शूद्रक विरचित प्रबन्ध का उल्लेख किया है। 'द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्'— इस मृच्छकटिक के द्यूत-प्रशंसा-परक वाक्य को उद्धृत भी किया है जिससे कह सकते हैं कि आठवीं शताब्दी के पहले ही मृच्छकटिक की रचना की गई होगी। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (सप्तम शतक) ने भी काव्यादर्श में, जैसा कहा जा चुका है, 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' मृच्छकटिक के इस पद्यांश को अलंकार निरूपण करते समय उद्धृत किया है। इन बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मृच्छकटिक की रचना सप्तम शताब्दी के पहले ही हुई होगी।

बहिरंग प्रमाण

समय निरूपण में मृच्छकटिक के अन्तरंग प्रमाणों से भी

बहुत सहायता मिलती है। नवम अंक में वसन्तसेना की हत्या करने के लिये शकार आर्य चारुदत्त पर अभियोग लगाता है। अधिकरणिक के सामने यह पेश किया जाता है—अन्त में मनु के अनुसार ही धर्माधिकारी निर्णय करता है—

अन्तरंग प्रमाण

> अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्
> राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह। (९।३९)

इससे स्पष्ट ही है कि मनु के कथनानुसार चारुदत्त का अपराध सिद्ध होता है और धनसम्पत्ति के साथ उसे देश से निकल जाने का दण्ड दिया जाता है। यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप है—

> न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
> राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥
> न ब्राह्मणवधाद् भूयानधर्मो विद्यते भुवि
> तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत्।
>
> (८ अ०, ३८०-३८१)

अतः मृच्छकटिक की रचना मनुस्मृति के अनन्तर हुई होगी। मनुस्मृति का रचना-काल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है जिसके पीछे मृच्छकटिक को मानना होगा। भास कवि के 'दरिद्र चारुदत्त' तथा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अत्यन्त समता पाई जाती है। मृच्छकटिक का कथानक बहुत विस्तीर्ण है, दरिद्र-चारुदत्त का संक्षिप्त। यदि मृच्छकटिक को भास के रूपक के अनु-

करण पर रचा गया मान लें, तो शूद्रक का समय भास के पीछे होना चाहिये अर्थात् ईस्वी की तीसरी सदी के पीछे होगा।

मृच्छकटिक के नवम अंक में कवि ने बृहस्पति को अंगारक अर्थात् मंगल का विरोधी[१] बतलाया है; परन्तु वराह मिहिर ने इन दोनों ग्रहों को मित्र[२] माना है। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर का सिद्धांत ही आजकल फलित ज्योतिष में सर्वमान्य है। आज कल भी मंगल तथा बृहस्पति मित्र ही माने जाते हैं, परन्तु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कोई कोई आचार्य इन्हें शत्रु मानते थे, जिसका उल्लेख[३] बृहज्जातक में ही पाया जाता है। वराह मिहिर का परवर्ती ग्रन्थकार बृहस्पति को मंगल का शत्रु कभी नहीं कह सकता। अतः शूद्रक वराहमिहिर से पूर्व के ठहरते हैं। वराह मिहिर की मृत्यु ५८९ ईस्वी में हुई थी; इसीलिये शूद्रक का समय छठी सदी के पहले होना चाहिये।

इन सब प्रमाणों का सार यही है कि शूद्रक भास (तृतीय

---

१. अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥
(९।३३)

२. जीवेन्दूष्ण कराः कुजस्य सुहृदः।
—बृहज्जातक २।१६।

३. जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभौमाः क्रमात्।
वीन्द्वर्का विकुजेन्द्वश्च सुहृदः केषांचिदेवं मतम्॥
—२।१५।

शतक) के परवर्ती तथा वराहमिहिर (षष्ठ शतक) के पूर्ववर्ती थे अर्थात् मृच्छकटिक की रचना पञ्चम शतक में हुई थी।

ग्रंथ

शूद्रक के नाम से अभी तक एक ही ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। यह मृच्छकटिक है। इसमें १० अंक हैं। पहले अंक का नाम 'अलंकारन्यास' है। इसमें उज्जयिनी की प्रसिद्ध वारवनिता वसन्तसेना को राजा का श्यालक शकार वश में करना चाहता है। रास्ते में अँधेरी रात में विट तथा चिट के साथ शकार उसका पीछा कर रहा है। मूर्ख शकार के कथन से वसन्तसेना को पता चलता है कि वह आर्य चारुदत्त के मकान के पास ही है। अतः उसके घर में घुसती है। विदूषक मैत्रेय शकार को डाँट डपट कर घर में घुसने से रोकता है। चारुदत्त से वार्तालाप करने के बाद शकार से बचने के लिये वसन्तसेना अपना गहना उसके घर रख आती है। दूसरे अंक का नाम 'द्यूतकर संवाहक' है। दूसरे दिन सबेरे दो घटनाएँ घटती हैं। संवाहक पहले चारुदत्त की सेवा में था, पीछे पक्का जुआरी बन जाता है। वह जूए में बहुत सा धन हार जाता है जिससे वह चारुदत्त के घर भाग आता है। चारुदत्त उसे ऋण मुक्त कर देते हैं। संवाहक बौद्ध भिक्षु बन जाता है। उसी दिन प्रातःकाल वसन्तसेना का हाथी रास्ते में किसी भिक्षुक को कुचलना ही चाहता है कि उसका सेवक कर्णपूरक उसे बचाता है। चारुदत्त अपना बहुमूल्य दुशाला उपहार में देते हैं।

मृच्छकटिक की कथा

तीसरे अंक का नाम 'सन्धिच्छेद' है। वसन्तसेना की दासी मदनिका को शर्विलक सेवा से मुक्त कराना चाहता है। वह ब्राह्मण है; परन्तु प्रेमपाश में बँधकर आर्यचारुदत्त के घरमें सेंध मारता है और वसन्तसेना का गहना चुरा लेता है। चतुर्थ अंक का नाम 'मदनिका-शर्विलक' है। जिसमें शर्विलक अलंकार लेकर वसन्तसेना के घर जाता है और मदनिका को सेवामुक्त कर देता है। चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली उसके बदले में देती है। मैत्रेय रत्नावली लेकर वसन्तसेना के महल में जाता है और जूए में हार जाने का बहाना कर रत्नावली देता है। वसन्तसेना सायंकाल चारुदत्त के घर आने के लिये वादा करती है। पाँचवें अंकका नाम 'दुर्दिन' है। इसमें वर्षा का विस्तृत वर्णन है। सुहावने वर्षाकाल में आर्य चारुदत्त उत्सुकता से वसन्तसेना का राह जोहते बैठे हैं। चेट वसन्तसेना के आगमन की सूचना देता है। चारुदत्त से प्रेम सम्मिलन होता है। उस रात वह वहीं बिताती है। षष्ठ अंक का नाम 'प्रवहणविपर्यय' है तथा सप्तमका 'आर्यकापहरण'। प्रातःकाल चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में गये हैं। उनसे भेंट करने लिये वसन्तसेना जाना चाहती है; परन्तु भ्रमसे शकारकी गाड़ी में, जो समीप में खड़ी थी, जा बैठती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की भविष्यवाणी पर विश्वास कर गोपाल के पुत्र आर्यक को कैदखाने में बन्द कर देता है। आर्यक कारागृह से भागकर चारुदत्त की गाड़ी में चढ़ जाता है। शृंगला की आवाज़ को भूषण की झनझनाहट समझ गाड़ीवान गाड़ी हाँक देता है। रास्ते

में दो पुलिस के सिपाही गाड़ी देखने जाते हैं जिनमें से एक आर्यक को देख उसकी रक्षा करने का वचन देता है और अपने साथी से किसी बहाने झगड़ा कर बैठता है। आर्यक बगीचे में चारुदत्त से भेंट करता है। अष्टम अंकका नाम 'वसन्तसेना-मोटन' है। जब वसन्तसेना पुष्पकरण्डक उद्यान में पहुँचती है, तब प्राणप्रिय चारुदत्त के स्थानपर दुष्ट शकार-संस्थानक—मिलता है जो उसकी प्रार्थना न स्वीकार करने से वसन्तसेना का गला घोंट डालता है। संवाहक, जो भिक्षु बन गया है, वसन्तसेना को समीप के विहार में ले जाता है और योग्य उपचार से उसे पुनरुज्जीवित करता है। नवम अंक में, जिसका नाम 'व्यवहार' है, शकार चारुदत्त पर वसन्तसेना के मारने का अभियोग लगाता है। कचहरी में जजके सामने मुकद्दमा पेश होता है। उसी समय चारुदत्त का बालक-पुत्र रोहसेन मृच्छकट-मिट्टीकी गाड़ी-लेकर आता है जिसमें वसन्त-सेना के दिये सोने के गहने हैं। इसी के आधार पर चारुदत्त को फाँसी का हुक्म होता है। 'संहार' नामक दशम अंक में उसी समय राज्यपरिवर्तन होता है। पालक को मार चारुदत्त का परम मित्र आर्यक राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को क्षमा ही नहीं कर देता, प्रत्युत मिथ्याभियोग के कारण शकार को फाँसी का हुक्म देता है; परन्तु चारुदत्त के कहने से क्षमा कर देता है। वसन्तसेना के साथ चारुदत्त का ब्याह सम्पन्न होता है। इसी अन्तिम प्रेम-मिलन के संग यह रूपक समाप्त होता है।

हाल ही में शूद्रक के नामसे 'पद्मप्राभृतक' नामक भाण

मिला है। भाण का कथानक बहुतही सुन्दर है और उसमें वर्णित विषयों की प्राचीनता भी स्पष्ट दीखती है। अतः मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक पद्मप्राभृतक के भी कर्ता हैं; इसे मानने में आपत्ति नहीं जान पड़ती।

मृच्छकटिक का रूपकत्व

मृच्छकटिक नाटक नहीं है, प्रकरण है। प्रकरण का नायक धीर-प्रशान्त होता है। मृच्छकटिक का नायक ब्राह्मण चारुदत्त भी धीर प्रशान्त है। प्रकरण का वृत्त-कथावस्तु-नाटक के भाँति प्रख्यात नहीं रहता, बल्कि कवि कल्पित हुआ करता है। मृच्छकटिक की कथा-चारुदत्त तथा वसन्तसेना का संगम-शूद्रक के उर्वर मस्तिष्क की उपज है, इतिहास पुराण आदि में प्रसिद्ध नहीं। वस्तु तथा नेता के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से युक्त होने से अवश्य-ही यह प्रकरण[1] है। 'मृच्छकटिक' के नाम-करण का कारण चारुदत्त के पुत्र की मिट्टी की गाड़ी है, जिसमें लड़के को प्रसन्न करने के लिये वसन्तसेना ने सब अपने सोने के आभूषण उतार कर भर

---

१. साहित्यदर्पण में (६।५१३) प्रकरणका लक्षण—
भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक्॥
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।
नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि क्वचिद् द्वयम्॥
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।
कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः॥

दिये थे और जिसके कचहरी में ले आने से अधिकरणिक को चारुदत्त के अभियोग का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया था। इसी के ही आधार पर जज को निश्चय हो गया कि चारुदत्त ने अवश्य ही वसन्तसेना की हत्या की है। यह घटना इस रूपक में बड़े महत्त्व की है। अतः इसीके कारण इस रूपक का नामकरण किया गया है।

वस्तु, नेता तथा रसकी भिन्नता के कारण रूपक की विभिन्नता हुआ करती है। अतः इन्हीं विषयों पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जायगा।

मृच्छकटिक के कथा-वस्तु का विचार संक्षिप्त में यहाँ किया जायगा। प्रकरण का वृत्त लौकिक होना चाहिये—लोक सम्बन्धी चरित के ऊपर अवलम्बित होना चाहिये। साथ ही साथ उसे कवि-कल्पित होना आवश्यक है। मृच्छकटिक को कथा-कवि-कल्पना से प्रसूत है और लोक-प्रसिद्ध प्रेमघटना को लेकर यह रूपक लिखा गया है। उपकारी सज्जन कितना ही कष्ट उठावें, कितने ही संकट में फँसें, सत्यमार्ग को नहीं छोड़ते। यदि उनका आचार शुद्ध रहता है तो उनकी विजय अवश्य होती है। यह उपदेश बड़े सुन्दर ढंग से इस रूपक में दिया गया है। सदाचारी चारुदत्त को अन्त में विजय लक्ष्मी आलिंगन करती है—सच्ची प्रणयिनी वसन्तसेना अपने हृदयवल्लभ चारुदत्त को प्राप्त कर अपने को कृतकृत्य समझती है।

वस्तु-विचार

इस प्रकरण के कथावस्तु के दो अंश हैं—पहिला भाग चारुदत्त तथा वसन्तसेना का प्रेम, दूसरा भाग आर्यक की राज्य-प्राप्ति। शूद्रक ने पहले अंश को भास के 'दरिद्र-चारुदत्त' नाटक से अविकल लिया है। शब्दतः और अर्थतः—दोनों प्रकार की समता इसमें दृष्टि गोचर हो रही है। प्रेमी पाठकगण दोनों को साथ साथ पढ़ इस समता को जाँचे। राजनीतिक भाग कवि की अपनी सम्पत्ति है। यह अंश किसी ऐतिहासिक घटना को लक्ष्य करके लिखा गया है कि नहीं ? इसका निर्णीत उत्तर नहीं दिया जा सकता। बहुत से आलोचक इस अंश को प्राचीन ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखा गया मानते हैं। दोनों अंशों को शूद्रक ने बड़ी सुन्दरता के साथ सम्बद्ध किया है। पंचम अंक के विस्तृत वर्षा वर्णन को छोड़ शेष अंकों में अभिनय की सर्वत्र प्रधानता परिलक्षित हो रही है।

शूद्रक चरित्र-चित्रण में खूब सिद्धहस्त हैं इनके पात्र जीते जागते हैं; सजीवता की मूर्ति हैं। प्रत्येक पात्र में कुछ-न-कुछ विशेषता है। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त है।

चरित्र-चित्रण

प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त ब्राह्मण, वणिक या मन्त्री हुआ करता है। चारुदत्त ब्राह्मण है—तथा धीर प्रशान्त है। शूद्रक ने चारुदत्त के रूप में भारत के आदर्श नागरिक का चित्र खींचा है। वह सदाचार का निदर्शन है। कवि ने विट के द्वारा चारुदत्त का क्या ही सुन्दर वर्णन किया है ?—

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये॥
(१।४८)

चारुदत्त दीनों के कल्पवृक्ष है। दरिद्रों की सहायता करते उसे दरिद्रता आ घेरती है, परन्तु फिर भी वह दीनों की सहायता करने से विरत नहीं होता। उसमें आत्माभिमान की मात्रा खूब है। उसे जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि हमारे घर से छूँछे हाथ लौट जानेवाला चोर अपने मित्रों से मेरी दरिद्रता की निन्दा करेगा। स्वभाव उसका बड़ा उन्नत है। वसन्तसेना का अलंकार चोरी चल जाता है, परन्तु उसे प्रसन्नता होती है कि उसके घर में सेंध मारनेवाला चोर विफल मनोरथ होकर नहीं गया। वसन्तसेना के अल्पमूल्य भूषण के बदले में बहुमूल्य रत्नावली देने में तनिक भी नहीं हिचकता। जो शकार उसके जीवन का गाहक था, जिसने उस पर वसन्त-सेना के मारने का मिथ्या अभियोग लगाकर शूली पर चढ़ाये जाने का कारण था, उसी दुष्टबुद्धि मूर्ख शकार को वह क्षमा कर देता है। सचमुच चारुदत्त के रूप में हम एक आदर्श हिन्दू सज्जन का मनोरम चित्र पाते हैं।

वसन्तसेना उज्जयिनी की वेश्या है—इस प्रकरण की नायिका है। उसके चरित्र में हम अनेक स्त्रीसुलभ गुणों का सन्निवेश पाते हैं। वेश्या होने पर भी वह सच्चे प्रेम का मूल्य जानती है—

माता के आग्रह करने पर भी वह शकार की संगति नहीं चाहती और विरोध करने पर भी सदाचारी आर्य चारुदत्त की प्रेमपात्री बनने के लिये वह सतत उद्योग करती है। उसका हृदय अत्यन्त कोमल है। सेवकों पर दया करना उसका स्वभाव है। यद्यपि शकार उसे मार डालने का उद्योग करता है, तथापि वह अपने सद्‌गुणों के कारण जीवित बच जाती है। वसन्तसेना तथा चारुदत्त के अतिरिक्त अन्य पात्रों के भी चरित्र चित्रण में शूद्रक को सफलता प्राप्त हुई है। **धूता** सच्ची पतिव्रता हिन्दूनारी है जो अपने पतिदेव की प्रसन्नता के लिये कठिन से कठिन संकट झेलने के लिये उपस्थित है। अपने पति को कलंक से बचाने के लिये वसन्तसेना के अल्प-मूल्य आभूषण के लिये वहुमूल्य रत्नावली देते समय उसे तनिक भी दुविधा नहीं होती। **रोहसेन** भी स्निग्ध हृदय पुत्र है। **मैत्रेय** केवल मोदक से अपनी उदर-ज्वाला को शान्त करनेवाला 'औदरिक'—पेटू—नहीं है, न वह केवल हास्य का साधन है, प्रत्युत वह एक सच्चा मित्र है-विपत्ति में साथ देनेवाला सच्चा बन्धु है। अन्य साधारण पात्रों में **शर्विलक** का चरित्र सज्जनता तथा दुर्जनता का अपूर्व मिश्रण है। वेश्या की गृहदासी मदनिका को अपनी प्रिय पात्री बनाने में यह ब्राह्मण देवता तनिक भी नहीं सकुचाते-उसे ऋणमुक्त करने के लिये चोरी करने में उसे कुछ भी लज्जा नहीं, परन्तु अपने मित्र आर्यक के कारागृह में बन्धनकी वार्ता सुन वह अपनी प्रणयिनी को छोड़ सहायता करने के लिये खम ठोककर 'मैदाने जंग' में आ जुटता है। मृच्छकटिक में सबसे

विचित्र नाटकीय पात्र है—**शकार**। यह राजा का श्यालक है। नाम है सस्थानक। यह गर्व का जीता जागता पुतला है। उसमें दया छूकर भी नहीं है। वसन्तसेना को प्रणयपाश में बाँधना चाहता है, परन्तु वह इस मूर्ख को पसन्द नहीं करती। शकार चारुदत्त का अकारण शत्रु है। वसन्तसेना का गला अपने ही घोंट डालता है परन्तु दोष मढ़ता है चारुदत्त के सिर। अपने किये कर्म का फल चखने का भी सुयोग आता है परन्तु चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है। शकार के कथन सर्वथा दोषयुक्त होते हैं—

अपार्थमक्रमं व्यर्थं पुनरुक्तं हतोपमम्।
लोकन्यायविरुद्धं च शकारवचनं विदुः॥

इसकी शकार-बहुला भाषा भी शकारी के नाम से प्रसिद्ध है। यथा-

झाणझणन्तबहुभूशणशद्दमिश्शं
किं दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा।
एशे हलामि शहशत्ति जधा हणूमे
विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दम्॥ (१।२५)

अरी! अपने गहनों को झनझनाती हुई राम से डरी हुई द्रौपदी की तरह क्यों भग रही हो? मैं तुम्हें उसी भाँति ले भागता हूँ, जिस प्रकार हनुमान्‌जी विश्वावसु की भगिनी सुभद्रा को ले भागे थे। रामायण तथा महाभारत की कथा की कैसी अच्छी जानकारी है! वास्तव में मृच्छकटिक के पात्र जीते जागते मालूम पड़ते हैं।

मृच्छकटिक में तत्कालीन हिन्दू समाज का सच्चा चित्र हमें मिलता है। राजा का प्रभुत्व अधिक था, परन्तु वह अपने मंत्रियों की

सहायता से राज्य-संचालन किया करता था। पुलिस का इन्तज़ाम भी उस समय में अच्छा था। उस समय

सामाजिक अवस्था

मनुस्मृति के अनुसार मुकद्मों का फैसला हुआ करता था-मनुकी प्रामाणिकता सर्वत्र मानी जाती थी। अधिकरणिक (जज्ज) की सहायता करने के लिये 'असेसर' हुआ करते थे जिसमें ब्राह्मण तथा साहूकारों को भी जगह मिलती थी। वैश्योंका उस समय अच्छा संगठन था। वे दूर देशों से व्यापार किया करते थे—विदेशों में उनके जहाज भी आया जाया करते थे। ब्राह्मणों का काम केवल अध्ययन अध्यापन ही न था, बल्कि उनमें भी बड़े बड़े धनाढ्य —सम्भवतः व्यापार से धन प्राप्त करनेवाले-व्यक्ति थे। आर्यचारुदत्त के पिता-मह बड़े भारी सेठ थे। ब्राह्मण यज्ञ किया करते थे—उनके घर मंत्रपाठ से सदा गूंजा करते थे। ब्राह्मण-धर्म पर खूब विश्वास था। उस समय की धार्मिक-चर्या आजकल से भिन्न न थी। सन्ध्या-वन्दन, बलि देना, देवताओं के मन्दिर में सायंकाल को दीपदान आदि-आजकल की तरह उस समय भी प्रचलित थे। इन्द्रध्वज तथा कामदेवोत्सव आदि उत्सवों का सर्वत्र प्रचार था। ब्राह्मण-धर्म के अतिरिक्त बौद्धधर्म भी समुन्नत दशा में था। चैत्य और विहार भिक्षुओं के लिये बने थे, जिनमें रोगियों की शुश्रूषा भी हुआ करती थी। उस समय लोग धनाढ्य थे—वसन्तसेना के महल में राजसी ठाट बाट था। इतना होने पर भी दाम देकर खरीदे गये दासों की प्रथा उस समय थी परन्तु क्रीतदासों की दशा बहुत अच्छी

थी—उनके साथ मालिक का व्यवहार बहुत अच्छा होता था।

मृच्छकटिक की विशेषता उसकी प्राकृत भाषा है। जितनी प्राकृतभाषायें इसके पात्रों के भाषणों में उपलब्ध होती हैं, उतनी अन्य किसी नाटक में नहीं। मृच्छकटिक को विवृत्ति लिखनेवाले **पृथ्वीधर** के अनुसार यह भाषा-निर्देश किया जाता है। सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, उसकी माता, चेटी, कर्णपूरक, धूता, शोधनक श्रेष्ठी—ये ग्यारह पात्र **शौरसेनी** बोलते हैं। वीरक और चन्दनक **अवंतिभाषा** बोलते हैं। विदूषक की भाषा **प्राच्या** है। संवाहक, शकार वसन्तसेना तथा चारुदत्त के तीनों चेट (नौकर), भिक्षु और रोहसेन—ये छ पात्र **मागधी** बोलते हैं। शकार **शकारी,** दोनों चाण्डाल **चाण्डाली,** माथुर और द्यूतकर **ढक्क भाषा** का प्रयोग करते हैं। इन भाषाओं का लक्षण संक्षेप में **पृथ्वीधर** ने अपनी विवृत्ति के आरम्भ में दिया है। कुछ विस्तार के साथ इनके लक्षण **मार्कण्डेय कवीन्द्र** के **प्राकृतसर्वस्व** में मिलेंगे। लक्षण वहीं से देखना चाहिये।

प्राकृत भाषा विचार

शूद्रक की शैली बड़ी सरल है। बड़े-बड़े छन्दों का बहुत कम प्रयोग किया गया है। नये नये भाव स्थान स्थान पर मिलते हैं।

इस प्रकरण का मुख्य रस शृंगार है। रस की विभिन्न सामग्री से परिपुष्ट कर शृंगार का सुन्दर रूप कवि ने दिखलाया है। शूद्रक ने वर्षा का बड़ा विशद वर्णन किया है। इसमें चमत्कार-जनक अनेक सूक्तियाँ हैं।

कविता

धर्म-प्राण चारुदत्त के मेघाच्छन्न आकाश के देनेपर वामन भगवान् की लीला स्मरण हो आती है—

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृंगनीलो
विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः ।
आभाति संहतबलाकगृहीतशंखः
खं केशवो ऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥

(५।२)

जल से भींगे भैंसे के उदर तथा भौंरे की तरह मेघ नीला है। उसमें बिजुली की चमक पैदा हो रही है यही पीली चादर जान पड़ती है। बलाका—वंकपंक्ति—मेघ के समीप उड़ रही है। वह शंख की तरह है। आकाश में इस प्रकार मेघ को देखकर मालूम होता है कि दूसरे केशव नभोमण्डल को आक्रमण करने के लिये उद्यत हैं।

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः ।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ।

(५।२५)

जिस प्रकार दुर्जन के साथ किया गया उपकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ताराएँ नष्ट हो गई हैं । प्रियों से वियुक्त स्त्रियों की तरह दिशाएँ शोभित नहीं होतीं। इन्द्र के वज्र की अग्नि से भीतर ही भीतर अत्यन्त तपाया गया यह आकाश, जान पड़ता है, पिघल-

पिघल कर पानी के रूप में पृथ्वी पर गिर रहा है। पूर्वार्द्ध में उपमायें तथा उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षा अवलोकनीय है।

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंस्राश्रयम्।
नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते॥

(९।१४)

इस श्लोक में राजकरण—कचहरी-का खूब सच्चा वर्णन किया गया है। शूद्रक का कहना है कि कचहरी समुद्र की तरह जान पड़ती है। चिन्तामग्न मन्त्री लोग जल हैं, दूत गण लहर तथा शंख की तरह जान पड़ते हैं—इधर उधर दूर देशों में घूमने के कारण दोनों की यहाँ समता दी गई है। चारों ओर रहनेवाले चार—आजकल के खुफिया पुलिस-घड़ियाल हैं। यह समुद्र हाथियों तथा घोड़ों के रूप में हिंस्र पशुओं से युक्त है। तरह तरह के ठग तथा पिशुन लोग बगुले हैं। कायस्थ-मुंशी लोग ज़हरीले सर्प हैं। नीति से इसका तट टूटा हुआ है। यह प्राचीन काल के राजकरण का वर्णन है; आजकल की कचहरी तो कई अंशों में इससे भी बढ़कर है। कचहरी में पहले पहल पैर रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को शूद्रक के वर्णन की सत्यता का अनुभव पद-पद पर होगा।

शर्विलक के चरित्र का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ये ब्राह्मण देवता आर्य चारुदत्त के घर में रात को सेंध मारने जाते हैं। पहुँचने पर उन्हें मालूम पड़ता है कि वह अपना मान-

सूत्र भूल आये हैं। झटपट गले में पड़े रहनेवाले डोरे की—जनेऊ की-सुधि उन्हें हो आती है। बस आप इसीसे अपना कार्य सम्पादन करते हैं। इस प्रसंग में यज्ञोपवीत की उपयोगिता सुन लीजिये—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यं विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गा-
नेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च।

(३।१७)

भाई, ब्राह्मणों के लिये जनेऊ बड़े काम की चीज़ है, विशेष करके हमारे जैसे (चोर) ब्राह्मण के लिये। क्योंकि जनेऊ से भीत पर सेंध मारने की जगह को नापते हैं। आभूषणों के बन्धन जनेऊ के द्वारा छुड़ाये जाते हैं। यन्त्र से दृढ़ रूप से लगाये गये किवाड़ों को इसकी सहायता से खोलते हैं और यदि साँप या कीट काट खाय, तो उसे जनेऊ से बाँध भी सकते हैं (जिससे विष न चढ़े)। ठीक ही है ! चोर ब्राह्मण के लिये जनेऊ का और उपयोग ही क्या है ?

उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डु-
ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्तुतजल इव पङ्के दुग्धधाराः पतन्ति।

(१।५७)

चन्द्रोदय का वर्णन है। कामिनी के गण्डस्थलकी तरह श्वेत रंगवाला, नक्षत्रों के परिवार के साथ, राजमार्ग का प्रदीप, यह चंद्रमा उदय हो रहा है। उसके सफ़ेद किरण जब अन्धकार के समूह पर गिरते हैं, तो मालूम पड़ता है कि (काले) कीचड़ में, जिससे पानी चू गया है, दूध की (सफ़ेद) धाराएँ गिरती हों। काले अन्धकार—समूह में चन्द्र-किरणों का क्या ही विचित्र वर्णन है!

९-भारवि

महाकवि भारवि का नाम संस्कृत साहित्य में खूब प्रसिद्ध है। 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य की ख्याति पण्डित समाज में खूब ही है। विज्ञ पण्डित-जन जिन तीन विख्यात काव्यों को वृहत्त्रयी के नाम से पुकारते हैं और जिनका अध्ययन संस्कृत कविता पढ़ने वालों के लिये निन्तात आवश्यक बतलाते हैं, उनमें किरातार्जुनीय प्रथम स्थान धारण करता है। यही किरातार्जुनीय महाकाव्य कविवर भारवि की अमर कृति है।

भारवि का जीवन वृत्तान्त अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके महाकाव्य से इस विषय में तनिक भी सहायता

नहीं मिलती। पूरे ग्रन्थ भर में कवि ने अपने विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है परन्तु सब से पहिले दक्षिण के एक शिला लेख में इनका नामोल्लेख पाया जाता है। अनुमान यही होता है कि भारवि दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। इस अनुमान की हाल में ही यथेष्ट पुष्टि हुई है। अभी कुछ वर्ष बीते आचार्य दण्डी विरचित गद्यात्मक अवन्तिसुन्दरी कथा तथा उसीका पद्यात्मक अवन्ति-सुन्दरीकथासार नामक सारांश उपलब्ध हुये हैं जिनसे भारवि के विषय में भी बहुत कुछ बातें ज्ञात हुई हैं। सौभाग्यवश दण्डी ने कथा के आरम्भ में अपने पूर्वजों का वृत्तान्त कुछ विस्तार के साथ दिया है। लिखा है कि दण्डी के चतुर्थ पूर्व पुरुष, जिनका नाम दामोदर था, नासिका के समीपस्थ अपनी जन्म-भूमि को छोड़कर दक्षिण प्रान्त में चले आये। अवन्तिसुन्दरीकथा के सम्पादक पंडित रामकृष्ण कवि ने इन्हीं दामोदर के साथ भारवि की एकता मानी है अर्थात् उनकी सम्मति में भारवि ही आचार्य दण्डी के चतुर्थ पूर्व पुरुष (प्रपितामह) थे, परन्तु जिस पद्य के आधार पर यह अभिन्नता मानी गई थी उसके पाठ अशुद्ध होने के कारण इस सिद्धान्त को अब बदलना पड़ा है*। भारवि दण्डी के प्रपितामह नहीं थे, प्रत्युत प्रपितामह के मित्र थे क्योंकि भारवि की सहायता से ही दामोदर राजा विष्णुवर्धन की सभा में प्रविष्ट हुये। जो कुछ हो, इतना तो

जीवन वृत्त

* इसके लिये 'दण्डी' का जीवन चरित देखिये।

निश्चित है कि भारवि दक्षिण भारत के रहनेवाले थे और चालुक्य-वंशी नरेन्द्र विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे।

दन्त कथा

पण्डितसमाज में भारवि के विषय में एक किम्वदन्ती प्रसिद्ध है। सुनते हैं कि इनके पिता अपने पुत्र की वैदुषी से परिचित होने पर भी सभा में इनका इसलिए तिरस्कार किया करते थे, जिससे ये पाण्डित्य बढ़ाने में—शास्त्राभ्यास करने में--और भी दत्तचित्त हों, परन्तु पण्डित समाज में अपनी निन्दा, तिसपर पिता के द्वारा की गई, सुनकर भारवि मन ही मन जल भुन गये और पिता को मार डालने का निश्चय किया। एक रात को मारने के लिये तलवार लेकर गये भी; परन्तु जब माता के सामने पिता के निन्दा करने के कारण को छिपकर सुना, तब विचारे बड़े मर्माहत हुये। पिता के सामने गये और सरल हृदय की बातें कह सुनाई। पितृघातरूपी घोर पातक के लिये (यद्यपि मनमें ही इसे किया था) पिता से प्रायश्चित्त भी पूछा। पिता ने ससुराल में जाकर सेवावृत्ति स्वीकार करने को कही। विचारे ससुराल में गये और अपने ससुर की गायें नित चराया करते थे। इनकी धर्म-पत्नी भी वहीं थी। कार्य वश पत्नी ने इनसे पैसे माँगे, परन्तु भला उस समय भारवि के पास पैसे कहाँ! झट से इन्होंने अपना यह प्रसिद्ध पद्य पत्नी को किसी गुणग्राही साहूकार के पास गिरो रखने के लिये दिया। वह नीतिमय पद्य यही है—

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम्

वृणुते हि विमृश्य कारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

पद्य के मर्म को समझनेवाले किसी महाजन ने बहुत सा द्रव्य देकर इस पद्य को खरीद लिया और अपने शयनागार के सामने तख्ती पर इसे लिखकर लटका दिया। कार्यवश वह विदेश गया; वहाँ उसे कई वर्षों तक ठहरना पड़ा। जब लौटकर रात को घर आया तब उसने अपनी पत्नी के पास ही किसी वयस्क पुरुष को सोते हुये पाया। राह के थके माँदे बनिये को क्या ख़बर थी कि इतने वर्षों में उसका इकलौता बेटा भी बड़ा हो गया होगा—वयस्क बन गया होगा। पत्नी के कुव्यवहार से मर्माहत हो उसने सोते समय ही दोनों को मार डालने की ठानी, परन्तु घर में घुसने के समय उसका माथा 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' वाली तख्ती से टकराया। उसने श्लोक पढा—सहसा करने से रुक गया; पत्नी को जगाया। तब उसके आश्चर्य की सीमा न रही, जब उसने उस वयस्क पुरुष को अपना वही प्यारा इकलौता पुत्र पाया। कल्पित अनिष्ट की आशंका से उसका अंग सिहिर गया। उसने भारवि को बुलाया; बड़ा सम्मान किया और पत्नी तथा पुत्र की जीवन रक्षा करनेवाले श्लोक के रचयिता के सामने अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट की।

इस दन्तकथा की बातें सत्य हों या न हों, परन्तु यह तो सब को मानना पड़ेगा कि भारवि के पद्य नीति के सुन्दर उपदेश से भरे हुये हैं। भारवि नीति से खूब परिचित थे। उनके उपदेश के अनुसार संसार में वर्तने से समुचित लाभ ही होगा, पण्डित समाज

में प्रसिद्ध पूर्वोक्त कथानक से इतना अवश्य सूचित होता है।

भारवि परम शैव थे। यह बात किरातार्जुनीय के कथानक तथा अवन्तिसुन्दरीकथा के उल्लेख[१] से स्पष्ट प्रतीत होती है। राजाओं के सहवास से, जान पड़ता है, ये राजनीति के बड़े भारी जानकार हो गये थे। राजशेखर ने लिखा है कि राजा लोगों को बड़े बड़े शहरों में काव्य तथा शास्त्र की परीक्षा के लिए ब्रह्म-सभाएँ करनी चाहिये। उज्जयिनी में इसी प्रकार की सभायें होती थीं जिनमें बड़े बड़े कवियों की परीक्षा ली जाती थी। कालिदास तथा भर्तृमेण्ठ की भाँति भारवि की भी उज्जयिनी में परीक्षा ली गई थी।[२]

भारवि की **'आतपत्रभारवि'** भी संज्ञा थी। रसिकों ने जिस सुन्दर अर्थ से मुग्ध होकर इन्हें यह नाम दिया था वह नीचे के पद्य में व्यक्त किया गया है—

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा-
दुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता-
दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥ (५।३९)

---

१ यतः कौशिककुमारो (दामोदरः) महाशैवं महाप्रभावं गवां प्रभवं प्रदीप्तभासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णु-वर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्।

२ श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—
इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

स्थल कमलों के वन के वन खिले हैं, उनसे पीत पराग झर रहे हैं। हवा झोंके से बह रही है। वह पराग को उड़ाकर आकाश में फैला दे रही है। इस प्रकार कमल का पराग सोने के बने छाता की शोभा धारण कर रहा है। आकाश में फैला हुआ पराग सोने के बने पीले छाते की तरह जान पड़ता है। श्लोक का भाव बिल्कुल अनूठा है। सहृदयों को भारवि का कनकमय आतपत्र का सुन्दर प्रयोग इतना अच्छा लगा कि उन्होंने भारविका नामही इसी के कारण 'आतपत्र भारवि' रख दिया।

भारवि किस समय में हुये? इसका पता उनके ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से नहीं चलता। बहिरंग प्रमाणों के द्वारा उसे जानने के इस समय हमारे पास यथेष्ट साधन हैं। कालिदास के साथ भारवि का नाम दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय के ऐहोड़ के शिलालेख में मिलता है। यह शिलालेख दक्षिण में बीजापुर जिले के ऐहोड़ नामक ग्राम में एक जैन मन्दिर में मिला है। इस शिलालेख का समय[1] ५५६ शकाब्द (अर्थात् ६३४ ईस्वी) है। शिलालेख की प्रशस्ति पुलकेशी के आश्रित **रविकीर्ति** नामक किसी जैन कवि की है। प्रशस्ति के अन्त में **रविकीर्ति** अपने को कविता निर्माण करने में कालिदास तथा भारवि के समान यशस्वी

स्थितिकाल

---

१ पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्च शतासु च
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्।

बतलाता है। गंग नरेश दुर्विनीत के समय के शिलालेख से जान पड़ता है कि **दुर्विनीत** ने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग पर टीका लिखी थी[२]। टीका लिखना उचित ही था क्योंकि पूरे महाकाव्य में यही सर्ग सबसे अधिक क्लिष्ट है क्योंकि भारवि ने इस सर्ग में चित्रकाव्य लिखा है। इन उल्लेखों से यही पता चलता है कि ६३४ ईस्वी के पहले भारवि हुये—उस समय तक इनका नाम दक्षिण में प्रसिद्ध हो चुका था।

अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर भारवि **विष्णुवर्धन** के सभा पण्डित बताये गये हैं। **विष्णुवर्धन** पुलकेशी द्वितीय का अनुज था और वह ६१५ ईस्वी के आस पास महाराष्ट्र प्रान्त में अपने भाई की आज्ञा से राज्य करता था। उसके समकालिक होने से भारवि का समय सप्तम शताब्दी का आरम्भ काल होना चाहिये अर्थात् मोटे तरह से यही कहना चाहिये कि ६०० ईस्वी के आस पास भारवि विद्यमान थे।

भारवि की अमर कीर्ति जिस काव्यपर अवलम्बित है वही सुप्रसिद्ध किरातार्जुनीय नामक महाकाव्य है। इनकी यही एक मात्र रचना है। किरातार्जुनीय महाकाव्य है। अतः महाकाव्य

---

१ येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां **रविकीर्तिः** कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।

२ शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवड्डकथेन किरातार्जुनीयपञ्चादशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।

में आलङ्कारिकों ने जिन जिन वस्तुओं के वर्णन को आवश्यक माना है, उन सब का वर्णन इसमें है।

ग्रन्थ

किरातार्जुनीय का कथानक महाभारत से लिया गया है। वह संक्षेप में यहाँ दिया जाता है।

द्यूतक्रीडा में हार कर युधिष्ठिर द्वैत-वन में रहते थे। दुर्योधन की शासन प्रणाली देखने के लिये उन्होंने एक वनेचर को भेजा। वनेचर पूरी जानकारी प्राप्त कर लौटा और दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन की बातें बतलाईं। भीम और द्रौपदी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने के लिये उत्तेजित किया परन्तु धर्मराज ने प्रतिज्ञा तोड़कर समर छेड़ने की बात कथमपि स्वीकार नहीं की। इसी बीच में भगवान वेदव्यास जी भी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने अर्जुन को पाशुपतास्त्र पाने के लिये इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के हेतु भेजा। अर्जुनने कठिन तपस्या की। व्रतभंग करने के लिये दिव्याङ्गनायें भी आईं, परन्तु व्रती अर्जुन अपने व्रत से तनिक भी नहीं डिगे। भगवान् इन्द्र स्वयं अर्जुन के आश्रम में आये और मनोरथ-सिद्धि के लिये शिवजी की तपस्या करने का उपदेश दे गये। अर्जुन ने और भी दत्तचित्त से शिवकी आराधना की। मुनिगणों के कहने पर शिव ने अर्जुन के तपोबल की परीक्षा करने के लिये किरात का रूप धारण किया। एक मायावी शूकर अर्जुन की ओर भेजा गया। अर्जुन ने शूकर पर अपने बाण छोड़े, साथ ही साथ किरात ने भी अपने शरों को छोड़ा। अर्जुन का बाण सुअर का काम तमाम कर पृथ्वी में चला गया। बचे हुये बाणके

लिये झगड़ा छिड़ गया। कभी धनञ्जय की विजय होती, तो कभी किरात का पक्ष प्रबल होता। अन्ततोगत्वा दोनों बाहु युद्ध पर तुल गये। गाण्डीवी के बलसे प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने स्वयं अपना दर्शन दिया और अपना अमोघ पाशुपत अस्त्र देकर अर्जुन की अभिलाषा पूरी की।

मल्लिनाथ ने किरात के नायक आदिका वर्णन एक श्लोक में इस प्रकार दिया है—

> नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशज-
> स्तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
> शृङ्गारादिरसोऽयमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः
> शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्॥

किरात में १८ सर्ग हैं जिनमें ऊपर वर्णित कथानक का वर्णन किया गया है, परन्तु बीच के कई सर्गों में भारवि ने महाकाव्य के लक्षणानुसार ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त, तथा जलक्रीड़ा का बहुत कुछ विस्तार किया है। पूरा चौथा सर्ग शरद ऋतु, पंचम हिमालय पर्वत, षष्ठ युवतिप्रस्थान, अष्टम सुराङ्गना विहार तथा नवम सुर-सुन्दरी-संभोग के वर्णन में लगाये गये हैं। किरात में प्रधान रस वीर है। शृंगार रसभी गौणरूप से वर्णित किया है, वह मुख्य रसका अंगभूत ही है। किरात का आरम्भ 'श्री' शब्द से (श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीम्) होता है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द आया है। कहना व्यर्थ है कि भारवि ने

'मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते' के अनुसार मङ्गलार्थ अन्त में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है।

भारवि का काव्य अपने 'अर्थगौरव' के लिये विवेचकों म प्रसिद्ध है। जिस प्रकार विद्वत्समाज ने कालिदास की उपमा की प्रशंसा की है, उसी प्रकार उसने भारवि के अर्थ-गौरव को सराहा है। "भारवेरर्थगौरवम्"। अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना अर्थ-गौरव की पहिचान है। भारवि ने बड़े से बड़े अर्थ को थोड़े से शब्दों के द्वारा प्रकट कर वास्तव में अपनी अनुपम काव्य-चातुरी दिखलाई है। भारवि ने भीम के भाषण की प्रशंसा युधिष्ठिर के द्वारा जिन शब्दों में कराई है, वे ही शब्द इनकी कविता के भी यथार्थ निदर्श हैः—

कविता

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

(२।२७)

भारवि ने अपने काव्य को अलङ्कार से विभूषित करने में खूब प्रयत्न किया है। ऋतु, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय का वर्णन बड़ी सुन्दर भाषामें किया है। चतुर्थ सर्ग में शरद ऋतु का वर्णन इतना नैस-र्गिक और हृदयग्राही हुआ है कि इस जोड़ का दूसरा वर्णन ढूढ़ निकालना ज़रा कठिन है। अन्य प्राकृतिक दृश्यों का भी वर्णन खूब अनूठा हुआ है। उपमा, श्लेष आदि अलङ्कारों का प्रयोग भी उचित स्थान पर किया गया है। भारवि ने चित्र काव्य लिखने में

अपनी चातुरी दिखलाने के लिये एक समग्र सर्ग—पञ्चदश-ही लिख डाला है। इस सर्ग में सर्वतोभद्र, यमक, विलोम तथा अन्याय चित्र काव्य की शैली के नमूने पाये जाते हैं। भारवि ने एक ही अक्षर वाला भी एक श्लोक[1] लिखा है जिसमें 'न' के सिवाय अन्य वर्ण है ही नहीं। अतः कहीं कहीं इनका काव्य कठिन सा हो गया है। इसीलिये मल्लिनाथ ने इनके काव्य को नारिकेल फल के समान बतलाया है (नारिकेलफलसन्निभं वचो भारवेः)। इतना होने पर भी इनकी कविता में एक विचित्र चमत्कार है—मनोरम गाम्भीर्य है जो पाठकों के हृदय को अपनी ओर खींच लेता है।

भारवि नीति के, विशेषतः राजनीति के, बड़े भारी ज्ञाता प्रतीत होते हैं। पूरे काव्य में नीति भरी पड़ी है। भारवि के कितने ही नीति वाक्य पण्डितों की जिह्वा पर रहते हैं। 'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः', 'न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः', 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' 'विश्वासत्याशु सतां हि योगः' 'सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः', 'गुरुतां नयन्ति हि गुणाः न संहतिः', 'गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः'—आदि भारवि के अनेक वाक्य इतने लोकप्रिय और प्रसिद्ध हैं कि सर्व साधारण इसका प्रयोग भारवि के नाम से अनवगत होने पर भी करते हैं। राजनीति का भी विशिष्ट वर्णन किरातार्जुनीय में उपलब्ध होता है। द्वितीय सर्ग में भीमसेन और

---

१. ननोनन्नुनो नुन्नोनोनाना नानाननाननु
नुन्नोऽनुन्नोननुन्नेनोनाने नानुन्ननुन्ननुत्। (१५।१४)

युधिष्ठिर का सम्वाद राजनीति के गूढ़ तत्त्वों से भरा हुआ है। अन्य सर्गों में राजनीति के ऊँचे सिद्धान्त उचित स्थान पर रखे गये हैं।

भारवि ने बहुत से छन्दों में कविता की है परंतु सबसे अधिक सुन्दरता से वंशस्थ का प्रयोग किया है। क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ वृत्त को राजनीतिक विषयों के वर्णन के लिये सबसे अधिक उपयुक्त माना है—

षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।

अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि राजनीति के विशेषज्ञ भारवि का वंशस्थ सबसे अच्छा हुआ है। लेखक को तो यही प्रतीत होता है कि भारवि के द्वारा वंशस्थ के इतने सुचारु रूप से प्रयोग किये जाने के कारण ही सम्भवतः क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ को राजनीति वर्णन के लिये उपयुक्त माना है। क्षेमेन्द्र ने भारवि की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है—

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता।

(सुवृत्ततिलके)

अब भारवि के कुछ श्लोक नमूने के तौर पर दिये जाते हैं।

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां,
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः॥

दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन की कथा सुनकर द्रौपदी व्यग्र हो जाती है और युधिष्ठिर को क्रोधकर लड़ाई करने की सलाह

दे रही है। क्रोधकी प्रशंसा करते हुये वह कह रही है कि जिस मनुष्य का क्रोध व्यर्थ नहीं होता, वही आपदाओं को पार करता है, इतर प्राणी आप ही आप उसके वश हो जाते हैं; परन्तु यदि कोई प्राणी क्रोध शून्य है तो मित्र होने पर न तो उसका आदर ही होता है और न शत्रु होने पर उससे भय। दोनों अवस्थाओं में उसकी स्थिति व्यर्थ है। अतः उचित स्थान पर क्रोध अवश्य करना चाहिये।

करोति यः सर्व जनातिरिक्तां
सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभिः।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे
न पूरणीं तं समुपैति संख्या॥

किसी मनुष्य में योग्यता होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे उचित है कि वह सब व्यक्तियों से बढ़कर होनेवाली अपनी योग्यता को कार्यों के द्वारा अर्थवती—सफल—बनावे। यदि वह ऐसा करता है, तो सभा में योग्य पुरुषों की गणना में उसे दूसरा नंबर कभी नहीं मिलता—वह सदैव पहला गिना जाता है।

उपारताः पश्चिमरात्रगोचरा-
दपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं
गवांगणाः प्रस्नुतपीवरौधसः।

सायंकाल का दृश्य है। शाम को गोचर भूमि से, जहाँ वे रात के पिछले पहर में गई थीं, गायें झुंड की झुण्ड लौटी आ रहीं

हैं। उनके थन दूध से भर गये हैं, जल्दी चल नहीं सकतीं। अतः धीरे धीरे चल रही हैं। अपने प्यारे बछड़ों की याद आ रही है इसलिये उनके मोटे थनों से दूध चू रहा है। गायों के इस झुण्ड ने अर्जुन को देखने के लिये अत्यन्त उत्सुक बना डाला। शाम को चरागाह से घर लौटने वाली गायों का यह चित्र कितना नैसर्गिक है! गाँवों में इस दृश्य को देखने वाले इसकी सचाई की दाद जरूर देंगे।

गायों को चराने वाले बिचारे ग्वाले भी क्याही सरलता की मूर्ति हैं। भारवि ने क्याही अच्छा कहा है—

गतान् पशूनां सहजन्मबन्धुतां
गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः
कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे।

ये गोपाल पशुओं के साथ भाई का सा प्रेम करते हैं। घर का सा प्रेम बनमें रखते हैं—जंगल को घर सा समझते हैं। इतने सीधे हैं कि गायें उनकी सरलता का अनुकरण करती सी दीख पड़ती हैं। गायों के इन सच्चे सेवकों का यह वर्णन यथार्थ है।

उपैति शस्यं परिणामरम्यता
नदीरनौद्धत्यमपङ्कता महीम्।
नवैर्गुणैः सम्प्रति संस्तवस्थिरं
तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः॥

शरद् ऋतु का स्वाभाविक वर्णन है। धान पक गये हैं अतः

सुन्दर मालूम पड़ रहे हैं। नदियों में वर्षाकाल वाली उद्धतता नहीं है। पृथ्वी पर पंक बिल्कुल सूख गया है। वर्षाकाल की शोभा के प्रेम को अत्यन्त परिचित, अतः स्थिर होने पर भी, इस शरद ने अपने नये गुणों के कारण छिपा डाला है—शरद के सामने अब वर्षा को सब भूल गये हैं। ठीक है गुण की क़द्र होती है परिचय की नहीं !

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां
गता विपाकेन फलस्य शालयः ।
विकासिवप्राम्भसि गन्धसूचितं
नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥

खेत में बालियों के पक जाने पर धान के पौधे पीले पड़ गये हैं। बालियों के बोझ के कारण पौधे झुक गये हैं। जान पड़ता है कि खेत के जल में खिले हुये, गन्ध द्वारा जाने गये, इन नीले कमलों को सूंघने के लिये ये पौधे झुके हुये हैं। कविने बहुत ठीक कहा। बालियों की बोझ से अवनत धान के पौधों पर क्याही सुन्दर उत्प्रेक्षा है। कविने अपना प्रकृतिज्ञान खूब अच्छे ढंग से अभिव्यक्त किया है।

मृणालिनीनामनुरंजितं त्विषा
विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं
द्रुतं धनुःखण्डमिवाहिविद्विषः ।

धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी

खिली हैं। कमललता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमल के पत्तों की शोभा के साथ जल की शोभा मिल रही है। खेत में धानों की पकी पकी पीली शिखा (बालियाँ) सिरे पर हिल रही हैं जिनसे जल भी पीला हो गया है। खेत का इस प्रकार जल ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंगविरंगा धनुष, गलकर पानी के रूप में बह रहा हो। क्याही अनोखी कल्पना है!

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः
शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला
धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥

शरद् का सुहावना समय है। सुग्गों की पाँत की पाँत उड़ रही है। शिरीष के फूल की तरह कोमल हरे शुकों की पाँत मूँगे के टुकड़े के समान लाल लाल चोंचों में धान की पोली पीली बालियों को लिये हुये आकाश में उड़ी जा रही है। मालूम पड़ता है कि इन्द्रधनुष आकाश से उगा हो। सुग्गों का शरीर है हरा; चोंच है लाल, उन चोंचों में ली हुई धान की बालियाँ हैं पीली—वाह! इन रंगों की मिलावट क्या इन्द्र धनुष से कम सुहावनी जँचती है। भारवि ने शरद् के इस शोभन दृश्य को कितने सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। कल्पना एक दम नई है—वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है।

१०—भट्टि

संस्कृत-साहित्य में भट्टिकाव्य एक उन्नत स्थान रखता है। सरलता से व्याकरण सिखलाने में यह महाकाव्य अनुपम है। इसके ग्रन्थकार का नाम किसी की सम्मति में भर्तृहरि हैं। ये लोग शतकत्रयी के प्रसिद्ध रचयिता भर्तृहरि को ही इस महाकाव्य का कर्ता मानते हैं परन्तु यह कथन सत्य नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में इन दोनों की एकता मानने के लिए कोई भी प्रमाण नहीं है। प्रत्युत जहाँ शतकों से कोई पद्य उद्धृत किया गया है वहाँ स्पष्टतः श्री भर्तृहरि का नाम उल्लिखित है और भट्टिकाव्य के पद्य श्रीभट्टि स्वामी, भट्टि आदि के नाम से उद्धृत किये गये हैं। दोनों के एक ही व्यक्ति होने पर यह विभिन्नता दृष्टिगोचर नहीं होती। अतएव भट्टिकाव्य के रचयिता का नाम भर्तृहरि न होकर भट्टि स्वामी या भट्टि है।

भट्टिस्वामी की जीवन-घटनायें अज्ञान के गाढ़ अन्धकार में छिपी हैं। खोज के जाज्वल्यमान सूर्य ने इसे भेदन कर अभी तक दूर नहीं किया है। भट्टिकाव्य में एक स्थान को छोड़ कर कहीं भी कविने अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार लिखते हैं—

समय

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां
श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य
क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्।

अर्थात् श्रीधरसेन राजा के द्वारा शासित वलभी नगरी में मैंने इस काव्य को बनाया। इस काव्य से उस राजा की कीर्ति-कौमुदी चारों ओर फैले। इससे जान पड़ता है कि भट्टिस्वामी का वलभी के राजा श्रीधरसेन की सभा में सत्कार होता था, सम्भवतः ये उनके सभा पण्डित थे। अतः श्रीधरसेन का काल ही भट्टिकाव्य का निर्माण काल है। शिलालेखों में वलभी में राज्य करने वाले श्रीधरसेन नामधारी चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है। प्रथम श्रीधरसेन का काल ५०० ई० के आस-पास है और अन्तिम राजा का ६५० के लगभग। इन चारों राजाओं में से भट्टिस्वामी किस श्रीधरसेन के शासन काल में थे ? यह कहना अत्यन्त दुष्कर है परन्तु श्रीधरसेन द्वितीय के एक शिला लेख में किसी भट्टिनामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है। इस शिलालेख के भट्टि

---

१ यह 'वलभी' नगरी गुजरात की प्राचीन राजधानी थी। गुप्त राजाओं के पतन के अनन्तर यहाँ पर स्वतंत्र राजाओं ने बहुत दिन तक राज्य किया और उन्हीं के समय में यह नगरी अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। इसी के नाम पर इन राजाओं ने 'वलभी संवत' चलाया। गुप्त शासन-काल में प्रचलित होने वाले गुप्त सम्वत् को ही गप्तों के पतन के बाद 'वलभी संवत्' नाम प्राप्त हुआ।

तथा महाकवि भट्टि को एक मानने में कोई भी साधक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं; परन्तु यदि दोनों नाम-साम्य से एक मान लिये जायँ तो भट्टिस्वामी का समय प्रायः निश्चित-सा हो जायगा। इस शिलालेख का समय ६१० ई० के आस-पास है। अतएव भट्टिस्वामी का समय भी ईसा की छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सातवीं का आरम्भ सिद्ध होता है। दोनों की भिन्नता मानने पर भी हम यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि सातवीं सदी के मध्यकाल से पहिले भट्टिकाव्य की रचना की गई थी।

भट्टिस्वामी का ग्रंथ उन्हीं के नाम पर **भट्टिकाव्य** कहलाता है। इसे **रावणवध** भी कहते हैं। यह महाकाव्य २० सर्गों में समाप्त हुआ है; इसमें ३६२४ पद्यों का मनोहर संनिवेश किया गया है। इस महाकाव्य में मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र की जीवन घटनायें सरल रीति से वर्णन की गई हैं। इस महाकाव्य का सुन्दर उद्देश्य यह है कि मनोरंजन के साथ साथ संस्कृत व्याकरण का पूर्ण ज्ञान पाठकों को प्राप्त हो जाय। संस्कृत व्याकरण के कठिन होने के कारण देववाणी के कुछ सच्चे भक्तों को इसे सरल बनाने की चिन्ता थी। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि बालकों को शब्दों की व्युत्पत्ति तथा समुचित प्रयोग एक साथ मालूम हो जाँय। उन लोगों ने अपनी इस सदिच्छा को कार्यरूप में परिणत करने के लिये कितने प्रयत्न किये हैं। कुछ हितैषियों ने संस्कृत भाषा के सरल व्याकरण बनाने की कृपा की है और

ग्रन्थ

कितने विद्वानों ने शास्त्र-काव्यों का निर्माण कर शब्द-व्युत्पत्ति तथा शब्द-प्रयोग का ज्ञान साथ-ही-साथ कराने का स्तुत्य कार्य किया है। केवल भट्टिकाव्य ही इस प्रकार के काव्य का नमूना नहीं है बल्कि अन्य काव्य भी संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं। काश्मीर देशीय भट्टभौम कृत "राघवार्जुनीय" काव्य भी इसी मतलब से लिखा गया है। पातंजल महाभाष्य में उद्धृत कतिपय पद्यांशों से कई लोगों ने यह अनुमान निकाला है कि महर्षि पतंजलि के समय में भी ऐसे वैयाकरण काव्यों का उद्भव हो चुका था। अतएव भट्टिस्वामी ने अपने पूर्व-विद्वानों के द्वारा अभ्यस्त मार्ग का अनुसरण बड़ी उत्तम रीति से किया है। ग्रन्थकार ने पुस्तक का उद्देश्य बड़ी योग्यता से पूर्ण किया है। आपके निम्नलिखित शब्द वास्तव में सत्यता से भरे हैं:—

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥

भावार्थ—यह महाकाव्य व्याकरण जाननेवालों के लिये बड़ा उपकार है। व्याकरण जाननेवालों के लिये यह ग्रन्थ दीपक की तरह अन्य शब्दों को भी प्रकाशित कर देगा। जिस प्रकार अन्धों के हाथ में रहने पर भी दर्पण प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कराता है उसी प्रकार व्याकरण न जाननेवालों के लिये यह ग्रन्थ व्याकरण का परिचय प्रत्यक्ष रीति से नहीं करावेगा।

यद्यपि व्याकरण-सरलता को लक्ष्य में रखकर इस ग्रन्थ का

निर्माण हुआ है, तथापि पाठकों को भूलना न चाहिये कि यह काव्य है, नहीं नहीं महाकाव्य है, व्याकरण ग्रन्थ नहीं।

कविता

अतएव महाकाव्य के आवश्यक गुणों का निवेश कविवर ने बड़ी योग्यता के साथ किया है। भट्टिकाव्य के चार सर्गों की, दसवें से लेकर तेरहवें तक की, सृष्टि काव्य की विशेषताओं को प्रदर्शित करने के लिये की गई है। दसवाँ सर्ग शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की सुन्दर छटा से सुशोभित है। यमकालंकार के जितने भिन्न भिन्न उदाहरण इस सर्ग में उपलब्ध होते हैं उतने अन्य काव्यों में बहुत कम पाये जाते हैं। एकादश सर्ग की सृष्टि माधुर्यगुण की अभिव्यक्ति के लिये की गई है। उदात्त तथा अद्भुत भावों के प्रकटीकरण के लिये समग्र द्वादश सर्ग निर्मित हुआ है। त्रयोदश में भाषानिवेश खूब मनोमोहक है। इन विशिष्ट सर्गों के अतिरिक्त भी अन्य सर्गों में प्रसाद तथा माधुर्य गुणों की कमी नहीं है। भट्टि में वक्तृत्व शक्ति बड़े ऊँचे दर्जे की विद्यमान थी। इसके प्रमाण भट्टिकाव्य के कतिपय पात्रों के भाषण हैं। विभीषण के राजनीतिक भाषण से कविवर के राजनीतिक ज्ञान का परिचय हमें मिलता है। रावण की सभा में उपस्थित होने पर शूर्पणखा का भाषण भी बड़े महत्त्व का है। कविवर ने भाषणों को उन पात्रों के समुचित ही निविष्ट किया है। शूर्पणखा के भाषण (५म सर्ग) से उस कुलटा के कुटिल स्वभाव का परिचय हमें साफ़ तौर से मिलता है। प्राकृतिक दृश्यों के रमणीय वर्णन करने में कविवर भट्टि की शक्ति अच्छी दीख

पड़ती है। द्वितीय सर्ग में शरद् ऋतु का विमल वर्णन वास्तव में है। द्वादश सर्ग में प्रातःकाल का कमनीय वर्णन किया गया है। यह प्रातर्वर्णन साहित्य भर में अपना स्पर्धी नहीं रखता। महाकवि माघ का प्रभातवर्णन संस्कृत साहित्य में खूब प्रसिद्ध है; परन्तु लेखक की धारणा है कि कविवर माघ की दृष्टि भट्टि के प्रभात वर्णन पर अवश्य पड़ी थी। कम-से-कम दोनों वर्णनों में बहुत से समानता के विषय हैं। दोनों कवियों ने शृंगाररसाविष्ट रति-अनुरक्त कामी तथा कामिनियों के विलास वर्णन में अधिक शक्ति खर्च की है। कहीं कहीं माघ के पद्यों पर भट्टि के पद्यों की छाया स्पष्ट दृग्गोचर हो रही है। सारांश यह है कि कविता के विचार से भट्टि-काव्य न्यून श्रेणी का नहीं ठहरता। कवि भट्टि अपने प्रशंसनीय उद्योग में पूरे कामयाब हुए हैं। इस काव्य से पाठकों को काव्य-परिचय के साथ साथ संस्कृत व्याकरण का भी यथेष्ट ज्ञान हो जाता है। अतएव भट्टि हम सबके आदर तथा श्रद्धा के पात्र हैं।

सूर्योदय का क्या ही रमणीय वर्णन है:—

दुरुत्तरे पङ्क इवान्धकारे मग्नं जगत् सन्ततरश्मिरज्जुः।
प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन् प्रत्युज्जहारेव ततो विवस्वान्॥

भावार्थ—यह समस्त संसार गहरे कीचड़ की तरह गाढ़ान्धकार में धँसा हुआ है, जिससे स्थावर तथा जगम प्राणियों के शरीर बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ते। उदयाचल पर उदय होने वाला सूर्य रस्सीरूपी किरणों को चारों ओर फैलाकर उस अन्धकार से संसार को मानो उठा रहा है। क्या ही सहृदयमर्मस्पर्शिणी उत्प्रेक्षा है!

जिस प्रकार कीचड़ में धँसे हुये मनुष्य को कोई उपकारी सहायता द्वारा बाहर निकालता है उसी प्रकार घने अन्धकार में पड़े हुये संसार को सूर्य भगवान अपनी रश्मियों से बाहर निकाल रहे हैं। धन्य हैं उपकारी सविता !

चन्द्रास्त पर कविवर की एक उत्प्रेक्षा सुनिये:—

क्व ते कटाक्षाः क्व विलासवन्ति प्रोक्तानि वा तानि ममेति मत्वा।
लङ्काङ्गनानामवबोधकाले तुलामनारुह्य गतोऽस्तमिन्दुः॥

लंका की युवतियों के मुख की समता भला चन्द्रमा पा सकता है ! उन मुखों में कटाक्ष तथा विलास युक्त वचनों का निवास है। परन्तु चन्द्रमा न तो तिरछे कटाक्षों को फेंक सकता है और न विलास भरे वचनों को कह सकता है। अतएव युवतियों के जागने पर मेरी समता उनके मुख के साथ नहीं हो सकती, यही सोचकर चन्द्रमा सुबह होते ही डूब रहा है। क्या अच्छी कल्पना है !

शरद् विषयक कुछ रमणीय उक्तियों को ज़रा पढ़िये:—

तरङ्गसंगाच्चपलैः पलाशैः ज्वालाश्रियं सातिशयां दधन्ति।
सधूमदीप्ताग्नि रुचीनि रेजुस्ताम्रोत्पलान्याकुलषट्पदानि।

भावार्थ—तालाबों में विकसित रक्त कमलों की शोभा जलती हुई अग्नि की तरह हो रही है। लहरों के झोकों से नवीन पत्ते हिल रहे हैं जिसे देखकर जान पड़ता है कि अग्नि की ज्वालायें उठ रही हैं। कमलों के ऊपर बैठे हुये भौंरे धुएँ की तरह जान पड़ते हैं। अतएव ये कमल धूमवाली जलती आग के समान शोभित हो रहे हैं। क्या ही स्वाभाविक उपमा है।

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः।

इस सुहावने शरद् में ऐसा कोई सरोवर नहीं है जिसमें सुन्दर कमल न खिलें हों। ऐसा कोई पङ्कज नहीं है जिस पर भ्रमर नहीं वैठे हों। ऐसा कोई भौंरा नहीं है जो गूंज न रहा हो और ऐसी भनभनाहट भी नहीं है जो मन को न हर लेती हो। सारांश यह है कि शरद में सुन्दर कमल में सरोवरों खिले हुये हैं, कमलों पर बैठे हुये भौरों की रसीली भनभनाहट मनुष्यों के चित्त को चुरा रही है। वाग्देवतावतार श्रीमन्मटाचार्य ने 'काव्यप्रकाश' में इस पद्य को 'एकावली' का उत्कृष्ट उदाहरण बतलाया है।

निशातुषारैर्नयनाम्बुकल्पैः पत्रान्तपर्यागलदच्छबिन्दुः।
उपारुरोदेव नदत्पतंगः कुमुद्वतीं तीरतरुर्दिनादौ॥

प्रातः काल प्यारे चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर कुमुदनी की दुरवस्था को देखकर सरोवर के किनारे खड़ा हुआ वृक्ष भी रो रहा है। हाय! वही कुमुदिनी अब संकुचित हो गई जो अभी अपने प्रियतम चन्द्रमा की शीतल रश्मियों में हँसती हुई कल्लोलें कर रही थी। कुमुदिनी की दुःखद अवस्था, सचेतन मनुष्य को कौन कहे, अचेतन-जड़ वृक्ष को भी रुला रही है। वृक्ष के कोमल पत्ते उसकी आँखें जान पड़ते हैं और उनके ऊपर गिरा हुआ ओस आँसुओं की तरह मालूम हो रहा है। पत्तों से गिरते हुए सुन्दर ओस के कण आँखों से गिरने वाले आँसुओं के समान जान पड़ते हैं। वृक्ष पर चहकती हुई चिड़ियों की आवाज़ रोने के स्वर सा

जान पड़ती है। अतएव तीरस्थ यह वृक्ष वास्तव में चिड़ियों के शब्द के व्याज से मानों रो रहा है। वृक्ष का यह करुणक्रन्दन किसे सुभग नहीं मालूम पड़ता।

कविवर की उपमायें कहीं कहीं बड़ी सुन्दर हैं—अनूठी हैं। देखिये, सती सीता की उपमायें कितनी रमणीय हैं:—

हिरण्मयी साललतेव जङ्गमा
च्युता दिवः स्थास्नुरिवाचिरप्रभा।
शशांककान्तेरधिदेवताकृतिः
सुता ददे तस्य सुताय मैथिली॥

जनक ने रामचन्द्र को जानकी दी। जानकी क्या थी? मानों चलने वाली सोने की लता हो, आकाश से गिरी हुई स्थिर रहने वाली बिजुली हो। लता कभी चलती नहीं, परन्तु जानकी जंगम लता है। बिजुली कभी स्थिर नहीं रहती, केवल क्षणभर में चमक कर गायब हो जाती है; परन्तु सीता स्थिर रहने वाली विद्युत् है तथा चन्द्रमा की शोभा की अधिष्ठात्री देवी है। जनकनन्दिनी जानकी के लिये ये उपमायें कितनी समुचित हैं।

लंका में हनुमान ने आग लगादी है, अग्निताप से दुःखित लंका का कुछ हाल सुनिये। यह वर्णन अलंकृत होने से कितना मनोरम है।

सरसां सरसां परिमुच्य तनुं पततां पततां ककुभो बहुशः।
सकलैः सकलैः परितः करुणैरुदितैरुदितैरिव खं निचितम्॥

भावार्थ—अग्निज्वाला से व्याकुल होकर पक्षियों तालाब के

सरस शरीर को भय के मारे छोड़कर चारों दिशाओं में उड़ रही हैं। उनके मनोहर कारुण्योत्पादक रोने की आवाज़ से आकाश व्याप्त हो गया हैं। साधारण अर्थ कितने मनोहर शब्दावली में रखा हुआ है। यह पद्य पादादियमक का उत्कृष्ट उदाहरण है।

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा, विलसितं ह्रसितं स्मरभाषितम्।
न समदाः प्रमदा हतसंमदाः, पुरहितं विहितं न समीहितम्॥

जो हँसी दिल्लगी हमेशा हुई करती थी वह अब गायब हो गई। कामदेव से उद्दीपित शृंगार विलास अब कम हो गये, डर से युवतियों का दर्प चूर-चूर हो गया और उनका आनन्द काफूर हो गया। पहले जो हितसाधक कार्य थे वे इस समय में नहीं किये जाते थे। लंका में आग लग जाने से स्त्रियों की दुरवस्था का वर्णन कितने रमणीय शब्दों में हुआ है। कविवर ने इस पद्य में 'चक्र-वाल यमक' दिखलाया है।

न गजा नगजा दयिता दतिता, विगतं विगतं, ललितं ललितम्।
प्रमदा प्रमदाऽऽमहता, महतामरणं मरणं समयात् समयात्॥

अग्निज्वाला से कवलित लंका की अवस्था कैसी शोचनीय हो गई है! पर्वतों में उत्पन्न होने वाले प्यारे हाथियों की रक्षा कोई भी नहीं कर रहा है। ये विशाल-काय हस्ती इधर इधर अग्नि-देवता के बलिदान हो रहे हैं। पक्षियों का आनन्द खेल अब नष्ट हो गया। प्यारी वस्तुयें पीड़ित दीखती हैं। स्त्रियों का मद अब नष्ट हो गया तथा वे आम (रोग) से पीड़ित हो रही हैं। बड़े बड़े शूरों का बिना युद्ध के ही मरण काल आ पहुँचा है। शूर योद्धा

रण में लड़कर अपने प्यारे प्राणों को निछावर करते हैं परन्तु आज वे बिना युद्ध के मृत्यु-शय्या पर सो रहे हैं। कितनी भयङ्कर अवस्था हो गई है! पद्य कितना मधुर है। करुण रस क्याही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है! इस पद्य में यमकों की सुन्दर अवली शोभित हो रही है!

सैनिक वेषधारिणी स्त्रियों की वीरता तो देखिये:—

नेत्रेषुभिः संयुतपक्ष्मपत्रैः कर्णान्तकृष्टैरुरुकेशशूलाः।
स्तनोरुचक्रास्ततकर्णपाशाः स्त्रीयोधमुख्याः जयिनो विचेरुः॥

स्त्रियाँ जयी सैनिकों की तरह घूम रही थीं। उनके नेत्र बाणों का काम करते थे; नेत्रों के पक्ष्म (बरौनी) बाणों के पंख की तरह जान पड़ते थे। ये बाण कान तक खींचे गये थे। लम्बे लम्बे केश शूल थे; स्तन बड़े बड़े चक्रायुध थे; विस्तीर्ण कान पाश की तरह जान पड़ते थे। अतएव अपने पक्ष्मल नेत्रबाणों से युवकों को वेधकर केशरूपी शूलों से स्त्रियों ने युवकों के मन को जीत लिया था। नारियों के आयुध सुकुमार होनेपर भी कितने प्राणघातक हैं।

साम्नैव लोके विजितेऽपि वामे! किमुद्यतं भ्रूधनुरप्रसह्यम्।
हन्तुं क्षमो वा वद लोचनेषुर्दिग्धो विषेणेव किमञ्जनेन?

कोई नायक किसी स्त्री से कह रहा है कि हे प्रतिकूल काम करनेवाली! तुम अपने मधुर आचरण से ही समस्त लोक को जीत चुकी हो, फिर इस असह्य भ्रू—धनुष को चढ़ाने से लाभ? तुम्हारे नेत्रबाण ही प्राण लेने में समर्थ हैं तो फिर उन पर अंजनरूपी विष लगाने से काम ही क्या हुआ? कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षायें हैं! अंजन

लगाये हुए नयनों की समता विषदिग्ध (विष में बुताये गये) बाणों के साथ कितनी समुचित तथा मनोरंजक है !

रावण द्वारा अपमानित विभीषण के सुन्दर उपदेश आज कल भी धनी रईसों पर कितने अच्छे घटते हैं:—

करोति वैरं स्फुटमुच्यमानः, प्रतुष्यति श्रोत्रसुखैरपथ्यैः।
विवेकशून्यः प्रभुरात्ममानी, महाननर्थः सुहृदां वतायम्॥

भावार्थ—उस स्वामी का आचरण कितना विलक्षण है जो अपने समान किसी दूसरे को नहीं जानता, और जिसने विवेक को तिलांजलि दे दी है। यदि ऐसे स्वामी से स्पष्ट शब्दों में उसके हित की बात कहीं जाती है तो वह वैर करता है; परन्तु उसके हानिकारक परन्तु कानों को सुख देनेवाले वचनों से वह सन्तुष्ट होता है। कल्याणकारी वचन बुरे लगते हैं और हानिकारक अच्छे ! कैसी उल्टी गंगा बह रही है। अतएव ऐसा कुस्वामी अपने आश्रितों का महान अनर्थ करनेवाला होता है। आजकल भी ऐसे कुस्वामियों की संख्या भारतमें कम नहीं है।

विभीषण का यह कथन कितना सत्य है:—

मूर्खातुरः पथ्यकटून्नश्नन्, यत्सामयोऽसौ भिषजां न दोषः॥

यदि मूर्ख रोगी कड़वी दवा नहीं पीता; और इसलिए यदि उसका रोग नहीं छुटता तो इसका दोष उसी मूर्ख का है, न कि वैद्य महाशय का। भला ! कहीं दवा पिये बिना रोग अच्छा हो सकता है। "कड़वी भेषज बिन पिये मिटे न तन को ताप।"

११—हर्ष (हर्षवर्धन)

संस्कृत-साहित्य-संसार में महाराज विक्रमादित्य तथा महाराज हाल (शालिवाहन) के समान ही महाराज हर्ष की भी ख्याति है। इनके विद्याप्रेम तथा कवियों के आश्रयप्रदान से साधारण पाठक अवश्य परिचित होंगे। महाकवि बाणभट्ट ने इनकी ही आश्रय रूपी शीतल छाया में रहते हुए अनुपम गद्य काव्यों का निर्माण किया है। बाण ने इनकी ही कीर्ति का वर्णन 'हर्ष-चरित' में विस्तरशः किया है। संस्कृत-भाषा-प्रेमियों के हृदय-पटल पर कम-से-कम इस आश्रयदान के महान् कार्य से महाराज हर्ष का नाम सदा के लिये अमिट रूप से अंकित हो गया है, परन्तु महाराज हर्ष इससे भी बढ़कर थे। वे न केवल गुणग्राहक थे, परन्तु स्वयं गुणी थे। न केवल विद्याप्रेमी थे, बल्कि स्वयं विद्वान् थे। न केवल कवियों के कल्पतरु थे, बल्कि स्वयं कवि थे। अतएव संस्कृत-साहित्य-संसार महाराज हर्ष के नाम पर मुग्ध है। वह उसे केवल आश्रयदाता की दृष्टि से ही नहीं देखता, बल्कि ("हर्षो हर्षः") 'कविता कामिनी के हर्ष' रूप में सदैव स्मरण करता है।

सौभाग्यवश इस महाकवि-कल्पतरु का काल तथा जीवनवृत्त देदीप्यमान ज्ञान-रवि की प्रखर किरणों से चमक रहा है। साहित्य-संसार में इनका काल इतनी समुचित रीति से निश्चित है कि

अन्य संस्कृत कवियों के काल के पौर्वापर्य का ज्ञान इसकी सहायता से ठीक तरह से निश्चित हो सकता है।

जीवन-वृत्त बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा ह्वेन्साङ्ग के यात्रा-विवरण से हर्ष की अधिकांश जीवन घटनायें पूर्णतया ज्ञात हैं।

ये 'हूण-हरिण-केशरी' **प्रभाकरवर्धन** तथा **यशोमती** के पुत्र थे। ये अपने पिता के दूसरे लड़के थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम **राज्यवर्धन** था। **'राज्यश्री'** नाम की इनकी बहिन सुयोग्य विदुषी थी। बाल्यकाल में इन्हें समुचित शिक्षा दी गई थी। पिता ने पंजाब में रहनेवाले हूणों को पराजित करने के लिये राज्यवर्धन तथा इन्हें भेजा। राज्यवर्धन आगे जाकर शत्रुओं का विनाश कर रहे थे, इधर हर्षवर्धन आखेट आदि मनोरंजन के साथ-साथ शत्रुओं का पीछा कर रहे थे। इतने में पिता की अस्वस्थता के दुःखद समाचार को लिये हुए एक दूत आया। राजधानी लौट आने पर हर्ष ने पूज्य पितृदेव को मृत्युशय्या पर पाया। प्रभाकरवर्धन ने हर्षवर्धन को 'निरवशेषतां शत्रवो नेयाः' का उपदेश देकर इस असार संसार से विदाई ली। मंत्रियों के कहने पर ज्येष्ठभ्राता के आगमन में कुछ विलम्ब जानकर हर्षवर्धन ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। कुछ समय के अनन्तर राज्यवर्धन ने आकर शासन भार अपने ऊपर लिया, परन्तु इन्हें शासन-सुख का सौभाग्य प्राप्त न हो सका। मालव-नरेश ने राज्यश्री के पति मौखरी राजा **ग्रहवर्मा** को मारकर राज्यश्री को कारागार में डाल दिया। राज्यवर्धन ने

मालव-नरेश पर चढ़ाई की, उसे मार डाला, अपनी भगिनी के कारावास के दुःखमय जीवन का अन्त किया, परन्तु वह स्वयं ही वङ्गीय नरेश शशांक की कुटिल नीति का शिकार बन गया। शशांक ने विश्वास दिलाकर राज्यवर्धन को मार डाला। हर्ष के हृदय में भ्रातृवध के समाचार सुनकर प्रतिहिंसा की प्रबल अग्नि प्रज्वलित हो उठी। हर्षवर्धन ने यथासमय शशांक का विनाश कर बंगाल को अपने राज्य में मिला लिया। रिक्त सिंहासन की बाग-डोर हर्षवर्धन ने अपने सुदृढ़ तथा अनुभवी हाथों में ली। इनकी राजधानी स्थाण्वीश्वर (थानेस्वर) में थी। इनका समृद्ध राज्य-काल ६०६ ई० से लेकर ६४७ ई० तक था। हर्षवर्धन ने दिग्विजय की श्लाघनीय प्राचीन प्रथा को पुनरुज्जीवित किया। उसने बंग, आसाम तथा वल्लभी राज्यों को जीत कर समग्र उत्तरीय भारत पर एकच्छत्र राज्य स्थापित किया। दक्षिण में भी उसकी विजय वैजयन्ती फहराती; परन्तु चालुक्यनरेश प्रबल-प्रतापी पुलकेशी द्वितीय ने इसकी मनस्कामना को सर्वथा ध्वस्त कर दिया। वास्तव में हर्ष ने जर्जरित हिन्दू-साम्राज्य की कीर्ति-कौमुदी को पुनः विकसित किया। वह टिमटिमाती हुई हिन्दू-सभ्यता का अन्तिम देदीप्यमान दीपक था।

इसी हिन्दू-सम्राट् के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन्साङ्ग बौद्ध-धर्म-विषयक जिज्ञासा-तृप्ति के लिये भारत में आया था। ह्वेन्साङ्ग का हर्षवर्धन ने बड़ा स्वागत किया। उसके सत्सङ्ग से हर्षवर्धन बुद्ध-धर्म के महायान-सम्प्रदाय का प्रेमी बन गया तथापि

उसके विचार बड़े उदार थे। वह शिव तथा विष्णु का केवल आदर ही न करता था; परन्तु समय-समय पर उनकी पूजा-अर्चा में सहस्रों रुपये व्यय भी करता था। ह्वेनसाङ्ग के संसर्ग से वह बौद्ध-दर्शन का अच्छा ज्ञाता हो गया था।

हर्षवर्धन की दानशीलता सर्वदा के लिये एक श्लाघनीय वस्तु है। इधर के इतिहास में ऐसे दानशील राजा बहुत कम हुए हैं। ऐसी दानशीलता की प्रशंसा शतमुख से करनी चाहिये। वह प्रयाग में माघ तथा फाल्गुन में एक पंच-वार्षिक समारोह किया करता था। यहाँ विद्वानों का, बौद्धभिक्षुओं का, ब्राह्मण साधुओं का, ब्राह्मणों का तथा अनाथ, लूले, लंगड़ों का बड़ा समारोह होता था। यह बड़ा मेला ढाई मास तक रहता था। हर्षवर्धन इस मेले में पाँचों साल की सम्पत्ति दान कर देता था। अपने निजी धन के दान की भी नौबत आ जाती। वह अपने वस्त्र, आभूषण, मुकुटमणि तक ब्राह्मणों को दान दे देता था। ह्वेन्सांग ने हर्षवर्धन की दानसामग्री का उल्लेख किया है। बौद्ध-भिक्षुओं को एक सौ अशर्फियाँ, एक मोती तथा वस्त्राभरण दिये जाते थे। एक मास तक ब्राह्मणों तथा जैनसाधुओं को दान दिया जाता था, अनाथों को भोजन कराया जाता और वस्त्र बाँटा जाता था। दानोत्सव के अनन्तर हर्षवर्धन एक साधारण गृहस्थ का सा जीवन व्यतीत करता था। उसके दान को देखकर सम्पत्ति को मृत्पात्र-शेष बनानेवाले रघु की पवित्रस्मृति हठात् हृदय-पटल पर चित्रित हो जाती है। ह्वेन्सांग के आगमन काल से मिलाने पर भी हर्षवर्धन का वही

समय ठहरता है जो ऊपर निश्चित किया गया है। उसने ६०६ ई० में राज्य पाया और ६४८ ई० में इस असार संसार से, साहित्य-संसार को शोक-सागर में निमग्न कर, वह सदा के लिये कूचकर गया।

महाराज हर्षवर्धन केवल वीर लक्ष्मी के उपासक ही न थे परन्तु ललित कलाओं से आपको अत्यन्त प्रेम था। आपकी सभा को अनेक गुण और गौरव से युक्त विद्वान् सर्वदा सुशोभित किया करते थे। आपकी सभा में अनेक विद्वान् रहते थे, यह बात किसी भी ऐतिहासिक से छिपी नहीं है।

सभा-पण्डित

श्री **बाणभट्ट** आपकी सभा के एक अनुपम रत्न थे जिन्होंने हर्ष की कीर्ति का रमणीय वर्णन अपने 'हर्षचरित' नामक गद्यकाव्य में किया है। बाणभट्ट ही ने रसिकजनों के हृदय को हरण करने वाली अद्वितीय कथा 'कादम्बरी' का भी निर्माण किया है। यह बात तो सुप्रसिद्ध ही है कि भगवती के स्तोत्ररूप 'चण्डी शतक' के भी रचयिता बाणभट्ट ही हैं।

मयूरभट्ट—आप महाराज हर्ष की सभा के दूसरे कविरत्न थे। यह सुना जाता है कि असाध्य कुष्ठरोग से पीड़ित होकर इस महाकवि ने सूर्य की स्तुति में 'सूर्य शतक' नामक काव्य को स्रग्धरा वृत्त में बनाया। काव्य प्रकाश में मम्मटाचार्यद्वारा "आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्"—सूर्य से मयूरादि की तरह रोग से विमुक्त होना—इस प्रासंगिक संकेत से मयूरभट्ट की काव्य-करण-चातुरी की व्यञ्जना से प्रशंसा सहृदय-हृदय-

संवेद्य है। पंडित समाज में यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि ये महाकवि बाणभट्ट के श्वसुर थे।

दिवाकर—ये भी हर्ष की सभा में थे। सुना जाता है कि आपका जन्म नीच (चाण्डाळ) जाति में हुआ था, परन्तु आप अपनी गुणगरिमा से बाण और मयूर के समान ही राजा के आदर पात्र थे। इस बात को राजशेखर ने सरस्वती के प्रभाव को दिखलाते हुये क्या ही अच्छे ढंग से कहा है—

अहो प्रभावो वाग्देव्या: यन्मातङ्गदिवाकरः ।
श्री हर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः ॥

दशवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले महाकवि पद्मगुप्त ने अपने 'नवसाहसांक चरित' नामक महाकाव्य में महाराज हर्ष की सभा में बाण और मयूर की उपस्थिति का वर्णन इस प्रकार से किया है:—

सचित्रवर्णविच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः ।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ॥

यह सम्भव है कि दूसरे कवि और पण्डितों ने श्री हर्ष की सभा को अलंकृत किया हो। इतिहास के प्रेमी पण्डित अच्छी तरह से जानते ही हैं कि महाराज श्री हर्ष ने इन सब कवियों को भूमि और द्रव्य देकर इनका सन्मान किया।

महाराज हर्ष केवल कवि और पण्डितों के आश्रय दाता और गुणग्राही ही न थे, बल्कि उन्होंने स्वयं भी अनेक रमणीय और सरस ग्रन्थों की रचना कर सरस्वती के विपुल भण्डार को भरा

है। इस बात को हम अच्छी तरह से कह सकते हैं कि

हर्ष के ग्रन्थनिर्माण की प्रसिद्धि

महाकवि कालिदास की यह सरस सूक्ति 'निसर्ग-भिन्नस्पदमेकसंस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च' महाराज हर्ष के विषय में अच्छी तरह से चरितार्थ होती है।

इस भारतवर्ष में विक्रमादित्य, शूद्रक, हाल प्रभृति अनेक विद्या के उपासक राजा हो गये हैं, परन्तु उन सब में ये महाराज हर्ष (हर्षवर्धन) अद्वितीय हैं। महाकवि पीयूषवर्ष जयदेव ने अपने प्रसन्नराघव नाटक में महाराज हर्ष को कविता कामिनी का हर्ष (हर्षो हर्षः) कहा है। उन्होंने बाणभट्ट के साथ हर्ष का नामोल्लेख भी किया है। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले सोड्ढल ने अपनी 'उदयसुन्दरीकथा' नामक पुस्तक में श्रीहर्ष की, सरस्वती को हर्ष प्रदान करने के कारण से, 'गीर्हर्ष' कहकर प्रशंसा की है :—

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु* पार्थिवेषु,
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
'गीर्हर्ष' एष निजसंसदि येन राज्ञा,
सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥

इसी तरह से दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमत' नामक ग्रन्थ में 'रत्नावली' का नाम लेकर संकेत किया है। यह पुस्तक किसी राजा के द्वारा बनाई गई है और उसके निर्माता महाराज हर्ष हैं, ऐसा कहते हुए उन्होंने उनको (हर्ष की) काव्य-चातुरी की

अत्यन्त प्रशंसा की है। इत्सिङ्ग नाम का चीनी बौद्ध परिव्राजक अपने धर्म ग्रन्थों को पढ़ने की इच्छा से हर्ष की मृत्यु के बाद भारतवर्ष में आया था। उसने अपने यात्रा-विवरणात्मक ग्रन्थ में महाराज हर्ष को 'नागानन्द' नाटक का रचयिता होना स्पष्ट ही लिखा है। उसने यह लिखा है:—'राजा शिलादित्य (हर्ष) ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की आख्यायिका को नाटक रूप में परिणत किया और उस नाटक का संगीतादि सामग्री के साथ नटों के द्वारा अभिनय कराया।' इस प्रमाण से स्पष्ट ही है कि महाराज हर्ष ने 'नागानन्द' नाटक का निर्माण किया था। परन्तु इन प्रमाणों के होते हुये भी जो लोग महाराज हर्ष के ग्रन्थ रचयिता होने में सन्देह करते हैं वे बाणभट्ट के इस कथन पर विचार कर अपने सन्देह को दूर कर लें। श्री बाणभट्ट ने 'हर्षचरित्र' में दो बार राजा (श्रीहर्ष) की काव्य-व्याकरण-चातुरी की प्रशंसा की है। "राज्ञां संभाषणेषु परित्यक्तमपि मधु वर्षन्तं, काव्यकथास्वपीतामृतमुद्वमन्तमिति" यह पूर्वोक्त बाणभट्ट का कथन हर्ष की काव्य चातुरी को प्रकट कर रहा है। 'अस्य कवित्वस्य वाचो न पर्याप्तो विषयः' इस प्रकार से बाणभट्टने हर्ष की काव्यरचना की चतुरता को स्पष्ट ही प्रकट किया है। इन उपर लिखित प्रमाणों से हमें पूर्ण विश्वास होता है महाराज हर्षवर्धन अच्छे कवि थे; कविता करने में खूब दक्ष थे।

श्रीहर्ष के तीन ग्रन्थ मिलते हैं—रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका। साहित्य-संसार में रत्नावली के रचयिता के सम्बन्ध

में बड़ा आन्दोलन हो चुका है। इस बड़ी गड़बड़ी का मूल कारण मम्मट के काव्यप्रकाश का एक वाक्यांश है। मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में अर्थप्राप्ति भी एक प्रयोजन माना है—हज़ारों महाकवि कविता देवी की पूजाकर लक्ष्मी के कृपापात्र बन गये हैं। उदाहरणार्थ, धावकादि ने हर्षवर्धन से असंख्य धन पाया (श्रीहर्षादेः धावकादीनामिव धनम्)। कतिपय काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इससे यह अर्थ निकाला है कि धावक ने रत्नावली की रचना हर्षवर्धन के नाम से करके असंख्य सम्पत्ति पायी। बस क्या था? काव्य-जगत् में एक प्रचण्ड आँधी आ गई। अधिकांश यूरोपियनों ने रत्नावली को धावक की रचना मान ली। काव्यप्रकाश के किसी-किसी काश्मीरी प्रति में धावक के स्थान पर बाण का नाम उल्लिखित है। इसके

हर्ष और बाण

---

१. संस्कृत-साहित्य केवल इसी उल्लेख को छोड़कर धावक के विषय में कुछ भी नहीं जानता। ऐतिहासिक खोज ने भी धावक की सत्ता पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। बहुतों का कथन है कि धावक नामक कोई कवि हुआ ही नहीं। कतिपय विद्वान् 'धावक' तथा 'बाण' को एक ही व्यक्ति मानते हैं। दोनों नामों का अर्थ तो एक ही है। सम्भवतः आशुगामी 'बाण' के लिये 'धावक' का उपनाम प्रदान किया गया था। परन्तु यह क्लिष्ट कल्पना है। अभी तक धावक की सत्ता, जीवन तथा कविता के विषय में हमलोग अज्ञान-सागर के अन्धकारमय तल में केवल गोते लगा रहे हैं।

आधारपर कितने ही विद्वान् बाणभट्ट पर ही रत्नावली के कर्तृत्व का भार आरोपित करते हैं। परन्तु ये सब आधुनिक विद्वानों की अनिश्चित कल्पनायें हैं।

काव्य-प्रकाश के उल्लेख का यही आशय है कि श्रीहर्ष ने बड़ी भारी सम्पत्ति कवियों को दे डाली। श्रीहर्ष जैसे उदाराशय तथा महादानी नरेश के लिये यह बात असम्भव नहीं जान पड़ती। जब असंख्यों ब्राह्मण, भिक्षु, तथा जैनों का आदर होता तथा उनको प्रशंसनीय दान मिलता, तब गुणग्राही हर्ष के लिये उसकी कीर्तिलता को पल्लवित करनेवाले कवियों को दान देने में—आदर करने में—भला संकोच कैसे हो सकता है। काव्यप्रकाश के उल्लेख का प्रकरण-गम्य तात्पर्य यही है। अनेकों अर्वाचीन तथा प्राचीन कवियों ने श्रीहर्ष के समीचीन कवि-समाश्रय की शतशः प्रशंसा की है। अभिनन्द कवि ने मम्मट के कथन को दुहराया है:—

श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम्।

एक दूसरे काव्यमर्मज्ञ ने ठीक ही लिखा है:—

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टंकिताः कीर्तय-
स्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्।

भावार्थ है कि हर्षने बाणभट्ट को हजारों दिग्गज तथा असंख्य सम्पत्ति दे डाली परन्तु आज उनका नामोनिशान नहीं है; परन्तु

बाण ने हर्ष की कीर्ति को काव्यरूप में जो जड़ दिया वह कराल काल के फेरे में पड़कर भी मलिन नहीं हो सकती।

इससे स्पष्ट है कि ये सब उल्लेख हर्ष के आश्रयदान तथा कवि-सत्कार को लक्षित करते हैं। हर्ष की स्वयं दर्शन में अच्छी गति थी। वह ह्वेनस्वांग के संसर्ग से बौद्ध दर्शन का एक अभिज्ञ पण्डित बन गया था। ऐसे उदार, दानी तथा विद्वान सम्राट् के ऊपर अपने नाम से काव्य गढ़ाने की कालिमा पोतना काव्य जगत् में अत्यन्त कलुषित कार्य है—गर्हणीय व्यापार है। उसका अपने आश्रित कवियों से सहायता लेना असंभवनीय कार्य नहीं प्रतीत होता ; परन्तु उसको इन नाटकों के कर्तृत्व से वंचित करना हर्ष के महान गुणों की हीनता दिखलाना है।

एक क्षण के लिये बाण या धावक को रत्नावली का कर्ता मान भी लिया जाय, परन्तु नागानन्द तथा प्रियदर्शिका का कर्तृत्व हर्ष से सम्बद्ध है। कोई भी आलोचक बाणभट्ट को नागानन्द का कर्ता मानने को उद्यत नहीं है। सर्व सम्मति से इस नाटकत्रय की रचना हर्ष की लेखनी से हुई है। अतएव रत्नावली के कर्तृत्व को बाण पर आरोपित करना निन्दनीय जान पड़ता है। पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि इन तीन नाटकों की रचना स्वयं सम्राट् हर्षवर्धन ने की है।

(१) **रत्नावली**—चार अङ्कों में समाप्त एक नाटिका है। नाटिका का नायक प्रसिद्ध वत्सराज उदयन है; तथा नायिका लंका-धीश की राजपुत्री सागरिका है। इन दोनों के प्रेमपूर्ण उद्वाह

की रोचक कहानी नाटक के रूप में वर्णित है। नाटिका का मूल गुणाढ्य की बृहत्कथा जान पड़ती

ग्रन्थ

है क्योंकि कथासरित्सागर से यह कथानक मिलता जुलता है। इस नाटिका पर कालिदास के मालविकाग्निमित्र की छाया स्पष्ट झलक रही है।

(२) प्रियदर्शिका—इसका रोचक कथानक भी उदयन के जीवन चरित से सम्बन्ध रखता है। वह प्रायः रत्नावली जैसा ही है।

(३) नागानन्द—इसमें जीमूतवाहन नामक राज कुमार का गरुड़ नागों को बचाने के लिये आत्मसमर्पण करनेकी करुणाजनक कहानी मनोहर शब्दों में अभिनीत हुई है। इसकी नान्दी में भगवान् बुद्ध की स्तुति की गई है। स्पष्ट है कि हर्ष बुद्धधर्म के मानने वाले थे। कुशान कालीन बौद्ध नाटकों को छोड़कर संस्कृत-साहित्य में यही ऐसा नाटक है जिसमें बुद्ध की स्तुति की गई है।*

हर्ष की कविता प्रसाद तथा माधुर्य से परिपूर्ण है। रसमय वर्णन भी खूब मिलते हैं। स्थल विशेष पर प्रकृति के सुन्दर दृश्यों-को मनोहर शब्दों में चित्रित किया है। रत्नावली के

कविता

आरम्भ में होलिकोत्सव का अच्छा वर्णन है। हर्षवर्धन की संगीत की अभिज्ञता बड़े ऊँचे दर्जे की थी। इन नाटकों में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

कवि ने चरित्रों का चित्रण खूब सुन्दरता के साथ किया

* इस नाटक की विस्तृत समीक्षा पण्डित बलदेव उपाध्याय विरचित भावार्थदीपिका की भूमिका में देखिये।

है। रत्नावली में वत्सराज का धीरललित स्वभाव मनोरंजक ढंग से दिखलाया गया है। नागानन्द के नायक जीमूतवाहन के रूप में श्रीहर्ष ने एक आदर्श परोपकारी नायक की सृष्टि की है। जीमूतवाहन पिता की सेवा करने के लिये राज्यसिंहासन को लात मार कर जंगल में चला जाता है और नागों की रक्षा करने के लिये अपने प्राणों को भी अर्पण कर देता है। ऐसा आदर्श चरित्र नाटकों में बहुत कम निबद्ध पाया जाता है। नागानन्द की रचना कर हर्ष ने संसार के सामने एक उच्च आदर्श रखने का यत्न किया है। जीमूतवाहन का धीरोदात्त चरित्र बड़ी सुन्दरता से दिखाया गया है।

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे।

राजा उदयन सागरिका से कह रहा है कि तुम्हारे चन्द्रवदन के रहने पर यह दूसरा चन्द्रमा क्यों उदय ले रहा है? उदय से यह अपनी जड़ता क्या नहीं प्रदर्शित करता? इसके उदय होने की ज़रूरत ही क्या थी? तुम्हारा मुख क्या कमल की शोभा को नहीं नष्ट कर देता? क्या वह नेत्रों को आनन्द नहीं देता? देखे जाने से ही क्या वह कामवासना को प्रबल नहीं बनाता? चन्द्रमा के जो कार्य विदित हैं वे तो तेरे मुख में भी विद्यमान हैं। यदि अमृत धारण करने के कारण चन्द्रमा को गर्व है, तो क्या तेरे बिम्बाधर

में सुधा नहीं है ? तुम्हारे चन्द्रवदन के सामने फिर चन्द्रमा के उदय लेने की ज़रूरत ! यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है।

वासोऽर्थं दययेव नातिपृथवः कृत्तास्तरूणां त्वचो
भग्नालब्धजरत्कमण्डलु नभः स्वच्छं पयो नैर्झरम्।
दृश्यन्ते त्रुटितोज्झिताश्च बटुभिर्मौञ्ज्यः क्वचिन्मेखला
नित्याकर्णनया शुकेन च पदं साम्नामिदं पठ्यते।

कवि तपोवन का वर्णन कर रहा है। यहाँ पहनने के लिये दया के कारण वृक्षों से थोड़े ही छाल छीले गये हैं। आकाश की तरह स्वच्छ झरने के जल में फेंके गये टूटे पुराने कमण्डलु दीख पड़ते हैं ! कहीं कहीं मूंज की बनी मेखलायें दिखाई पड़ती हैं जिन्हें टूट जाने के कारण विद्यार्थियों ने फेंक दिया है। यह सुग्गा भी प्रतिदिन सुनने के कारण वेदों का मन्त्र पढ़ रहा है। अतः यह निश्चय ही तपोवन है।

मधुरमिव वदन्ति स्वागतं भृंगशब्दै-
र्नतिमिव फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः।
मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टीः किरन्तः
कथमतिथिसपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि ॥

यहाँ वृक्षगण भौरों के गुञ्जार से हमारा स्वागत करते हुये जान पड़ते हैं। अपने सिरों को फल के भार से झुकाकर ये मानों हमें प्रणाम कर रहे हैं। जान पड़ता है कि फूलों की वर्षा कर ये हमें अर्घ्य दे रहे हैं। अहा ! इस आश्रम के वृक्ष भी अतिथियों की पूजा करने के ढंग सीख गये हैं।

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह ? विरता दानपरता ।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते ।

राजा जीमूतकेतु अपने पुत्र की मृत्यु से शोकोद्विग्न होकर कह रहा है—हे पुत्र ! तुम्हारे दूसरे लोक चले जाने पर—स्वर्गवासी होने पर—धैर्य बिना आधारका हो गया। विनय अब किसके शरण में जाय ? अब क्षमा को कौन धारण कर सकता है। अब दानशीलता उठ गई। सचमुच सचाई नष्ट हो गई। आज दीन बनकर करुणा कहाँ जाय ? सच तो यह है कि आज यह संसार सूना हो गया—निःसार हो गया।

१२—बाणभट्ट

संस्कृत-साहित्य में बाणभट्ट का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। संस्कृत महाकवियों में आपका स्थान अतीव उन्नत है। संस्कृत गद्य के तो आप आचार्य हैं। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' प्रसिद्ध ही है—गद्य कवियों की कसौटी है। जो कवि इस कसौटी पर खरा उतरा वही सच्चा कवि है—उसकी कविता सचमुच सुवर्णमय है। बाणभट्ट गद्य लिखने की इस कसौटी पर कसे जाने पर पूरे उतरे हैं। उनकी कादम्बरी संस्कृत साहित्य में गद्यकाव्य का आदर्श है। पीछे के कवियों ने उसी का अनुकरण गद्य लिखने में किया है सोड्ढल की 'उदयसुन्दरीकथा' तथा धनपाल की 'तिलकमंजरी' आदि गद्य ग्रन्थ इसीको सामने रख कर लिखे गये हैं। मराठी भाषा में आदर्श कथा होने के कारण कथामात्र को कादम्बरी के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं सुप्रसिद्ध बाणभट्ट की यहाँ संक्षेप में चर्चा की जायगी।

आत्म-कथा

सौभाग्यवश बाणभट्ट ने आत्म-कथा लिखकर साहित्य-संसार पर खूब ही कृपा की है। प्राचीन महाकवियों पर अपने

जीवनी

वृत्तान्तों के नहीं लिखने का—ऐतिहासिक दृष्टि न रखने का—आरोप करने वाले विद्वानों को हर्ष-चरित में वर्णित बाणभट्ट की आत्मकथा मुँहतोड़ उत्तर दे

रही है। कादम्बरी के प्रारम्भ में भी बाणभट्ट ने अपने वंश का संक्षेप में वर्णन किया है।

बाणभट्ट के पूर्वज सोन नद पर प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे। यह स्थान सम्भवतः आरा जिले में था। बाण का कुल प्राचीन काल से ही धर्म तथा विद्या के लिये प्रख्यात था। इनका जन्म वात्स्यायन गोत्र में हुआ था। बाण के एक प्राचीन पूर्वज का नाम 'कुबेर' था। वे महाशय कर्मकाण्ड में प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनके घर पर वेदाध्ययन के लिये विद्यार्थियों का जमघट लग रहा था। बाण ने तो यहाँ तक लिखा है[1] कि उनके घर पर ब्रह्मचारी लोग शंकित होकर यजुर्वेद तथा सामवेद गाया करते थे, क्योंकि सब वेदों का अभ्यास करने वाले, मैंनाओं के साथ साथ पिंजड़ों में बैठे हुये, तोते उनको पद पद पर टोका करते थे। कुबेर के चार पुत्रों में पाशुपत सबसे छोटे थे। उनके पुत्र अर्थपति हुए। अर्थपति से चित्रभानु उत्पन्न हुए। यह भी सकल शास्त्र में पण्डित थे। उन्होंने यज्ञ धूम से उत्पन्न हुई कीर्ति को सकल दिगन्तों में फैलाया। इन्हीं चित्रभानु से बाणभट्ट का जन्म हुआ। थोड़ी ही उम्र में बाण के माता तथा पिता उन्हें अनाथ बनाकर इस असार संसार से चल बसे।

बाणभट्ट के पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी। किसी सुयोग्य अभिनायक के न होने से बाण एक अवारा लड़का निकला। बुरे

१ जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणाः बटवः पदे पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः॥

बुरे साथियों के साथ वह आखेट आदि दुर्व्यसनों में लिप्त रहा। उसे देशाटन का बड़ा शौक था। कुछ साथियों के साथ वह देशाटन को निकला। बुद्धि विकाश, सांसारिक अनुभव तथा उदार विचार के साथ वह घर लौटा। लोग उसका उपहास करने लगे। अचानक एक दिन हर्ष के चचेरे भाई कृष्ण के एक दूत ने आकर बाण को एक पत्र दिया। पत्र में लिखा था कि श्रीहर्ष से कितने लोगों ने तुम्हारी चुगली खाई है, राजा तुमसे नाराज हो गये हैं। अतएव शीघ्र यहाँ चले आओ! बाण श्रीहर्ष के पास गये। राजा ने पहले तो बाण की अवहेलना की, परन्तु पीछे उनकी विद्वत्ता पर प्रसन्न होकर बाण को आश्रय दान दिया। बाण ने बहुत दिनों तक हर्ष की सभा को सुशोभित किया। अनन्तर अपने घर लौट आये और लोगों के हर्ष के चरित पूछने पर बाण ने हर्षचरित की रचना की।

इससे स्पष्ट है कि बाण लड़कपन में बुरी संगत के कारण कुछ अव्यवस्थित से थे, परन्तु विद्वत्ता के प्रभाव से श्रीहर्ष के अत्यन्त प्रियपात्र बन गये। बस, बाण की आत्म कथा इतनी ही है। संक्षेप में बाण का जीवन दरिद्रता में नहीं बीता, बल्कि उनके पास पैतृक सम्पति खूब थी। हर्ष के आश्रय पाने से उनकी सम्पति और भी बढ़ी। उन्होंने अपना जीवन एक सम्पन्न व्यक्ति के समान बिताया। बाण का यह जीवन साधारणतया निर्धनता में समय बिताने वाले संस्कृत कवियों के जीवन से अनेक अंशों में विशिष्टता रखता है।

बाणभट्ट ने हर्ष चरित में अपने पुत्रों के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। सम्भवतः उस समय तक कोई लड़का नहीं हुआ होगा। परन्तु उनके पुत्र के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। क्योंकि बाणभट्ट ने कादम्बरी पूरी नहीं बना पाई थी कि उनका देहान्त हो गया। पीछे उनके पुत्र ने इसकी पूर्ति की। यही कादम्बरी का उत्तरार्ध है। ऐसा निःस्पृह तथा पितृभक्त पुत्र साहित्य संसार में शायद ही कोई दूसरा मिल सके। उत्तरार्ध के आरंभ में बाणतनय ने लिखा है—

बाणतनय

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य
प्रारब्ध एष च मया न कवित्वदर्पात्॥

पिता जी के स्वर्गवासी होने पर यह कथा प्रबन्ध भी उनके वचन के साथ ही संसार में विच्छिन्न हो गया। इसके समाप्त न होने से सज्जनों के दुःख को देखकर ही मैंने इसे आरंभ किया है, कवित्व के घमंड से नहीं। यह तो पिता जी का ही प्रभाव है कि उनके गद्य की भाँति मैं लिख सका हूँ, नहीं तो कादम्बरी (शराब) का स्वाद लेकर मैं बिलकुल मतवाला सा हो गया हूँ; मुझे कुछ आगे पीछे नहीं सूझता—

गद्ये कृतेऽपि गुरुणा तु तथाक्षराणि
यन्निर्गतानि पितुरेव स मेऽनुभावः।

\+ \+ \+

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।
भीतोऽस्मि यन्न रसवर्णविवर्जितेन
तच्छेषमात्मवचसाप्यनुसंदधानः ।

ऐसे निःस्पृह पुत्र का साहित्य संसार नाम तक नहीं जानता। डाक्टर व्यूलर (Dr. Buhler) ने इनका नाम भूषण भट्ट बतलाया था ; परन्तु इधर की खोज से इनका नाम 'पुलिन' या 'पुलिन्दभट्ट' सिद्ध होता है। कादम्बरी की शारदा लिपि में लिखित किसी प्रति की पुष्पिका में यही नाम मिलता है। इसकी प्रामाणिकता मुंज के समय (१० वीं सदी के अन्त) में लिखित धनपाल की तिलकमंजरी से सिद्ध होती है:—

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानः पुलिन्ध्रकृतसन्निधिः।

इस पद्य में श्लेषालंकार के द्वारा बाणके पुत्र का नाम 'पुलिन्ध्र' बतलाया गया है।

ज्ञात नहीं कि बाणभट्ट के कितने बेटे थे। उत्तरार्द्ध कादम्बरी के रचयिता पुलिनभट्ट के विषय में हमारा ज्ञान बिल्कुल सच्चा है परन्तु अन्य किसी पुत्र के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते। एक प्रसिद्ध किम्वदन्ती के आधार पर बाणभट्ट के कई पुत्रों का होना सिद्ध होता है। किम्वदन्ती है कि जब बाण मृत्यु-शय्या पर पड़े हुये थे, तब कादम्बरी को समाप्त करने की चिन्ता उन्हें सतत सताया करती थी। उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाया और उनके

साहित्यिक ज्ञान तथा प्रतिभा की परीक्षा करनी चाही। उन्होंने पुत्रों से 'आगे सूखा काठ पड़ा हुआ है' इस वाक्य का संस्कृत में अनुवाद करने को कहा। उनके ज्योतिषी पुत्र ने इस वाक्य का 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' यह कटुतापूर्ण नीरस अनुवाद किया परन्तु उनके योग्य साहित्यज्ञ रसिक पुत्र ने-'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः'-सरस तथा मधुर अनुवाद कर अपनी मनोहर रचना शैली का प्रमाण पिता को दिया। पिता दूसरे पुत्र की कवि-प्रतिभा देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे ही कादम्बरी को समाप्त करने का भार सौंपा। पिता की इस अन्तिम इच्छा की पूर्ति अपनी योग्यता से उसने खूब ही की।

× × ×

किम्वदन्ती

बाण के जीवन वृत्तान्त के विषय में इतना ही ज्ञात है, परन्तु पंडितों में एक किम्वदन्ती प्रचलित है जो बाण का सम्बन्ध तत्कालीन एक महाकवि से स्थापित करती है। किम्वदन्ती यह है कि बाणभट्ट का विवाह महाकवि मयूर की कन्या से हुआ था। एक समय की बात है कि शितांशुमाली अस्ताचल चूडावलम्बी हो रहे थे, प्रभात की बेला थी, शीतल समीर बह रही थी; बाण की पत्नी अभी तक 'मान' किये बैठी थी। प्रभात हो रहा था, तो भी उसके 'मान' का अन्त नहीं हुआ था। बिचारे बाण अपनी दयिता को किसी प्रकार मनाया चाहते थे—प्रसन्न करना चाहते थे। प्रातःकाल के

बाण और मयूर

शीघ्र होने तथा मान न छोड़ने की बात बाण ने एक पद्य में निबद्ध की। प्रियतमा को प्रसन्न करने की अभिलाषा से कवि ने तत्काल रचित अपना पद्य सुनाना आरम्भ किया—

गतप्राया रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो

× × × ×

अभी ये तीन ही चरण बनाकर सुना पाये थे कि इतने में मयूर भी बाण से मुलाकात करने को आ पहुँचे। मयूर के कर्ण-कुहरों में पद्य के ये तीन चरण पड़े। उन्होंने झट अन्तिम चरण यों बनाकर पढ़ सुनाया:—

कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्।

(मुझे तो जान पड़ता है कि कठिन स्तनों के समीप रहने से तुम्हारा हृदय कठिन हो गया है)

बाण को यह चरण सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने मयूर को कुष्ठी हो जाने का शाप दिया। बिचारे मयूर पर विपत्ति आ पड़ी। उन्होंने सूर्य की स्तुति में १०० पद्यों को बनाकर इस महा-रोग से छुटकारा पाया। यह ग्रन्थ आजकल **'सूर्यशतक'** के नाम से प्रसिद्ध है। क्रुद्ध होकर मयूर ने भी बाण को शाप दिया। बाण ने भगवती दुर्गा की स्तुति बनाकर इस शाप से छुटकारा पाया। ग्रन्थ का नाम **'चण्डीशतक'** है।

पूर्वोक्त किम्वदन्ती की सत्यता पर कुछ लोगों को कम विश्वास

है। उनका कहना है कि यदि बाण का सम्बन्ध मयूर से होता, तो हर्ष-चरित में आत्म-कथा लिखते समय वे इसका उल्लेख अवश्य करते। परन्तु हर्ष के आश्रित होने से इन दोनों महाकवियों में घनिष्ठ सम्बन्ध बहुत दिनों तक रहा होगा। यदि इनमें वैवाहिक सम्बन्ध भी रहा हो तो क्या आश्चर्य है? इस किम्वदन्ती का उल्लेख जैनग्रन्थों में भी मिलता है। अतः इसमें कुछ न कुछ सत्यता अवश्य प्रतीत होती है।

समकालीन कवि और पण्डित

बाण का समय संस्कृत साहित्य के लिये बड़े महत्त्व का है। उस समय विद्वानों तथा कवियों का अच्छा जमघट था। 'सूर्य शतक' के कर्ता **मयूर** कवि का आविर्भाव इसी समय में हुआ था। **'मानतुङ्ग'** नामक भक्त जैनाचार्य भी इसी समय में हुये थे। इनका 'भक्तामरस्तोत्र' जैनियों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये दोनों महाकवि श्रीहर्ष के आश्रय में ही रहते थे। परन्तु थानेश्वर से दूर, गुजरात की राजधानी वलभी में श्रीधरसेन के राज्यकाल में भट्टिकाव्य के कर्ता, **भट्टिस्वामी** का आविर्भाव भी इसी शताब्दी में हुआ था। कुछ विद्वानों की सम्मति में गौतम-न्यायसूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले प्रसिद्ध विद्वान् **उद्योतकर** का जन्म भी इसी शताब्दी में हुआ था। **दण्डी** ने भी बाण के कुछ ही पीछे 'दशकुमार चरित' तथा 'काव्यादर्श' की रचना की। अतः स्पष्ट है कि बाण का समय संस्कृत साहित्य में महत्त्वपूर्ण तथा आदरणीय है।

आविर्भाव-काल

हर्षवर्धन के सभापण्डित होने से बाणभट्ट का समय ईसा की ७ वीं सदी में सिद्ध होता है। बाण का समय संस्कृत-कवियों की ऐतिहासिक क्रम-व्यवस्था के लिये बड़ा उपयोगी है। यही एक ऐसा निश्चित समय है जिससे पूर्व तथा उत्तरवर्ती कवियों का समय ठीक तरह नियत किया जा सकता है। यदि बाण के हर्ष के समकालिक सिद्ध होने की बात न भी ज्ञात होती, तथापि बाणभट्ट का सातवीं सदी में आविर्भाव होना परवर्ती कवियों के उद्धरणों से अवश्यमेव सिद्ध हो जाता है।

सबसे पहिले वामन (७७९-८१३ ई०) ने 'काव्यालंकारसूत्र' में कादम्बरी के एक लम्बे समास वाले गद्य को उद्धृत किया है। जिससे स्पष्ट ही बाणभट्ट की प्राचीनता सिद्ध होती है। अतएव बाण का काल निश्चित रूप से सातवीं सदी है।

बाणभट्ट की लेखनी से अनेक ग्रन्थ-रत्नों की उत्पत्ति हुई जिनमें से कतिपय रत्न ही साहित्य के जौहरी को देखने को मिले। सम्भवतः इनकी बहुत सी अमूल्य रचना नष्ट हो गई है। सूक्ति-

ग्रन्थ

संग्रहों तथा अलंकार-ग्रंथों में इनके नाम से कितने ही सुन्दर पद्य मिलते हैं। क्षेमेन्द्र ने औचित्य-विचारचर्चा में बाण का एक पद्य उद्धृत किया है जो कादम्बरी की विरहावस्था के वर्णन में लिखा गया है। इससे यह अनुमान निकालना स्वाभाविक है कि बाण ने पद्य में भी कादम्बरी की

कथा लिखी थी। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त सूक्तिसंग्रहों में बाण के नाम से उद्‌धृत बहुत से पद्य इनके ज्ञात ग्रन्थों में नहीं मिलते जिससे इनकी अन्य रचनाओं की सत्ता के विषय में अनुमान किया जा सकता है।

अब इनकी प्रसिद्ध रचनाओं का संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जायगा:—

(१) **चण्डी शतक**—इसमें भगवती की स्तुति सौ श्लोकों में की गई है। यह पूरा शतक स्रग्धरा वृत्त में है। कविता बड़ी सुन्दर है। ओजोगुण की रमणीयता देखने योग्य है। भगवती चण्डी के अनुरूप ही पद-विन्यास की अद्भुत योजना है। कहा जाता है कि मयूरभट्ट के शाप से अपने को बचाने के लिए बाण ने यह श्लाघनीय स्तुति लिखी थी।

(२) **हर्ष-चरित**—संस्कृत साहित्य में यह सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है। इसमें आठ उच्छ्वास हैं। पहले दो उच्छ्वासों में बाणभट्ट ने अपना विस्तृत परिचय दिया है। अनन्तर शेष उच्छ्वासों में महाराज हर्षवर्धन का चरित दिया गया है। "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्"—उस काल में गद्य का जीवन समास-बहुलता मानी जाती थी। इसी साहित्यिक नियम के अनुसार इस गद्य-काव्य की रचना की गई है। यह बाण का पहला गद्य-ग्रंथ है। इसमें उनकी कविता-शैली उतनी मँजी, साफ-सुथरी नहीं है।

(३) **कादम्बरी**—यह बाणभट्ट की सर्वोत्कृष्ट रचना है।

इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध पूरे ग्रन्थ का दो तिहाई भाग है और यह बाण की रचना है। उत्तरार्द्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पिता के मर जाने पर इस अंश की रचना कर पुलिन्दभट्ट ने कादम्बरी की पूर्ति की। कादम्बरी संस्कृत गद्य-साहित्य का समुज्वल हीरक है। भाषा और भाव–शब्द और अर्थ—दोनों का उचित सम्मिलन इस गद्य-काव्य में लक्षित होता है। वर्णनों की सुन्दरता की बात क्या पूछी जाय। कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहसप्रेमी शबर-सैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन है, तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन, जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मनभावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभा रही है। कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अंक में विहार करनेवाली कलभाषिणी वीणा की तरह मञ्जुवादिनी स्निग्धहृदया महाश्वेता की विरहविधुरा मूर्ति का दर्शन मिलता है, तो कहीं अलोक-सामान्य सौख्यों का अनुभव करनेवाली गन्धर्व-राज-कन्या सरस-हृदया कमनीय-कलेवरा कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्त-चंचरीक को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। सर्वत्र ही अलंकारों का मधुर झङ्कार कानों को सुख दे रहा है—रागात्मिका वृत्ति की सुभग व्यंजना हृदय को खिला रही है। सच तो यह है अलंकार तथा रस के मधुर-मिलन में—भाषा तथा भाव के परस्पर सम्पर्क में—कल्पना तथा वर्णना के अनुरूप संघटन में—कादम्बरी संस्कृत-साहित्य में अनुपम है—अद्वितीय

है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देनेवाली कादम्बरी है—मीठी मदिरा है। पुलिन्दभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

> कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
> मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।

(४) **पार्वती-परिणय**—यह एक सुन्दर नाटक है जिसमें शिव-पार्वती के विवाह की पवित्र कथा का वर्णन है। इस नाटक के ऊपर कालिदास के कुमारसम्भव की अधिक छाया पड़ी जान पड़ती है। बहुत से विद्वान् इसे बाण की रचना नहीं मानते, प्रत्युत सत्रहवीं शताब्दी में वर्तमान बाणभट्ट नामधारी किसी दाक्षिणात्य कवि की।

(५) **मुकुट ताडितक**—नलचम्पू की टीका में जैन विद्वान् चन्द्रपाल तथा गुणविजयगणि ने इस नाटक-ग्रन्थ को बाण की रचना बतलाया है तथा उसमें से एक पद्य उद्धृत किया है जो आगे उद्धृत किया जायगा। परन्तु इसके अतिरिक्त मुकुटताडितक नाटक का कहीं अन्यत्र नाम नहीं सुना जाता। अभी तक यह उपलब्ध भी नहीं हुआ है।

बाणभट्ट सरस्वती देवी के वरद पुत्र थे। इनका गद्य-काव्य-कादम्बरी-अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है। प्राचीनकाल में ही समालोचकों की दृष्टि बाणभट्ट की मधुर कविता पर पड़ी थी। गोवर्धनाचार्य बाणभट्ट को वाणी का साक्षात् अवतार मानते

हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिये शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी भाँति पुरुषरूप में अतिशय चमत्कार पाने की इच्छा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का रूप धारण किया:—

कविता

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति।

एक अन्य आलोचक की सम्मति में बाणभट्ट गम्भीर-धीर कविता रूपी विन्ध्याटवी में बिहार करने वाले कवि-कुंजरों के गण्डस्थल को फाड़ने वाले सिंह हैं—

आः सर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-
संचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः।

बाणभट्ट की काव्य-शैली को पांचाली रीति कहना चाहिये। पांचाली में अर्थ के अनुरूप ही शब्दों की गुम्फना होती है। जैसे सरस अर्थ, तत्समान ही सुकुमार वर्ण-विन्यास। कादम्बरी में शब्द तथा अर्थ की सुन्दर अनुरूपता प्रत्येक सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट करती है। बाण की कविता में ललित पद-विन्यास है, रचनाशैली सुन्दर है तथा नये-नये अर्थों का मनोहर विनिवेश है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरुच्यते।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥

धर्मदास ने बाणभट्ट की भारती की प्रशस्त प्रशंसा इन सुन्दर शब्दों में की है—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

आशय है कि बाण की कविता रुचिर वर्ण तथा पद से युक्त है। वह रस भाव से परिपूर्ण है और तरुणी नायिका की तरह यह रसिकों के हृदय को हरण करती है। वास्तव में बाण की वाणी ऐसी ही है। विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग किया गया है। विकट विन्ध्याटवी के वर्णन करने में कवि ने विकट पदों का यथेच्छ व्यवहार किया है। उधर महाश्वेता के विरह-वर्णन करने में तदनुरूप सुकुमार वर्णों का विन्यास किया गया है। संस्कृत-भाषा के ऊपर कवि का अखण्ड आधिपत्य है। भाषा ऐसे धारा प्रवाह से बहती है कि कहीं भी उसमें विषमता लक्षित नहीं होती।

अलंकारों की छटा कादम्बरी में खूब देखने में आती है। उपमायें एक-से एक बढ़िया उपलब्ध होती हैं, चमत्कारी श्लेष और सुन्दर परि-संख्यायें अधिकता से मिलती हैं। सुन्दर अर्थों की कमनीयता अतीव मनोहारिणी है। बाण की कविता मौलिक अर्थों की खान है, उसमें अर्थों का पिष्टपेषण नहीं दिखाई पड़ता। सर्वत्र नवीन अर्थ हैं। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन करने में बाणभट्ट की निपुणता ऊँचे दर्जे की है; स्थान-स्थान पर नये रंगों को भरकर कवि ने प्रत्येक चित्र को अतीव-विचित्र बना डाला है। अच्छोद-सरोवर का रमणीय रूप-वर्णन किसे मुग्ध नहीं कर देता ? महाश्वेता की मनोहर मूर्ति का जीता जागता शब्द-चित्र किसके हृदय को स्पर्श नहीं करता ? बाण की कविता 'रसभाववती' है। रस का पूर्ण

विकाश सर्वत्र उपलब्ध होता है। महाश्वेता के वर्णन में करुण-विप्रलम्भ का तथा कादम्बरी के चित्रण में सम्भोग शृङ्गार का वैभव दिखलाया गया है।

बाण प्रतिभाशाली कवि थे। उनकी कल्पना विश्वव्यापिनी थी। बाण की रचना शैली इतनी सुन्दर है तथा शब्द-सम्पत्ति इतनी अधिक है कि इनकी कविता के सामने अन्य कवियों की पद-रचना केवल चपलता की सूचना देती है। किसी आलोचक ने क्या ही अच्छा कहा है—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
भवेत् कवि-कुरंगाणां चापलं तत्र कारणम्॥

बाणभट्ट गद्य-काव्य के सम्राट् हैं। सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' बाण के पूर्व ही रची थी परन्तु 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्ध' होने के अतिरिक्त उसमें और कौन सा चमत्कार है? क्या उसमें सुभग रसमयी कविता का दर्शन हो पाता है? सुबन्धु ने प्रत्येक अक्षर में श्लेष दिखाने का प्रयत्न किया है, नवीन अर्थ की कल्पना करने का नहीं। बाणभट्ट के पीछे होनेवाले दण्डी की कविता में कादम्बरी जैसी चमत्कृति कहाँ? सचमुच महाकवि बाणभट्ट संस्कृत गद्य के परम प्रवीण लेखक है—अद्वितीय कवि हैं।

बाण की कविता के नमूने यहाँ दिये जायँगे:—

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खला-
स्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।

मनस्तु साधु ध्वनिभिः पदे पदे
हरन्ति सन्तो मणिनुपूरा इव ॥

दुष्ट लोग बन्धन शृंखला—बाँधने की जंजीर—की तरह कर्ण-कटु शब्द करते हैं और मलदायक हैं—लोहे की जंजीर शरीर को काला बना देती है ; उसी प्रकार दुष्ट लोग भी निन्दाओं से दूसरों को काला बनाते हैं। परन्तु सज्जन लोग पद-पदपर सुन्दर शब्दों से मणि-जटित नुपूर की तरह मन हरण किया करते हैं। खलों की शृंखला से तथा सज्जनों की मणिनुपूर से दी गई उपमा अत्यन्त चमत्कारिणी है।

का वा सुखाशा साधुजननिन्दितेष्वेवंविधेषु प्राकृतजन-बहुमतेषु विषयेषु भवतः। स खलु धर्मबुद्ध्या विषलतावनं सिञ्चति, कुवलयमालेति निस्त्रिंशलतामालिङ्गति, कृष्णागुरुधूमलेखेति कृष्णसर्पमवगूहते, महारत्नमिति ज्वलन्तमङ्गारमभिमृशति, मृणालमिति दुष्टवारणदन्तमुषलमुन्मूलयति, मूढो विषयोपभोगेष्व-निष्टानुबन्धिषु यः परिपातविरसेषु सुखबुद्धिमारोपयति।

पुण्डरीक महाश्वेता के लिये प्रेम से पागल हो गया है उसका परम मित्र कपिञ्जल इस व्रत-भंग के लिए उसको झिड़क रहा है। वह कहता है कि सज्जनों के द्वारा निन्दित, साधारणजनों के अत्यन्त अभीष्ट इन विषयों के सेवन करने से भला सुख की आशा की जा सकती है? जो मूर्ख सदा अनिष्ट पैदा करनेवाले, परिणाम में विरस होनेवाले विषयोपभोगों में सुख बुद्धि आरोप करता है, वह तो धर्म बुद्धि से विष-लता के बन को

सींचता है। नील कमलों की माला समझकर तलवार को गले लगाता है। काले अगुरु की धूमरेखा के भ्रम में वह ज़हरीले काले साँप को छूता है। कीमती बड़े रत्न के विचार से वह जलते हुए अंगार को स्पर्श करता है। सफ़ेद मृणाल समझकर वह दुष्ट हाथी के दन्त प्ररोह को उखाड़ना चाहता है। आशय है कि बाहरी मनोहर रूप से ठगा गया मनुष्य जिस तरह अपनी ही हानि करता है, उसी प्रकार विषयभोग को सुख मान लेनेवाले मनुष्य की दुरवस्था होती है।

बाणभट्ट राजा चन्द्रापीड का वर्णन कर रहे हैं—

यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितं, वयः-परिणामे द्विजपतनम्, उपवनचन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूति-मत्त्वम्, एणकानां गीतव्यसनं, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः मूलानामधोगतिः।

वहाँ महाभारत में शकुनि का वध था (अन्यत्र कहीं चिडियों का वध नहीं होता था), वायु-जन्य प्रलाप पुराण (वायु पुराण) में था (वायु के झोंक में कोई बक बक नहीं करता था), द्विजों-दाँतों-का गिरना बुढ़ापे में होता था, (द्विज लोग जातिच्युत नहीं थे क्योंकि वे सदा सदाचारी होते थे), जडता उपवनके चन्दनों में थी, अन्यत्र नहीं। भूतिमत्ता (भस्मधारण) अग्नियों में थी, अन्यत्र नहीं। गीत सुनने का व्यसन मृगों को था (यह बुरा व्यसन और किसी को न था), नाचने के समय मयूरों के पाँख गिरते थे (और किसी को नृत्य के लिये विशेष अनुराग न था)।

भोग-फण-साँपों को था। मनुष्यों में भोग नहीं था। बानरगण श्रीफल के अभिलाषी थे, अन्यजन लक्ष्मी के फलों के इच्छुक न थे। अधोगति (नीचे जाना) जड़ों में थी, मनुष्यों में नहीं।

सुभाषित ग्रन्थों में अनेक सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं जो अब तक किसी भी बाणभट्ट के ग्रन्थ में नहीं मिलतीं। ऊपर कहा गया गया है कि नलचम्पूके जैन टीकाकर गुणविजयगणि ने मुकुट-ताडितक नाटक से बाण का एक पद्य उधृत किया है। वह पद्य यहाँ दिया जाता है —

आशा: प्रोज्झितदिग्गजा इव गुहा: प्रध्वस्तसिंहा इव
द्रोण्य: कृत्तमहाद्रुमा इव भुव: प्रोत्खातशैला इव।
बिभ्राणा: क्षयकालरिक्तसकलत्रैलोक्यकष्टां दशां
जाता: क्षीणमहारथा: कुरुपतेर्देवस्य शून्या: सभा:॥

दिग्गजों से विरहित दिशाओं की तरह, जिनसे सिंह नष्ट हो गये हैं ऐसी गुफाओं की तरह, जिनमें बड़े बड़े वृक्ष काट डाले गये हैं ऐसी पर्वत की द्रोणी—उपत्यका—के समान, जिनसे पहाड़ उखाड़ डाले गये हैं ऐसे भूमिभाग के सदृश, प्रलय काल में त्रिलोकी की शून्य अवस्था को धारण करनेवाली कुरुराज की सभायें शून्य हो गई हैं क्योंकि वे वीर महारथी आज बिल्कुल नष्ट हो गये हैं। इस पद्य में सुन्दर उपमाओं की लड़ी देखने ही लायक है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में कादम्बरी की विरहदशा का वर्णन करनेवाले इस पद्य को बाणभट्ट का बतलाया है—

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः ।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः ॥

मोतियों का हार, जल से भींगा कपड़ा, कमलिनी के पत्ते, हिमबिन्दुओं को चुवाने वाली शीतद्युति चन्द्रमा की प्रभा और चन्दन—ये वस्तुएँ जिस कामरूपी अग्नि के सरस (गीले तथा रसमय) इन्धन हैं, भला वह कामाग्नि किस प्रकार बुझे ? गीले लकड़ियों की आग भला कैसे बुझ सकती है ? बुझने के लिये सूखे इंधन चाहिये । अपनी मनोभवाग्नि को शान्त करने के लिए कादम्बरी ने नलिनीपत्र, चन्दन आदि सरस पदार्थों को धारण कर रखा है । उद्दीपन वस्तुओं से कभी काम-ज्वाला शान्त हो सकती है ? नहीं, कभी नहीं ।

एकैकातिशयालवः परगुणाज्ञानैकवैज्ञानिकाः
सन्त्येते धनिनः कलासु सकलास्वाचार्यचर्याचणाः ।
अप्येते सुमनोगिरां निशमनात् बिभ्यत्यहो श्लाघया
धूते मूर्धनि कुण्डले कषणतः क्षीणे भवेतामिति ।
(सुभाषितावलि)

कोई कविजी किसी कंजूस की कीर्ति कथा सुना रहे हैं । कथा सुनने ही लायक है । आपका कहना है कि इस जगत् में एक से एक बढ़कर धनिक लोग मिलेंगे जो स्वयं सकल कलाओं में आचार्यता धारण करने से प्रख्यात हैं तथा दूसरों के गुणों को

अच्छी तरह से जानते हैं, उनकी क़द्र करते हैं। परन्तु विद्वानों के वचनों को सुनने वाले ऐसे कुछ कंजूस भी है जो उनकी प्रशंसा करने में इसलिए डरते हैं कि कहीं सिर हिलाने पर कानों के कुंडल रगड़ से घिस न जायँ। वाह! क्या ही अच्छा कहा! कविजी को कुछ देने की तो कथा ही अलग रही—रुपया पैसा देने की बात ही जुदी रही, यहाँ तो काव्यों की प्रशंसा करने में भी कंजूसी है। बड़ी अनूठी उक्ति है!

चण्डीशतक का एक पद्य भवानी की प्रशंसा में यहाँ दिया जाता है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में भोजराज ने इसे उद्धृत भी किया है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति व्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी।

(चण्डी शतक ६६)

इस प्रशंसनीय पद्य में शब्दसौन्दर्य देखने ही योग्य है। शब्द-शय्या अतीव समुचित है। भवानी की प्रशस्त प्रशंसा है।

—

.

१३—दण्डी

अवंतिसुंदरी-कथा

दक्षिण भारत प्राचीन संस्कृत पुस्तकों का सुरक्षित गृह है। उत्तरीय भारत में विधर्मी मुसलमानों के भयंकर उपद्रवों के कारण प्राचीन पुस्तकों का पता बहुत कम लगता है; परन्तु दक्षिण में, जहाँ ऐसे उपद्रव कम हुए थे, अभी तक प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं। हाल ही में मालाबार प्रदेश में दो हस्त-लिखित पुस्तकों की उपलब्धि हुई है, जो संस्कृत साहित्य के इतिहास के लिये अत्यन्त महत्व की प्रतीत होती हैं। अब ये पुस्तकें गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी (Government Oriental Mss. Library) में सुरक्षित हैं। पहली पुस्तक बड़ी बुरी दशा में पाई गई है। न तो यह पूर्ण है और न कहीं ग्रंथकार ही का नाम-निशान पाया जाता है। हाँ, इसके प्रारम्भ में हर्ष-चरित की तरह प्राचीन कवियों का वर्णन श्लोकों में पाया गया है। शेष भाग गद्य में लिखा गया है, परन्तु ग्रंथ पूर्ण नहीं हुआ है। दूसरे ग्रंथ के आधार पर इसका नाम 'अवन्तिसुंदरी-कथा' तथा रचयिता महाकवि दंडी माने गए हैं।

दूसरा ग्रंथ कुछ अच्छी दशा में प्राप्त हुआ है। यह प्रायः अनुष्टुप् छंदों में रचा गया है, पर सर्गान्त में भिन्न भिन्न वृत्त भी हैं। ग्रंथ के आदि के छः परिच्छेद तो बिल्कुल ही शुद्ध तथा पूर्ण

पाए गए हैं, पर सप्तम परिच्छेद खण्डित है। यह भी पहले ग्रंथ की तरह पूरा तो नहीं है, परंतु इतना त्रुटित भी नहीं है कि समग्र ग्रंथ के विषय को समझने में किसी तरह की बाधा हो। रचयिता का नाम इसमें भी लुप्त है। अनुमान की निर्बल भित्ति पर अवश्य ही ग्रंथकार के विषय में कुछ कहा जा सकता है। ग्रन्थ के प्रत्येक सर्गान्त में भारवि के 'लक्ष्मी' शब्द की भाँति 'आनंद' शब्द सर्वदा प्रयुक्त हुआ है। भोज के शृङ्गारप्रकाश में सर्गान्त में 'आनंद' शब्द का प्रयोग करनेवाले 'शूद्रक-कथा' के रचयिता 'पंचशिख' का उल्लेख पाया जाता है *। तो क्या इस शब्द-प्रयोग-साम्य से पंचशिख इसके रचयिता माने जा सकते हैं? ग्रंथकार के विषय में ऐतिहासिक सामग्री की कमी भले ही हो, परंतु ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से उसके संबंध में बहुत कुछ पता लगता है। सौभाग्यवश ग्रंथ का नाम 'अवन्तिसुन्दरी कथासार' दिया गया है, जिससे यह पहले ग्रन्थ का छन्दोबद्ध सारांश प्रतीत होता है। इसके पहले परिच्छेद में दण्डी के पूर्वजों का वर्णन किया गया है। इस उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की चर्चा आगे की गई है।

भारवि और दंडी

संस्कृत महाकाव्यों में किरातार्जुनीय का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। इसके रचयिता महाकवि 'भारवि' हैं, जिनकी अर्थ-गाम्भीर्य-

---

* Ramkrishna Kavi: Avanti Sundari Katha of Dandi, Proceedings of Second Oriental Conference. p. 193

मयी कविता का आस्वादन कर प्रत्येक सहृदय अपने को कृतकृत्य समझता है। साहित्यिक दृष्टि से हम भारवि के विषय में समग्र ज्ञातव्य विषयों से परिचित हैं, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक भारवि का समय गाढ़ अंधकार के आवरण से ढका हुआ है। भारवि का सब से पहला उल्लेख दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय के ऐहोळ के शिलालेख में मिलता है, जो ६३४ ई० का लिखा हुआ है †। इस उल्लेख से इतना ही ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारवि को प्रसिद्धि खूब हो चली थी; इनका नाम महाकवि कालिदास के साथ लिया जाता था; तथा ये भी उनके समान उन्नत साहित्यिक स्थान पाने के पूरे अधिकारी थे। परन्तु इससे भारवि के आविर्भाव-काल का यथोचित पता नहीं लगता। ६३४ ई० के कितने वर्ष पहले भारवि ने भारत भूमि की शोभा बढ़ाई थी, यह ठीक ठीक उपर्युक्त लेख से ज्ञात नहीं होता। एक दूसरे शिलालेख से भी भारवि का समय अनिश्चित ही रह जाता है। यह शिलालेख * पश्चिमी गंगावंशी राजा दुर्विनीत के समय का है। इसमें स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि राजा दुर्विनीत

---

† येनायोजि नवेश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

* श्रीमत्कोंगणि महाराजाधिराजस्य अविनीतनाम्नः पुत्रेण पुन्नाटराज स्कंदवर्माप्रियत्रिकाजन्मना.....................................

.....शब्दावतारकारेण देवभारतीनिवद्धवड्डकथेन किरातार्जुनीये पञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।

Mysore Archaeological Report 1916 p. 36

ने किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग की टीका की। इस उल्लेख से यथाकथंचित् भारवि का समय निर्णीत भी किया जा सकता था, परंतु डा० फ्लीट जैसे प्रामाणिक पुरातत्त्ववेत्ताओं की सम्मति में यह लेख बिल्कुल जालसाजी है; इसमें कुछ भी ऐतिहासिकता नहीं †। ऐसी स्थिति में भारवि के विषय में ठीक ठीक कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता।

परन्तु अब इस प्रश्न के निर्णायक साधन की उपलब्धि हुई है, जिससे न केवल भारवि के समय का ठीक ठीक निश्चय हो जाता है, वरन् उनके कुटुम्ब तथा पारिवारिक जीवन पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह साधन है दण्डिकृत यही 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' तथा इसका पद्यबद्ध 'अवंतिसुन्दरी-कथासार' नामक संक्षिप्त सारांश। इस दूसरी पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में महाकवि दण्डी की कई पीढ़ियों का इतिहास दिया हुआ है। यह वर्णन इतिहास की दृष्टि से बहुमूल्य है। इससे भारवि के विषय में पक्की ऐतिहासिक बातों का पता लग जाता है।

इससे जान पड़ता है 'भारवि' किरातार्जुनीय के रचयिता का उपनाम मात्र था। इनका असली नाम था—दामोदर। इनके पूर्वज पश्चिमोत्तर देश (गुजरात) के सर्वश्रेष्ठ नगर आनन्दपुर

† डा० फ्लीट ने पश्चिमी गंगावंशियों के दानपत्रों के संबंध में जो कुछ उद्गार प्रकट किए हैं, वे बहुधा हठधर्मी से पूर्ण हैं, अतएव वे ज्यों के त्यों मानने योग्य नहीं हैं।

में निवास करते थे *। वहाँ से किसी कारणवश वे लोग नासिक हट आए तथा कालांतर में अचलपुर (संभवतः आधुनिक एलिचपुर) में अपना निवास नियत किया। इन्हीं कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणों में नारायण स्वामी नामक पंडित हुए थे जिनके मेधावी पुत्र हमारे कविवर भारवि हैं। पहले पहल भारवि ने राजकुमार विष्णुवर्धन

---

* अस्त्यानन्दपुरं नाम प्रदेशे पश्चिमोत्तरे।
आर्यदेशशिरोरत्नं यत्रासन् बहवो नृपाः॥
ततोऽभिनिःसृता काचित् कौशिकब्रह्मसंततिः।
सुरलोकादिवायांती पुण्यतीर्थसरस्वती॥
नासिक्यभूमावौत्सुक्यान्मूलदेवनिवेशिताम्।
प्राप्याचलपुरं......रीमधि वसत्यसौ॥
तस्यां नारायणस्वामी नाम्ना नारायणोदरात्।
दामोदर इति श्रीमान् आदिका...वाभवत्॥
स मेधावी कविर्विद्वान् भारविः प्रभवं गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने॥

× × × ×

स दुर्विनीत नामासीत् अन्वर्थाभिधानवान् तस्यान्तिके वसत्येषः।.....॥

× × × ×

अनेकश्रीमुखाकृष्टमकरोदमुमात्मसात्।

× × × ×

अस्ति प्रासादविस्तारग्रस्तव्योमान्तरा पुरी।
काञ्चीपुराख्या कल्याणी ककुभां कुम्भजन्मनः।
तस्यां जज्ञे बुधव्रात संध्वस्ताखिलपल्लवः
पल्लवेषु महीपालः सिंहविष्णुरिति श्रुतः।

की सभा को सुशोभित किया और उनके कृपा-भाजन हुए थे। यह राजकुमार दक्षिण के इतिहास में कुब्ज विष्णुवर्धन * के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह प्रथमतः अपने ज्येष्ठ भ्राता प्रसिद्ध महाराज पुलकेशी द्वितीय का प्रतिनिधि बनकर महाराष्ट्र का शासन करता था। ६१६–१७ ई० के आसपास यह महाराष्ट्र ही में रहता था, क्योंकि इस वर्ष में इसने अपने भ्राता के प्रतिनिधि रूप से एक ताम्रशासन जारी किया था †। अनंतर इसने तेलिंगाना में जाकर वेंगी में एक नवीन राज्य की स्थापना की जो इतिहास में पूर्वीय चालुक्य (Eastern Chalukya of Vengi) के नाम से परवर्तीकाल में खूब प्रसिद्ध हुआ। जब यह केवल राजकुमार था तभी महाराष्ट्र में इससे भारवि का परिचय हुआ था। अनन्तर इसने आखेट के अवसर पर कविवर से मांस खाने के लिये आग्रह

---

* उक्त पुस्तक में उल्लिखित नरेंद्र विष्णुवर्द्धन चालुक्य पुलकेशी द्वितीय के भाई कुब्ज विष्णुवर्द्धन से कोई भिन्न राजा होना चाहिए, क्योंकि इसी लेख में ऊपर जो अवतरण दिया है, उसमें विष्णुवर्द्धन को 'नरेंद्र' कहा है, न कि कुमार। दूसरी बात यह भी है कि जब वह सतारे के आस पास के प्रदेश पर अपने भाई की ओर से शासन कर रहा था, उस समय के अपने दानपत्र में वह अपने को 'युवराज' लिखता है। तीसरी बात यह भी है कि यदि भारवि पुलकेशी के समय में ही जीवित होते तो उनकी कालिदास के समान प्रसिद्धि उसी समय में नहीं हो सकती थी।

† Satara Grant; Indian Antiquary. Vol. XIX. p. 303

किया। कवि ने इसके आश्रय की अवहेलना कर **दुर्विनीत** राजा के यहाँ आसन जमाया। इस नाम का राजा पश्चिमी गंगावंशीय (Western Ganga) नरेशों में अत्यंत प्रसिद्ध था जिसने 'शब्दावतार' नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की। इस राजा का समय सातवीं सदी का प्रथम चतुर्थ भाग माना जाता है। यह सरस्वती के वरदपुत्रों का आश्रयदाता ही नहीं था, वरन् स्वयं भी सरस्वती का उपासक था। यह संस्कृत के अतिरिक्त पैशाची का भी ज्ञाता जान पड़ता है, क्योंकि इसने गुणाढ्य रचित प्रसिद्ध बृहत्कथा का अनुवाद देवभारती—संस्कृत—में किया था। यह भारवि का आश्रयदाता अवश्य था; इसकी यथोचित पुष्टि इस घटना से होती है कि इसने स्वयं किरातार्जुनीय के सब से कठिन, अर्थ-गंभीर तथा श्लेष-प्रधान पंद्रहवें सर्ग की सुबोध टीका लिखी थी। इसने अवश्य ही भारवि के सहवास से किरात का उचित मंथन किया था; तभी तो सर्वक्लिष्ट सर्ग की टीका लिखने को उद्यत हुआ। अतएव यदि हम कहें कि भारवि ने ६२०—२५ तक इसकी सभा की शोभा बढ़ाई, तो अनुचित न होगा। अनंतर अत्यन्त आग्रह करने पर भारवि काञ्ची के पल्लव नरेश **सिंहविष्णु** के पास आकर रहने लगे। काञ्ची के पल्लव राजा सदा से विद्याप्रेमी होते आए हैं। विद्वानों को आश्रय देकर उन्होंने संस्कृत साहित्य का अत्यंत उपकार किया है।

सिंहविष्णु तो इस वंश का प्रसिद्ध विद्याप्रेमी राजा है। इसी के सुयोग्य पुत्र **महेंद्र विक्रमवर्मा** ने **'मत्तविलास'** नामक प्रहसन

की रचना की है*। यदि वास्तव में महेंद्रविक्रमवर्मा भारवि के आश्रयदाता का पुत्र हो तो यह मानने में आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती कि इसने संभवतः भारवि से विद्या का अभ्यास तथा कविता का अध्ययन किया होगा। सिंहविष्णु का समय ६२० ई० से ६२७ ई० तक माना जाता है। सम्भवतः राज्य के अन्तिम भाग में ही भारवि का इस पल्लव राजा के साथ साक्षात्कार हुआ था।

पूर्वोक्त वर्णन का सारांश यही है कि भारवि की जन्मभूमि महाराष्ट्र प्रदेश है। हिमालय का वर्णन करने से इन्हें उत्तरीय भारत में घसीट लाना उचित नहीं। इनके आविर्भाव का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सप्तम शताब्दी का प्रथम चतुर्थ भाग है। ५१० ई० के आस पास ये महाराष्ट्र में विष्णुवर्धन के आश्रय में थे। ६२० ई० के समीप कर्नाटक में गंगावंशोय दुर्विनीत की सभा में रहे तथा ६२५ ई० में तेलगु प्रांत में पल्लव-नरेश सिंहविष्णु की सभा की शोभा बढ़ाते थे तथा काञ्ची में ही अपना निवास-स्थान बनाकर रहने लगे थे। इसी ऐतिहासिक तथ्य की उप-लब्धि हुई है।

---

* यह प्रहसन 'अनंतशयन ग्रंथावली' में ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित हुआ है। इसमें सूत्रधार कहता है:—

भवति श्रूयताम्। पल्लवकुलतिलकधरणिमंडलकुलपर्वतस्य .. श्रीमहिमानुरूपदानविभूतिपरिभूतराजराजस्य श्रीसिंहविष्णुवर्म्मणः पुत्रः शत्रुषड्वर्गनिग्रहपरः परहितपरतंत्रतया महाभूतसधर्मा महाराज-श्रीमहेंद्रविक्रमवर्मा नाम।

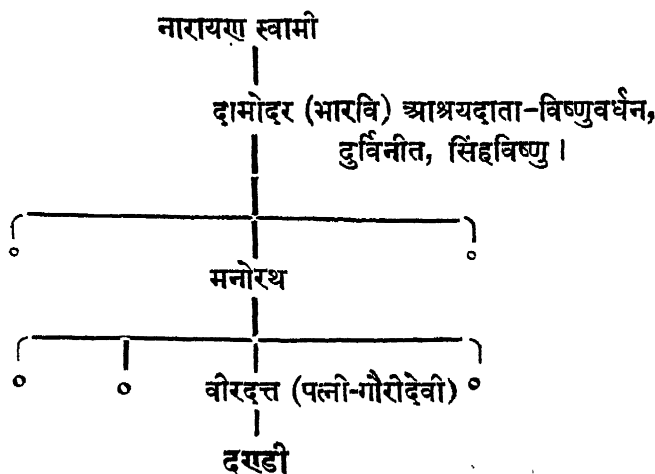
दंडी का जीवन-वृत्तान्त

दंडी के विषय में इस कथा से निम्नलिखित बातों का पता लगता है।

कविवर भारवि के तीन लड़के हुए जिनमें 'मनोरथ' मध्यम पुत्र था ❀। मनोरथ के भी चारों वेदों की भाँति चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें 'वीरदत्त' सब से छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। 'वीरदत्त' की स्त्री का नाम 'गौरी' था। इन्हीं से कविवर दंडी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता पिता मर गए थे। ये काञ्ची में निराश्रय ही रहते थे। एक बार जब काञ्ची में विप्लव उपस्थित हुआ, तब ये काञ्ची छोड़कर जंगलों में इधर उधर भटकते फिरते थे। अनंतर शहर में शांति होने पर ये फिर पल्लव-नरेश की सभा में आ गए और वहीं रहने लगे।

संक्षेप में महाकवि दण्डी का वंशवृक्ष अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर नीचे दिया जाता है:—

❀ मनोरथाह्वयस्तेषां मध्यमो वंशवर्धनः
ततस्तनूजाश्चत्वारः स्रष्टुर्वेदा इवाभवन्।
श्रीवीरदत्त इत्येषां मध्यमो वंशवर्धनः
यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामाभवत्प्रिया॥
ततः कथंचित् सा गौरी द्विजाधिपशिखामणेः
कुमारं दण्डिनामानं व्यक्तशक्तिमजीजनत्।
स बाल एव मात्रा च पित्रा चापि व्ययुज्यत॥



इससे स्पष्ट है कि महाकवि दण्डी भारवि के प्रपौत्र थे❀। इस

❀ भारवि और दण्डी के इस सम्बन्ध के विषय में अब सन्देह होने लगा है। जिस श्लोक के आधार पर भारवि के साथ दण्डी के प्रपितामह दामोदर की एकता मानी जाती थी उस श्लोक में नये पाठ-भेद मिलने से इस मत को बदलना पड़ा है। नया पाठ नीचे दिया जाता है—

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम्
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने।

पहला पाठ प्रथमान्त 'भारविः' था, अब उसकी स्थान पर द्वितीयान्त 'भारविं' मिला है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि भारवि की सहायता से दामोदर की मित्रता विष्णुवर्धन के साथ हो सकी। अतः दामोदर दण्डी के प्रपितामह थे, भारवि नहीं। इस नये पाठ-भेद से दोनों के समय निरूपण के विषय में किसी तरह का परिवर्तन आवश्यक नहीं है।

वर्णन से (यद्यपि यह बहुत ही थोड़ा है) दण्डी के अन्धकारमय जीवन पर प्रकाश की एक गाढ़ी किरण पड़ती है। भारवि का संबंध उत्तरीय भारत से न होकर दक्षिण भारत से है। हिंदुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक कांजीवरम्) इनकी जन्मभूमि थी। इनका जन्म एक अत्यंत शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था भारवि की चौथी पीढ़ी में इनका जन्म होना ऊपर के वर्णन से बिल्कुल निश्चित है। काञ्ची के पल्लव-नरेशों की छत्रछाया में इन्होंने अपने दिन सुखपूर्वक बिताए थे।

इस ग्रन्थ से दक्षिण भारत की एक किम्वदन्ती की भी यथेष्ट पुष्टि होती है। एम० रंगाचार्य ने एक किम्वदन्ती का उल्लेख किया है कि पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिये ही दण्डी ने 'काव्यादर्श' की रचना की थी। काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार तरुणवाचस्पति की सम्मति में दण्डी ने निम्नलिखित प्रहेलिका में काञ्ची के पल्लव नरेशों की ओर इङ्गित किया है—

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता ।
अस्ति काचित्पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः ॥

(पृ० ३०, श्लोक ११४)

अतएव दण्डी को काञ्ची के पल्लव-नरेश के आश्रय में मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती।

दंडी का समय

दण्डी के अविर्भाव काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। अलंकार-साहित्य के इतिहास में इससे बढ़कर विवाद का

विषय और कोई नहीं है। भामह के काव्यालंकार में दंडी के सिद्धान्तों से अनेक समानता तथा विभिन्नता होने से यह प्रश्न और भी उलझन में पड़ गया है। अभी तक इसका निश्चय नहीं हो सका है। कोई भामह के पहले मानकर उन्हें छठी शताब्दी के आरंभ का ग्रंथकार मानते हैं तो कोई भामह के अनंतर मानकर सातवीं सदी में रखते हैं। इस विवाद के निर्णय में अवन्तिसुन्दरी-कथा कितनी सहायता दे सकती है, इसका कुछ विचार किया जाता है।

नवम शताब्दी के ग्रन्थों में दंडी का नामोल्लेख पाये जाने से निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता। सिंघाली भाषा के अलंकार-ग्रंथ **'सिय-बस-लकर'** (स्वभाषालंकार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है*। इसका रचयिता, **राजा सेन प्रथम**, महावंश के अनुसार ८४६-६६ तक राज्य करता था। इससे भी पहले के कन्नड़ी भाषा के अलंकार-ग्रन्थ **'कविराजमार्ग'** में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है। इस ग्रन्थ के संस्कारक श्री के० बी० पाठक ने इसकी भूमिका में स्पष्ट दिखलाया है कि इसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से हूबहू नकल किए गए हैं या कहीं कहीं कुछ परिवर्तित रूप में रखे गए हैं। हेतु, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण दंडी से अक्षरशः मिलते हैं। ग्रन्थ के लेखक **अमोघवर्ष** का समय

---

* डाक्टर बारनेट—जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०५।

८१५ के आसपास माना जाता है। अतएव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनंतर कदापि स्वीकृत नहीं की जा सकती।

यह तो दंडी के काल की अन्तिम सीमा है। अब पूर्व की सीमा की ओर ध्यान देना चाहिए। यह निर्विवाद है कि काव्यादर्श के समग्र पद्य दण्डी की ही मौलिक रचना नहीं हैं। उनमें प्राचीनों के पद्य भी सन्निविष्ट हैं। 'लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः' में दंडी ने साफ तौर पर—'इति' शब्द के प्रयोग से यहां जाना जाता है—कालिदास के प्रसिद्ध पद्यांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' से उद्धरण पेश किया है। अतः इनके कालिदास के अनन्तर होने में तो सन्देह का स्थान ही नहीं है; परन्तु अन्य भाव-साम्य से ये बाणभट्ट के अनन्तर के भी प्रतीत होते हैं।

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।

काव्यादर्श के इस पद्य में पिटरसन तथा याकोबी की सम्मति में कादम्बरी में चन्द्रापीड़ को शुकनास द्वारा दिए गए उपदेश की छाया देख पड़ती है। आगे दिखलाया जायगा कि दण्डी ने मयूरभट्ट के साथ बाण की भी प्रशस्त प्रशंसा की है * तथा कथा में 'कादम्बरी' का वर्णन भी बाण की प्रसिद्ध कथा के बिल्कुल अनुरूप है। अतः लेखक की सम्मति में दण्डी को बाणभट्ट (७ वीं सदी

* भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः। व्यहारेषु जहौ लीलां न मयूर....।

का पूर्वार्द्ध) के अनन्तर मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती। प्रो० पाठक की राय में काव्यादर्श में निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य हेतु का विभाग वाक्यप्रदीप के कर्ता भर्तृहरि (६५० ई०) के अनुसार किया गया है †। कहा गया है कि भामह-दंडी का प्रश्न अभी तक अनिश्चित दशा में है; तथापि लेखक का विश्वास है कि दंडी का समय भामह के अनंतर है ❀। भामह ने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण को उद्धृत न कर दिङ्नाग कृत लक्षण को दिया है। अतएव यदि भामह धर्मकीर्ति (६४४–७०) से पूर्व माने जाँय, तो स्पष्ट है कि दंडी का समय सातवीं सदी का अंत तथा आठवीं का प्रारंभ माना जा सकता है। इसी स्थान पर अवन्तिसुन्दरी-कथा की अमूल्य सहायता का यथेष्ट अनुभव होता है। ऊपर दिए गए सिद्धांत को यह बात अच्छी तरह से प्रमाणित कर रही है। यह भी दिखाया गया है कि दंडी भारवि की चौथी पीढ़ी में हुए थे। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये कम से कम २० वर्ष भी मानें, तो भी दंडी का समय भारवि से करीब अस्सी वर्ष के अनंतर ठहरता है। भारवि यदि सातवीं सदी के आरंभ में विद्यमान थे, तो दंडी उस सदी के अंत तथा आठवीं के आरंभ में होंगे। ऊपर दिखाया गया है कि इस समय को निश्चित मानने

† पाठक—इंडियन ऐण्टिक्वेरी १९१२ ई०।

❀ जो लोग भामह-दण्डी के प्रश्न के विषय में अधिक जानना चाहें, वे काणे कृत साहित्य-दर्पण की भूमिका पृ० २५ तथा डाक्टर सुशील कुमार दे रचित History of Sanskrit Poetics देखें।

से संस्कृत-साहित्य की निश्चित घटनाओं से किसी प्रकार का विरोध नहीं पड़ता। काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा (रातवर्मा) को यदि हम नरसिंहवर्मा द्वितीय (जिसका विरुद अथवा उपनाम राजवर्मा था) मान लें, तो किसी प्रकार की अनुपपत्ति उपस्थित नहीं होती। प्रो० आर० नरसिंहाचार्य † तथा डाक्टर बेलवल्कर ‡ ने भी इन दोनों की एकता मानकर दंडी का समय सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध बतलाया है। शैवधर्म के उत्तेजक पल्लवराज नरसिंह वर्मा का समय ६९०–७१५ माना जाता है × जो दंडी के लिये निश्चित किए गए समय से यथेष्ट अनुरूपता रखता है।

दंडी के ग्रंथ

राजशेखर के 'त्रयो दण्डिप्रबंधाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः' के अनुसार दण्डी की तीन रचनाएँ प्रतीत होती हैं। ये तीन प्रबंध कौन हैं ? इस प्रश्न का भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से उत्तर दिया है। अवंतिसुन्दरी-कथा की उपलब्धि से तो यह प्रश्न और भी विकट हो गया है। **काव्यादर्श** के विषय में प्रत्येक प्रकार से निश्चय है कि यह दण्डी की रचना है। **दशकुमार-चरित** के विषय में भी अभी तक निश्चय ही था, परन्तु अब यत्र तत्र सन्देह की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। श्री अगाशे को शृङ्गार-रस के कुछ अश्लील वर्णनों तथा काव्यादर्श में वर्णित काव्यदोषों को

† Indian Antiquary. 1912 p. 90.

‡ Notes on काव्यादर्श II chapter pp. 176–77

× G. Dubreul: Ancient History of the Deccan. p. 70.

दशकुमार में उपलब्धि से विश्वास है कि यह ग्रंथ दण्डी रचित नहीं है ‡। परन्तु यदि बाहरी दृष्टि से अश्लील तथा रतिवर्णन से ग्रन्थकार के विषय में संदेह हो रहा है, तो कुमार का अष्टम सर्ग न तो कालिदास विरचित होगा और न नैषध का अष्टादश सर्ग श्रीहर्ष कृत। अवंतिसुन्दरी-कथा दशकुमार के पूर्वार्द्ध में वर्णित कथा के अनुरूप है। अतः कथा को दण्डी की असली रचना मानने से दशकुमार के पूर्वार्द्ध में सन्देह होने लगा है। यह सन्देह आज का नहीं है। बहुत पहले विल्सन तथा चिपलूणकर शास्त्री ❀ को भी शब्दों की निरुक्ति तथा कथा के पूर्वापर के कई अंशों में विरोध होने से यह सन्देह होने लगा था कि उत्तर-पीठिका तो वास्तव में असली है, परन्तु पूर्व पीठिका दण्डी की नहीं। के० बी० लक्ष्मणराव का कहना है † कि असली रचना कथा ही है, परन्तु समयानन्तर किसी कारण से वह शीघ्र ही लुप्त हो गई और उसी कथा के आधार पर किसी ने पीछे से पूर्व पीठिका जोड़कर समग्र कथा का सिलसिला जारी रखा। इसी कारण कथा तथा पूर्वपीठिका में उल्लिखित अवन्तिसुन्दरी के आख्यान की अनेक घटनाओं में भिन्नता दिखाई देती है। जो

---

‡ Indian Antiquary. 1915. Intro. to Daskumar Charit (B S. S.)

❀ संस्कृत कविपंचक (मराठी) पृ०—२२६—७

† दण्डीची अवन्तिसुन्दरी कथा, विविधज्ञानविस्तार, वर्ष ५४ अंक ८ (१९२३ अगस्त)

हो, कथा को दण्डी की दूसरी रचना मानने में कोई सन्देह नहीं। तीसरे ग्रन्थ के विषय में मतभेद है। डाक्टर पिशल ने मृच्छकटिक को ही दण्डी की तीसरी रचना बताया था। पिटर्सन तथा याकोबी ने 'छन्दोविचित्ति' के ही तीसरी रचना होने का अनुमान किया था, परन्तु 'सा विद्या नौर्विवक्षूणाम्' में छन्दोविचित्ति को दण्डी ने ही विद्या कहा है, ग्रन्थ नहीं। अतएव यह ग्रन्थ न होकर छन्द-शास्त्र का द्योतक है*। इसी प्रकार 'कलापरिच्छेद' को भी ग्रन्थ मानना उचित नहीं। सौभाग्यवश भोजराज इसके लिये हमारी सहायता करते हैं। उन्होंने अपनी 'शृंगार प्रकाशिका' † में दण्डी के 'द्विसन्धान' नामक काव्य से निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्द्धनः।
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः॥

धनञ्जय कवि का द्विसन्धान काव्य प्रकाशित हुआ है, परन्तु उसमें यह पद्य नहीं मिलता! यह कहना कठिन है कि 'द्विसन्धान'

---

* Dr. Belvelkar-Notes on काव्यादर्श Chapter 1st

† इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की उपलब्धि अभी हाल में दक्षिण भारत में हुई है। यह मद्रास गवर्नमेंट के ग्रंथ संग्रहालय में सुरक्षित है। कहा जाता है कि अलंकार शास्त्र पर इससे बड़ा और दूसरा ग्रन्थ नहीं है। इसमें लगभग ३० हजार श्लोक हैं और 'प्रकाश' नामसे ३६ प्रकरण हैं। इसी में भोज ने 'शृंगारमेव रसनात् रसमामनामः' (एकावली) में वर्णित शृंगार की प्रधानता के सिद्धांत का वर्णन यथेष्ट रूप में किया है। इस महामूल्य ग्रंथ के प्रकाशन से अलंकार-शास्त्र की अनेक नई बातों का पता लगने की आशा है।

का निश्चित विषय क्या है। सम्भवतः वह रामायण तथा महाभारत का सम्मिलित आख्यान होगा।

पूर्व-कवि-प्रशंसा

अवन्तिसुन्दरी कथा की छंदोबद्ध भूमिका संस्कृत साहित्य के लिये अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें ऐसे प्राचीन कवियों के नाम आए हैं जिनका वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता; और यदि मिलता भी है, तो उससे कुछ अपूर्व साहित्यिक बातों का सन्निवेश इसमें पाया जाता है। प्रथमतः 'सुबन्धु' नामक कवि के विषय में दण्डी का यह पद्य है:—

> सुबन्धुः किल निष्क्रान्तो विन्दुसारस्य बंधनात्
> तस्यैव हृदयं भित्वा वत्सराज...........॥

यद्यपि यह श्लोक-खण्डित है तथापि इससे सुबंधु के विषय में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि होती है। सुबंधु का संबंध बिंदुसार और वत्सराज के साथ किसी न किसी प्रकार से था। उपलब्ध वासवदत्ता के रचयिता सुबंधु इससे भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि वासवदत्ता का समय कालिदासीय शकुन्तला * तथा कामसूत्र के कर्त्ता वात्स्यायन † (ई० पाँचवीं सदी) के स्पष्ट उल्लेख से पंचम शताब्दी के आस पास माना जाता है। नाट्य-शास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने नाट्यायित (एक नाटक के भीतर अनेक नाटक) के उदाहरण में सुबंधु रचित 'वासवदत्ता

* विफलमेव दुष्यन्तस्य कृते दुर्वाससः शापमनुबभूव शकुन्तला।

† कामसूत्रविन्यास इव मल्लनागघटितकान्तारसामोदः।

नाट्यधार' का उल्लेख किया है तथा कुछ अंश को उद्धृत भी किया है। वामन की काव्यालंकार-वृत्ति में उल्लिखित एक पद्यखण्ड ‡ में चन्द्रगुप्त के पुत्र 'चन्द्रप्रकाश' का नामोल्लेख पाया जाता है। वामन की वृत्ति से वह भी ज्ञात होता है कि उसके प्रधान सचिव (मंत्री या मित्र) वसुबंधु (या सुबंधु) थे। इस पद्यांश पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है तथा अभी तक वह अनिश्चित है। स्मिथ ने एम० पेरी की सम्मति मानकर 'चन्द्र-प्रकाश' से समुद्रगुप्त का आशय निकाला है तथा वसुबंधु को चौथी सदी में मानकर उसी महान् गुप्त नरेश की सभा में उन्हें रखा है *। परन्तु हरप्रसाद शास्त्री तथा आर० नरसिंहाचार्य ने जितनी हस्तलिखित प्रतियों की परीक्षा की है, उन सब में 'सुबन्धु' ही पाठ मिलता है। परन्तु वासवदत्ता के लेखक केवल एक ही सुबंधु की जानकारी से उस पाठ में विद्वानों को विश्वास नहीं था; क्योंकि सुबंधु का समय पाँचवी शताब्दी के बाद ही माना जाता है और उस समय में किसी चन्द्रगुप्त-तनय के साथ उसका संबंध ठीक नही बैठता। परन्तु 'वासवदत्ता नाट्यधार' के कर्ता सुबंधु के इस ऐतिहासिक उल्लेख से ऊपर का पाठ अत्यंत

---

‡ सोऽयं सम्प्रति चंद्रगुप्ततनयश्चंद्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः।
आश्रयः कृतधियामित्यस्य वसुबंधुसाचिव्योपक्षेपपरतया साभिप्रायत्वम्।

* Early History of India (Third Edition) p. 334.

महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि चंद्रगुप्त-तनय बिंदुसारही था जिसकी सभा में सुबंधु जैसे 'कृतधी' विद्वान् उपस्थित रहते थे †। सुबंधु तथा वत्सराज के नाम दर्शक रूप में पाए जाते हैं। अतः इस श्लोक में वर्णित सुबंधु 'वासवदत्ता नाट्यधार' के रचयिता प्रतीत होते हैं और चंद्रगुप्त मौर्य के पुत्र के समसामयिक होने के कारण इसका समय २८० ई० पू० के आसपास जान पड़ता है।

गुणाढ्य तथा चौर-शास्त्र के आचार्य मूलदेव के उल्लेख के अनन्तर महाकवि शूद्रक के विषय में यह श्लोक है—

शूद्रकेणासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्गधारया।
जगद् भूयोऽप्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया॥

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शूद्रक न केवल महाविजयी राजा थे, बरन् संसार को चकित करनेवाले महाकवि भी थे। अभी तक मृच्छकटिक प्रकरण के कर्ता रूप में शूद्रक का नाम प्रसिद्ध था; परन्तु अब 'पद्मप्राभृतक' नामक भाण भी शूद्रक के नाम से उपलब्ध हुआ है। अवन्तिसुन्दरी कथा में भी शूद्रक की विजय-वार्ता वर्णित है। पूर्वोक्त पद्य के 'वाचा स्वचरितार्थया' से प्रतीत होता है कि शूद्रक ने कविता में अपने जीवन को ही घटनाओं का वर्णन किया है। तो क्या मृच्छकटिक का विजयी आर्यक

† Rangnath Saraswati: Vasubandhu or Subandhu. Proceedings and Transactions of Second Oriental Conference P. 203-13.

शूद्रक ही है ? अन्य भी अनेक उल्लेखों के आधार पर कुछ विद्वान् लोग शूद्रक को ही विक्रमीय सम्वत् का संस्थापक मानने लगे हैं* ।

महाकवि भास के विषय में लिखा है—

सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः ।

इससे स्पष्ट है कि भास ने अनेक नाटकों की रचना की थी; परन्तु भास के नाम से प्रकाशित नाटकों के रचयिता के विषय में इससे कुछ नई सामग्री नहीं मिलती ।

सेतुबन्ध प्राकृत महाकाव्य के कर्ता प्रवरसेन के विषय में यह श्लोक पाया जाता है:—

सेतुरूपेण तिष्ठन्तो लोके सद्वस्तुदर्शिनः ।
षट्पञ्चाशत्प्रमाणत्वं गताः नः कविपुंगवाः ॥

जान पड़ता है कि सेतुबन्ध केवल एक कवि की रचना नहीं है, बल्कि अनेक कवियों ने इसके निर्माण में सहायता दी है । 'सेतुबन्ध' की हस्तलिखित प्रति में 'वाकाटकानां महाराजस्य प्रवरसेनस्य कृतौ' लिखा हुआ है जिससे प्रवरसेन स्पष्टतः वाकाटकों का राजा प्रतीत होता है । प्रवरसेन द्वितीय ने कादम्ब नरेशों को हराकर विदर्भ तक अपनी शक्ति बढ़ाई थी । उनका समय ४२० ई० के आसपास माना जाता है ।

कालिदास की मधुर कविता का वर्णन इसके अनन्तर किया गया है:—

---

* Mythic S. J. Vol. XIII. No. 1.

लिप्ता मधुद्रवेनासन् यस्य निर्विवशा गिरः
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्।

किसी नारायण के विषय में नई सामग्री का पता निम्न-लिखित पद्य से लगता है:—

व्याप्तुं पदत्रयेणापि यश्शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयं व्याप्तौ चित्रं नारायणस्य किम्॥

पद्य में नारायण के तीन प्रबन्धों का उल्लेख है। सम्भवतः 'वेणी-संहार' उनमें से एक होगा। परन्तु अन्य दो काव्यों का पता अभी तक नहीं लगा है। ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन के द्वारा वेणीसंहार के कई श्लोक ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किए गए हैं। वामन ने भी अपनी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में न केवल इससे पद्य ही उद्धृत किया है, वरन् 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' में पदभंग के द्वारा 'वेत्स्यसि' शब्द की सद्यः प्रतीयमान व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि का भी यथेष्ट निराकरण किया है। इससे जान पड़ता है कि वामन के समय में, ८ वीं सदी के अन्त में, भट्टनारायण की कविता विशेष आदर के साथ देखी जाती थी तथा उनके प्रयोग प्रमाणिक माने जाते थे। अब कथा में उल्लेख होने से उनका समय निश्चय पूर्वक निर्धारित किया जा सकता है। दण्डी के इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि नारायण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भाग है। वे धर्मकीर्ति और भट्टबाण के समकालीन जान पड़ते हैं।

अनन्तर बाणभट्ट तथा मयूरभट्ट का वर्णन एक ही पद्य में किया गया है—

भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूर............... ॥

राजशेखर ने अपनी कवि-प्रशंसा में बाण और मयूर को हर्ष-वर्धन (६०६-६४७ ई०) का समकालीन बतलाया है *। पद्म-गुप्त के 'नवसाहसांकचरित' से इसकी पुष्टि होती है। बाणभट्ट की इस प्रशंसामयी सूचना से निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि दण्डी का आविर्भाव-काल बाण के अनन्तर है। है। इसके द्वारा ऊपर सिद्ध किए गए दण्डी के समय की यथेष्ट पुष्टि होती है। यही क्यों, कथा में कादम्बरी की आख्यायिका भी पूर्ण रूप से वर्णित है। दण्डी ने कादम्बरी की प्रत्येक घटना का वैसा ही वर्णन किया है जैसा बाण ने पूर्वार्द्ध कादम्बरी में। परन्तु कादम्बरी कथा के उत्तरार्द्ध की पूर्ति दण्डी ने अपनी उर्वरा कल्पना शक्ति से की है। इस कारण बाणभट्ट के सुपुत्र पुलिन्दभट्ट द्वारा पूरित उत्तरार्द्ध कथा से इसके कुछ अंश बिल्कुल ही भिन्न हैं। कादम्बरी-कथा की समानता से भी दण्डी का काल बाण के अनन्तर पूर्ण रूप से निश्चित होता है। इसमें सन्देह करने का लेशमात्र भी स्थान नहीं है।

ग्रन्थ का विषय

ऊपर लिखा जा चुका है कि अवन्तिसुन्दरी कथाका वही

* श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः।

विषय है जिसका वर्णन दशकुमार चरित की पूर्वपीठिका में किया गया है। कथासार इसी कथा का छन्दोबद्ध सारांश है। कथा में वररुचि, शूद्रक, कादम्बरी आदि की अनेक उपकथाएँ भी निबद्ध हैं जिससे यह ग्रन्थ बृहत्कथा के ढङ्ग पर रचा गया प्रतीत होता है।

घंघाल (जंघाल) ने काव्यादर्श की टीका में

अवन्तिसुन्दरी कथा अवन्तिसुन्दरीकथा नामक आख्यायिका का

उल्लेख किया है और वल्लभदेव की सुभाषितावलि से विभिन्न एक अन्य सुभाषितावलि में दण्डी के नाम से व्यास के विषय में वही पद्य पाया जाता है जो इस कथा के प्रथम परिच्छेद में दिया गया है। इससे भी इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता अच्छी तरह से अनुमित होती है।

दण्डी की रचना-शैली बड़ी ओजस्विनी है। उसमें बाणभट्ट के समान ही आनन्द आता है। रचना का ढंग भी उससे बहुत कुछ मिलता जुलता है। परन्तु जहाँ तहाँ अर्थ की कठिनता जान पड़ती है। तथापि इस गद्य काव्य की सुभग रचना एक महाकवि के सर्वथा उपयुक्त है, इसमें सन्देह नहीं। अभी तो इस ग्रन्थ के सात ही परिच्छेद प्राप्त हुए हैं। शेष भाग का लोप संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहास दोनों के लिये अशेष हानिकर हुआ है। निम्नलिखित अंश को ग्रन्थ से उद्धृत किया जाता है:—

.. ...तरङ्गमयी भ्रूपताकयोः, इन्दीवरमयी नयनयुगे, रक्तोत्पलमयी दन्तच्छदे, कुमुदमयी ईषत्स्मितेषु...अमृतमयी वचसि, प्रसादमयी मनसि, चक्रवाकमयी पयोधरयोः, आवर्तमयी नाभि-

रन्ध्रे, पुलिनमयी नितम्बतटेषु, पुष्करमयी पादतलयोः, अमर ...पभोगायतीर्णा मन्दाकिनीलीलाकरकान्तिरागप्राचुर्याणि पञ्चैव महाभूतस्थाने निधाय निर्मितेव प्रजापतिना, प्रावृडिव घनगभीरस्तननाभिरमणी, शरदिव सरसां कान्तिमुद्वहन्ती, हेमन्तवृत्तिरिव प्रालम्बिनी हारमालिनी, शिशिरश्रीरिव नवनव-मालिका वसन्तवेलेव चारुभुजवासभूषिततनुलता सर्वर्तुसवृ-त्तितयैव नन्दनस्वभावा...........देवी वसुमती नाम।

दण्डी के प्रधान ग्रन्थों के नाम पहले दिये जा चुके हैं। काव्यादर्श अलंकार शास्त्र का प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

दशकुमारचरित दण्डी की गद्यरचना का नमूना

दशकुमारचरित है। इसमें दशकुमारों के विचित्र चरित्र का मनोरञ्जक वर्णन है। मुख्य दशकुमार चरित के आरम्भ तथा अन्त में कथाभागों को क्रमानुसार जोड़ने के लिये दो अंश मिलते हैं। पहले को 'पूर्व पीठिका' कहते हैं तथा दूसरे को 'उत्तरपीठिका'। पूर्वपीठिका में पाँच उच्छ्वास हैं जिनमें चरित के प्रधान पात्र राजवाहन तथा अवन्ति-सुन्दरी के विवाह आदि का वर्णन किया गया है। लिखा गया है कि इस पूर्वपीठिका का मूल हाल में मिली 'अवन्तिसुन्दरी कथा' है। दशकुमार चरित में आठ उच्छ्वास हैं जिनमें कुमारों ने अपने चरित स्वयं वर्णन किये हैं। अन्त में पाँच पृष्ठों की एक छोटी उत्तर-पीठिका मिलती है जिसमें कथा का अवसान दिखलाया गया है। ...त्तर पीठिका दण्डी की रचना नहीं हो सकती। समय समय पर

भिन्न भिन्न लेखकों ने कथापूर्ति के लिये छोटी-मोटी पीठिकाएँ लिखी थीं। किसी विनायक नामक विद्वान् ने इसकी पद्य में रचना की है और चक्रपाणि ने गद्य में। इन्हीं पूर्व तथा उत्तर पीठिकाओं से संवलित आठ उच्छ्वासों में विभक्त आजकल का दशकुमार चरित है।

लेखन शैली

कविवर दण्डी के विषय में प्राचीन आलोचकों की सम्मति है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि।

अर्थात्—वाल्मीकि के उत्पन्न होने पर संसार में एकवचनान्त कवि की अभिधा हुई। व्यास के होनेपर द्विवचनान्त प्रयोग हुआ। दण्डी के उत्पन्न होने पर कवि का बहुवचन में प्रयोग चला। इस पद्य का आशय है कि संस्कृत साहित्यमें वाल्मीकि आदि कवि है। उनके बाद व्यास का कवि श्रेणी में नम्बर आता है। तीसरा नाम दण्डी का है। वाल्मीकि तथा व्यास के समान ही दण्डी को साहित्य में उन्नत स्थान प्राप्त है। दण्डी के पद लालित्य की बड़ी प्रशंसा है—'दण्डिनः पदलालित्यम्'। दण्डी का गद्य अपनी विशेषता रखता है। सुबन्धु के गद्य के समान न तो यह 'प्रत्यक्षरश्लेषमय' है और न बाणभट्ट के गद्य के बराबर 'सरसस्वरवर्णपद' से सुशोभित तथा साहित्यिक गद्य का आदर्श है। यह बहुत कुछ प्रति दिन के काम में लाने लायक 'व्यावहारिक' गद्य का नमूना है। यह शैली 'दशकुमार' की कथा के वर्णन के लिये खूब ही उपयुक्त है। पदों में लालित्य भी है। वर्णन भी लम्बे लम्बे समासों

में नहीं है। वाक्य प्रायः छोटे छोटे हैं। कथा-वैचित्र्य इस चरित में बहुत ही मनोरंजक है। इनकी कथाओं की जान इनकी विचित्रता है। दशकुमार चरित से उस समय में अनेक प्रचलित सामाजिक प्रथाओं का परिचय भी हमें प्राप्त होता है। दशकुमार चरित के वर्णनों में स्थान-स्थान पर अश्लीलता मिलती है जो सहृदयों के लिये अत्यन्त उद्वेजक है। इस दोष को यदि छोड़ दें तो दशकुमार चरित का गद्य सुन्दर कहा जा सकता है।

१४—माघ

संस्कृत-साहित्य में बृहत्त्रयी—किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित—का बड़ा आदर है। अनेक महाकाव्यों के होने पर भी पण्डितलोग विशेषतः इन्हीं के अध्ययन में समय बिताते हैं। संस्कृत काव्य में व्युत्पत्ति पैदा करने के उद्देश्य से इसका मनन करना आवश्यक है। इसके सम्यक् अध्ययन से न केवल शब्दकोष में ही वृद्धि होती है, बल्कि नवीन रस भावभङ्गी का ज्ञान उच्चकोटि का हो जाता है। यदि बृहत्त्रयी का अच्छी तरह मनन किया जाय, तो संस्कृत के अधिकांश महाकाव्यों की भाषा या भाव का ज्ञान पूरी तौर से हो सकता है। इसमें भी शिशुपाल-

वध का स्थान बहुत ही ऊँचा है। प्राचीन काल से इसका आदर होता चला आ रहा है; इसके अध्ययन की परम्परा अविच्छिन्न रही है। 'मेघे माघे गतं वयः' इस प्राचीन कथन से हम शिशुपाल-वध की लोकप्रियता को अच्छी तरह समझ सकते हैं। वास्तव में यह संस्कृत-साहित्य का अनुपम रत्न है। यह पढ़ने और समझने की एक चीज़ है। परन्तु आजकल अधिकांश विद्यार्थी इसके कुछ अंशों ही के पढ़ने में अपना समय बिताते हैं। समग्र ग्रन्थ के पढ़ने का कष्ट नहीं उठाते। विद्वानों की राय में समग्र ग्रन्थ को न पढ़ने से महाकवि की योग्यता तथा उत्तमता का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिल सकता।

जीवनवृत्त

शिशुपालवध के कर्ता का नाम 'माघ' है। डॉक्टर याकोबी का मत है कि जिस प्रकार "भारवि" ने अपनी प्रतिभा की प्रखरता सूचित करने के लिए 'भा-रवि' (सूर्य का तेज) नाम रखा, उसी भाँति शिशुपालवध के अज्ञात-मान रचयिता ने अपनी कविता को भारवि को मात करनेवाली बतलाने के लिए 'माघ' नाम धारण किया, क्योंकि माघमास में सूर्य की किरणें ठंडी पड़ जाती हैं। परन्तु यह कल्पना बिल्कुल निर्मूल जान पड़ती है। अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि परवर्ती आलोचकों ने 'भारवि' तथा 'माघ' नामों की निरुक्ति कर माघ को भारवि से बढ़कर बताने का यत्न किया है†। लेखक की राय में शिशुपालवध के कर्ता का नाम ही 'माघ'

---

† "तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः"

है, उपाधि नहीं। माघ की जीवन-घटनाओं का पता 'भोजप्रबन्ध' तथा 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' से लगता है। दोनों पुस्तकों में प्रायः एक-सी कहानी दी गयी है। माघ ने ग्रन्थ के अन्त में अपना थोड़ा परिचय दिया है। इन सबको एकत्रित करने पर माघ के जीवन की मुख्य घटनाएँ संकलित की जा सकती हैं।

माघ के दादा का नाम **सुप्रभदेव** था। ये महाशय वर्मलात नामक राजा के, जो गुजरात के किसी प्रदेश का शासक था, प्रधान मंत्री थे। अतः माघ कवि का जन्म एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मणकुल में हुआ था। अन्य कवियों के समान ये किसी आश्रय-दाता के मुँह जोहनेवाले नहीं थे। इनके पिता का नाम **'दत्तक'** था। ये बड़े विद्वान् तथा दानी थे। ग़रीबों की सहायता में इन्होंने अपने धन का अधिकांश भाग लगा दिया। माघ का जन्म भीन-माल+ में हुआ था। पिता की दानशीलता का प्रभाव पुत्र पर भी पड़ा। ये भी खूब दानी निकले। राजा भोज × से इनकी बड़ी मित्रता थी। राजा भोज का इन्होंने अपने घर पर बड़े आवभगत से सत्कार किया। धीरे धीरे अधिक दान देने से ये निर्धन हो गये,

---

+यह गुजरात का एक प्रधान नगर था। बहुत दिनों तक यह राज-धानी तथा विद्या का मुख्य केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त ने ६२५ ई० के आसपास अपने 'ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त' को यहीं बनाया। इन्होंने अपने को 'भीनमल्लाचार्य' लिखा है। ह्वेनसाँग ने भी इसकी समृद्धि का वर्णन किया है।

×यह धारा का प्रसिद्ध राजा भोज नहीं हो सकता। इतिहास इसे

तब अपने मित्र भोज के पास आश्रय के लिये आये। 'भोज-प्रबन्ध' में लिखा है कि इनकी पत्नी राजा के पास 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदाम्भोजखंडम्' आदि पद्य को, जो माघकाव्य के प्रभात वर्णन (११ सर्ग) में मिलता है, ले गयी। इस पद्य के लिये राजा ने प्रभूत धन दिया। उसे लेकर माघपत्नी ने रास्ते में दरिद्रों को बाँट दिया। माघ के पास पहुँचने पर उनकी पत्नी के पास एक कौड़ी भी न बच रही, परन्तु याचकों का ताँता बँधा ही रहा। कोई उपाय न देखकर दानी माघ ने अपने प्राण छोड़ दिये। प्रातःकाल भोज ने माघ का यथोचित अग्निसंस्कार किया और बहुत दुःख मनाया। माघ पत्नी भी सती हो गई।

माघ के जीवन को यही घटना ज्ञात है। न जाने यह सच्ची है या नहीं, परन्तु इतना तो हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि माघ एक प्रतिष्ठित धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। जीवन के सुख की समग्र सामग्री इनके पास थी। पिता ने इन्हें शिक्षा दी थी। पिता के समान ही ये दानी तथा उपकारी थे। सम्भवतः राजा भोज के यहाँ इनका बड़ा मान था।

असम्भव सिद्ध कर रहा है। अतएव कुछ लोग 'भोज प्रबन्ध' की कथा पर विश्वास नहीं करते। परन्तु इतिहास में कम से कम दो भोज अवश्य थे। एक तो प्रसिद्ध धारानरेश भोज (१०१०-५०) थे और दूसरे कोई सातवीं सदी के उत्तरार्द्धमें हुए। सम्भवतः इसी दूसरे राजा के समय में माघ हुए थे। 'भोजप्रबन्ध'ने दोनों भोजों की कथाओं में गड़बड़ी मचा डाली है।

माघ के समय निरूपण में बड़ा मतभेद है। कोई इनको सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानता है, तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में। परन्तु एक शिलालेख के आधार पर पहिला समय ज्यादा सम्भव जान पड़ता है।

समय

पूर्वोक्त भोज को प्रसिद्ध धारा नरेश मानकर कोई कोई इन्हें ११ ग्यारहवीं शताब्दी में मानते हैं; परन्तु यह नितान्त अनुचित है। क्योंकि नवीं शताब्दी में होनेवाले आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' में माघ काव्य के कई पद्यों को उद्धृत किया है। 'रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः' (३।५३) तथा 'त्रासाकुलः परिपतन्' (५।२६)—माघ के ये दोनों पद्यों को आनन्द ने उदाहरण के लिए आलोक में दिया है। इतना ही नहीं, 'कविराजमार्ग'※ नामक एक दूसरे अलंकार ग्रन्थ में भी माघ का नाम मिलता है।

अतएव यह निश्चित है कि माघ का समय नवीं सदी (८००) से उतर कर नहीं हो सकता है। इसके ऊर्ध्वतर काल को निश्चित करने वाले एक प्रमाण की उपलब्धि अभी हुई है। डाक्टर किलहार्न को राजपूताने के वसन्तगढ़ नामक किसी स्थान से

※ यह ग्रंथ कन्नडी भाषा में है। इसमें दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर ही अलंकार निरूपण किया गया है। प्रसिद्ध दक्षिणदेशीय राजा अमोघवर्ष (८१४ ई०) के समय में नृपतुंज नामक कवि ने इसकी रचना की थी। यह पुस्तक बड़े काम की है। कन्नडी भाषा की यह सबसे पुरानी पुस्तक है।

वर्मलात राजा का एक शिलालेख मिला है† । शिलालेख का समय संवत् ६८२ अर्थात् ६२५ ई० है । शिशुपालवध की हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न भिन्न लिखा मिलता है । धर्मनाभ, वर्मनाभ, धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक पाठ-भेद पाये जाते हैं । भीनमाल के आसपास प्रदेश में इस शिलालेख की उपलब्धि से डाक्टर किलहार्न 'वर्मलात' को असली पाठ मानकर इस राजा तथा सुप्रभदेव के आश्रयदाता को एक ही मानते हैं । अतः सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आसपास है । अतएव इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग ६५० ई० से लेकर ७०० ई० तक होगा । अर्थात् माघ का आविर्भाव काल सातवीं सदी का उत्तरार्ध है ।

इस समय के निरूपण का बाधक एक प्रमाण है जिसका यहाँ खण्डन कर देना समुचित होगा । माघ ने द्वितीय सर्ग के एक पद्य

---

†. वर्मलात के वसन्तगढ़ शिलालेख का समय विक्रम संवत् ६८२ है । इसका पता नीचे लिखे पद्य से लगता है—

द्विरशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशतोत्तरे

जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठिपुंगवैः ।।१।।

इस शिलालेख की रचना के नमूने के तौर पर यह पद्य दिया जाता है—

जयति जयलक्ष्मलक्षितवक्षःस्थलसंश्रितश्रियाधारः ।

श्री वर्मलातनृपतिः पतिरवनेरधिकबलवीर्यः ।।

* में व्याकरण के प्रधान ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य तथा काशिका वृति के साथ उन्होंने जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यास नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। ह्वेन्साङ्ग के अनन्तर भारत में आने वाले इत्सिङ्ग नामक चीनी यात्री ने काशिकाकार-वामन तथा जयादित्य—का वर्णन किया है, वाक्यपदीय के कर्त्ता भर्तृहरि की मृत्यु का उल्लेख किया है, परन्तु जिनेन्द्रबुद्धि जैसे प्रचण्ड बौद्ध विद्वान् के विषय में वह बिल्कुल मौन है। अतः जान पड़ता है कि जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास की रचना उसके जाने के साल (६९५ ई०) तक नहीं की थी। जब इत्सिङ्ग व्याकरण के अन्य ग्रन्थों का उल्लेख कर गया है तो जिनेन्द्रबुद्धि के इतने प्रसिद्ध होने पर उनके उल्लेख करने से वह विरत नहीं होता-बाज नहीं आता। अतः जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास की रचना ७०० ई० के आसपास की गई होगी। पूर्वोक्त पद्य पर मल्लिनाथ की टीका से माघ के द्वारा न्यास के उल्लेख (संकेत) किये जाने का हाल मालूम होता है।

जब माघ स्वयं ७०० ई० के आसपास के बने ग्रन्थ का उल्लेख अपने ग्रन्थ में करते हैं तो उनका समय ६५० ई० ७०० ई० तक कैसे माना जा सकता है? परन्तु न्यास ग्रन्थ के उल्लेख से भी यह कहना

* अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ २।११२।

इस पद्य में माघ ने श्लेष के द्वारा राजनीति की समता शब्द-विद्या (व्याकरण-शास्त्र) से की है।

ठीक नहीं है कि माघ यहाँ जिनेन्द्र-बुद्धि के ग्रन्थ का ही उल्लेख कर रहे हैं। जिनेन्द्र-बुद्धि के पहिले भी बहुत से न्यास ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। जिनेन्द्र-बुद्धि ने ही कुणि, चुल्लि तथा नल्लूर आदि के न्यास ग्रन्थों का उल्लेख किया है। बाणभट्ट ने, जो न्यास की रचना के पहिले अवश्य हो चुके थे, 'हर्षचरित' में ठीक इसी श्लेष की उद्भावना की है।—'कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि"। अतएव हम माघ को निश्चय-पूर्वक जिनेन्द्र-बुद्धि के पीछे नही मान सकते। बाणभट्ट के समान माघ ने भी इन्हीं न्यासों की ओर संकेत किया है न कि जिनेन्द्र-बुद्धि के न्यास की ओर। अतएव माघ का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध होना निश्चित रूप से सिद्ध होता है।

माघ की कीर्तिलता केवल एक ही महाकाव्य शिशुपालवध रूपी वृक्ष पर अवलम्बित है। इसमें कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर के

ग्रन्थ

राजसूययज्ञ में चेदि-नरेश शिशुपाल के वध की महाभारतीय कथा विस्तार से वर्णित है। महाकाव्य लम्बे लम्बे बीस सर्गों में समाप्त हुआ है। महाकाव्य का रूप देने के लिये माघ ने इस ग्रन्थ में ऋतुवर्णन आदि अनेक विषयों का संगठन किया है। इन विषयों से कथा में चमत्कार पैदा हो गया है। स्थान स्थान पर राजनीति के विषय में लम्बे लम्बे व्याख्यान भी दिये गये हैं। अलङ्कारों की नवीनता देखते ही बनती है। माघ ने बड़े प्रयास से श्लेष को बैठाया है। यमक, अनुलोम, प्रतिलोम, एकाक्षर सर्वतोभद्र आदि अनेक चित्रा-

लङ्कारों का इस ग्रन्थ में मधुर सन्निवेश किया गया है। इस काव्य को छोड़कर कवि की अन्य रचना का पता अभी तक नहीं लगा है। सूक्ति-संग्रहों में अवश्य कई पद्य माघ के नाम से दिये गये हैं[1]। अतः कई विद्वानों का अनुमान है कि माघ ने अन्य भी किसी ग्रन्थ की रचना की थी, जिससे ये पद्य उद्धृत किये गए हैं।

माघ के महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। बहुतों का खयाल है कि माघ ने साम्प्रदायिक प्रेम से उत्तेजित होकर

भारवि और माघ

अपने पूर्ववर्ती 'भारवि' से बढ़ जाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया है। भारवि शैव थे अथवा कम से कम शिव के बड़े भक्त थे। इनका काव्य शिव के वरदान के विषय में है। माघ वैष्णव थे। इन्होंने विष्णु-विषयक महाकाव्य की रचना की है। अतएव महाकाव्य में विष्णु के पूर्णावतार श्रीकृष्ण के द्वारा शिशुपाल के मारे जाने का विस्तृत वर्णन है। वह स्वयं अपने ग्रन्थ को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहते हैं। भारवि को मात करने में माघ ने कुछ भी नहीं उठा रक्खा है। 'किरातार्जुनीय' को अपना आदर्श मानकर भी माघ ने अपने काव्य में बहुत कुछ अलौकिकता पैदा कर दी है। किरात के समान ही माघ काव्य भी मंगलार्थक 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। किरात के आरम्भ में 'श्रियः

---

1 बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते न पीयते काव्यरसः पिपासितैः।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः
(औचित्य विचारचर्चा)

कुरूणामधिपस्य पालिनीं' है, उसी प्रकार माघ के प्रारम्भ में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है।

भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने भी इसी तरह अपने काव्य के सर्गान्त-पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है। शिशुपालवध तथा किरातार्जुनीय के वर्णन-क्रम में भी समानता है। दोनों महाकाव्यों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है—किरात में वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर के पास; माघ में नारद के द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र के सामने। दूसरे सर्ग में राजनीतिक-कथन है। किरात में भीम के कथन के अनन्तर व्यासजी के उपदेशानुसार कार्य किया गया है। माघ में भी इसी प्रकार बलराम के मत को न मानकर उद्धव के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने का वर्णन है। अनन्तर दोनों में यात्रा का वर्णन है। ऋतु-वर्णन भी दोनों में है—किरात के चतुर्थ सर्ग में तथा माघ के षष्ठ सर्ग में। पर्वत का वर्णन भी एक समान है—किरात के ५ वें सर्ग में हिमालय का तथा माघ के ४ थे सर्ग में रैवतक पर्वत का। अनन्तर दोनों में सन्ध्याकाल, अन्धकार, चन्द्रोदय, सुन्दरियों की जलकेलि—आदि विषयों के वर्णन कई सर्गों में दिये गये हैं। किरात के १३ वें तथा १४ वें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में बाण के लिए वाद-विवाद हुआ है; माघ के १६ वें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि में हुआ है। किरात के १५ वें तथा माघ के १९ वें सर्ग में चित्र-बन्धों में युद्धवर्णन है। इस प्रकार समता होने पर भी

किरात और माघ में बड़ी भिन्नता है। कहीं कहीं भारवि की छाया माघ पर दीख पड़ती है परन्तु माघ को संस्कृत-साहित्य में कुछ ऐसी विशेषता है जो भारवि में देखने को न मिलेगी। इसीलिये रसिकजन माघ के सामने भारवि को हीन समझते हैं—तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।

'माघे सन्ति त्रयो गुणाः'। यह तो सब पण्डित जानते हैं कि माघ में तीनों गुण हैं—उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य। इन तीनों गुणों का सुभग दर्शन हमें माघ की कमनीय कविता में हो रहा है। भारवि की प्रसिद्धि केवल अर्थगौरव के लिए है, परन्तु माघ में इसके साथ-साथ अन्य गुणों की भी उपलब्धि होती है। बहुत से आलोचक पूर्वोक्त वाक्य को माघभक्त किसी कवि-पण्डित का अविचारित-रमणीय हृदयोद्गार बतलाते हैं, परन्तु वास्तव में पूर्वोक्त आभाणक में कुछ सत्यता है। माघमें कालिदास जैसी उपमाएँ भले न मिलें, परन्तु फिर भी इनमें न सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थगौरव की कमी। पदों का ललित-विन्यास तो निःसन्देह प्रशंसनीय है। माघ की पदशय्या इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। इसीलिए धनपाल का यह कथन कितनी सत्यता से भरा है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा।

जिस प्रकार माघ के ठंढे महीने में सूर्य भगवान् के आतप की सेवा करने पर भी विचारे कपिलोग पदक्रम रखने में—चलने

फिरने में असमर्थ हो जाते हैं—उत्साहहीन हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार माघ कवि की पदरचना देखकर कवियों का दिल काव्य लिखने में ठंढा पड़ जाता है। पदक्रम (पदरचना) के लिए उनमें उत्साह ही नहीं रहता, चाहे वे भारवि के पदों का कितना ही स्मरण करें; इस कविता-कार्य में विचारे सर्वथा असमर्थ ही रहते हैं। माघ के सामने कविजनकी दशा माघमास के कपिजन जैसी है। यह उक्ति चमत्कारिणी होने पर भी सत्य ही है। माघ के पदविन्यास में कुछ ऐसी ही विशेषता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि नवसर्ग बीत जाने पर माघ में 'नव' (नया) शब्द नहीं मिलता—'नवसर्ग-गते माघे नवशब्दो न विद्यते।

माघ की विद्वत्ता

माघ केवल सरस कवि न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड सर्वशास्त्र-तत्त्वज्ञ विद्वान् थे। माघ जैसी विद्वत्ता किसी भी संस्कृत कवि में न मिलेगी। भिन्न भिन्न शास्त्रों का अध्ययन जितना माघ ने किया है, इन शास्त्रों के सिद्धान्तों का जिस सुन्दर रीति से माघ ने प्रतिपादन किया है, उस भांति संस्कृत-साहित्य के किसी महाकाव्य में उपलब्ध नहीं होता। लेखक की विनीत सम्मति में माघ जैसा पण्डित-कवि संस्कृत में दूसरा हुआ ही नहीं। भारवि में राजनीति-पटुता अवश्य दीख पड़ती है, श्रीहर्ष में दार्शनिक उद्भटता अवश्य उपलब्ध होती है, परन्तु माघ में सर्वशास्त्रों का जो परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है वह उन दोनों कवियों में कहाँ? उनमें भी पाण्डित्य है, परन्तु वह केवल एकाङ्गी है। परन्तु माघ का पांडित्य

सर्वगामी है—सब शास्त्रों के विषय में है। वेद तथा दर्शनों से लेकर राजनीति तक का विशिष्ट परिचय इनके काव्य में पाया जाता है। कतिपय दृष्टान्तों के द्वारा इस विषय का विशदीकरण यहाँ किया जायगा।

माघ का श्रुति-विषयक ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रातःकाल के समय इन्होंने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है। हवन कर्म में आवश्यक सामधेनी ऋचाओं का उल्लेख किया है (११ सर्ग, ४१ श्लोक)। वैदिक स्वरों को विशेषता भी आपको भली भांति मालूम थी। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है, इस नियम का उल्लेख मिलता है[१]। एक पद में होनेवाला उदात्त स्वर अन्य स्वरों को अनुदात्त बना डालता है—एक स्वर के उदात्त होने से अन्य स्वर 'निघात' हो जाते हैं, इस स्वर-विषयक प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन माघ ने शिशुपाल के वर्णन में बड़ी सुन्दर रीति से किया है (निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव)। इन सामान्य वैदिक विषयों के अनन्तर माघ के विशिष्ट वैदिकत्व का पता भी माघकाव्य से लगता है। चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बड़ा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन किया हुआ मिलता

---

१ संशयाय दधतोः सरूपतां दूरभिन्नफलयोः क्रियां प्रति।
शब्दशासनविदः समासयोर्विग्रहं व्यवससुः स्वरेण ते॥
(१४।२४)

है[१]। दर्शनों का भी विशिष्ट ज्ञान माघ में दिखाई पड़ता है। सांख्य के तत्त्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। प्रथमसर्ग में नारद ने श्रीकृष्णचन्द्र की जो स्तुति की है, वह सांख्य के अनुकूल है[२]। योगशास्त्र की प्रवीणता भी देखने में आती है। 'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय' आदि पद्य में चित्त-परिकर्म, सबीजयोग, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति—योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं[३]। अश्वलक्षण तथा गजलक्षण का भी विशिष्ट परिचय माघ-काव्य में उपलब्ध होता है।

आस्तिक—वैदिक—दर्शनों की कौन कहे, नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्च कोटि का था। माघ बौद्ध-दर्शनों से भी

---

१ शब्दितामनपशब्दमुच्चकैर्वाक्यलक्षणविदोऽनुवाक्यया।
याज्यया यजनकर्मिणोऽत्यजन् द्रव्यजातमपदिश्य देवताम्॥
(१४।२०)

२ उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः॥
(१।३३)

तस्य सांख्यपुरुषेण तुल्यतां बिभ्रतः स्वयमकुर्वतः क्रियाः।
कर्तृता तदुपलम्भतोऽभवद् वृत्तिभाजि करणे यथर्त्विजि॥
(१४।१९)

३ मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषाऽन्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्। (४।५५)

भलीभाँति परिचित थे*। वे उसके सूक्ष्म विभेदों के भी ज्ञाता थे। वे राजनीति के भी अच्छे जानकर थे। बलराम तथा उद्धव के द्वारा राजनीति की खूबियाँ खूब ही दिखलायी गयी हैं। प्रत्येक ने अपने मत का समर्थन बड़ी योग्यता से किया है। माघ का ज्ञान नाट्य-शास्त्र में भी बड़ा ऊँचा था। उन्होंने नाट्य-शास्त्र के विभिन्न अङ्गों की उपमा बड़ी सुन्दरता से दी है†। माघ एक प्रवीण वैयाकरण थे। उन्होंने व्याकरण के सूक्ष्म नियमों का पालन अपने काव्य में भलीभाँति किया है। व्याकरण के आर्षग्रन्थों का भी उल्लेख उन्होंने पूर्वोदाहृत पद्य में किया है। उन्होंने एक

---

* सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपंचकम्
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मंत्रो महीभृताम्।

—२ सर्ग, २८ श्लोक

इस एक ही पद्य में बौद्धदर्शन तथा राजनीति के मूल सिद्धान्त वर्णित हैं। जिस प्रकार बौद्धों की सम्मति में केवल पाँच स्कन्धों—रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार—का समूह ही आत्मा है, उसी भाँति राजाओं के लिए भी अङ्गपञ्चक ही सबसे बड़ा मंत्र है। अंग पाँच होते हैं—१ सहाय, २ साधनोपाय, ३ देशकालविभाग ४ विपत्तिप्रतिकार ५ सिद्धि। राजा यदि अपने कार्यों में इन पाँचों का खयाल रखे तो उसका बड़ा हित होगा।

† पूर्वरंगः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः। इस पद्यांश में पूर्वरङ्ग के सच्चे कार्य का उल्लेख किया गया है। पूर्वरङ्ग एक लम्बा चौड़ा धार्मिक कार्य था, जो नाटक के आरंभ में किया जाता था। भरत-नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग का विस्तार के साथ वर्णन है।

जगह 'परिभाषा' से बड़ी सुन्दर उपमा दी है। इन सबसे माघ के व्याकरण का अखण्ड पाण्डित्य स्पष्ट ही प्रतीत होता है*। माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी ऊँची कक्षा का था। वे संगीतशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक थे। जगह जगह पर संगीत शास्त्र के मूल तत्त्वों का निदर्शन कराया गया है†। नीचे के पद्य में कविवर माघ की संगीत-शास्त्र-विषयक अभिज्ञता पूर्ण रूप से प्रकट हो रही है। इस पद्य में प्रातःकाल के संजीवन समय में पंचम तथा ऋषभ को छोड़कर षड्ज स्वर आलापने का उल्लेख है। महर्षि भरत के अनुसार संगीतशास्त्र में भी यही प्रथा प्रचलित है‡

---

* निपातितसुहृत्स्वामिपितृव्यभ्रातृमातुलम् ।
पाणिनीयमिवाऽऽलोकि धीरैस्तत् समराजिरम् ।
१९:७५

† श्रुतिसमधिकमुच्चैः पंचमं पीडयन्तः
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम् ।
प्रणिजगदुरकाकु श्रावकस्निग्धकण्ठाः
परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय ॥ ११।१

इस पद्य में माघ ने संगीतशास्त्र के मूलभूत स्वरों का—पंचम, ऋषभ, षडज का—उल्लेख स्पष्टतः किया है।

‡ प्रभाते सुतरां निन्द्यः ऋषभः पंचमोऽपि च
जनयेत्प्रधनं ह्युक्षा पंचत्वं पञ्चमोऽपिच ।
पंचमस्य विशेषोयं कथितः पूर्वसूरिभिः
प्रगे प्रगीतो जनयेद्दशनानां विपर्ययम् ॥

अलंकार-शास्त्र में माघ की प्रवीणता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह तो कवि का अपना प्रदेश है। माघ ने राजनीति के गूढ़ तत्त्वों को सम्यक् समझाने के लिए—हृदयङ्गम कराने के लिए—अलङ्कार शास्त्र के नियमों का सहारा लिया है। नीचे के पद्य ‡ में कवि ने रसोत्पत्ति का सुन्दर वर्णन किया है। माघ ने एक सच्चे कवि-आलङ्कारिक के ऊँचे पद से शब्द तथा अर्थ दोनों को 'काव्य' § माना है।

कहने का सारांश यह है कि माघ एक महान् कवि पण्डित थे। उनका ज्ञान हिन्दूदर्शन, बौद्धदर्शन, नाट्यशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, व्याकरण, संगीत आदि शास्त्रों में बड़ा उत्कृष्ट था। माघ ने अपने सम्पूर्ण ज्ञान को कविता-कामिनी को अर्पण कर दिया है—उन्होंने कविता की बाँकी छटा को सजाने के लिए समग्र संस्कृत-साहित्य

---

‡ स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः ॥ २।८७

§ शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ।२।८६

दण्डी तथा जगन्नाथ की सम्मति में रमणीयार्थक प्रतिपादक शब्द ही काव्य है, परन्तु प्राचीन आलङ्कारिक—भामह, वामन, मम्मट और रुद्रट शब्द तथा अर्थ को काव्य मानते हैं। सच्ची बात भी यही है। काव्य का आदर्श लक्षण यही है—

अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम् ।

का उपयोग करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है। माघ की यह विशेषता उन्हें महाकवियों की श्रेणी में उन्नत बना रही है।

कविता।

(१) माघ की कविता--शैली अपने ढङ्ग की अनुपम है। माघ की शैली को कृत्रिम न कह 'अलंकृत' (ornate) कहना उपयुक्त है। प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक भाव साधारण शब्दों में न होकर अलंकारों से विभूषित भाषा में प्रकट किये गये हैं। समासों की बहुलता, विकट वर्णों की 'उदारता', गाढ़ बन्धों की मनोहरता—हमारे मानस पटल पर आकर नाचने लगती है। इस ओजो-गुणमयी कविता का माघकाव्य में सर्वोत्कृष्ट विकाश है। छन्द छोटे हों या बड़े, शैली की असाधारणता सर्वत्र झलक रही है।

(२) माघ ने इस शैली को खूब ही अलंकृत बनाया है। चित्रालंकारों से यह शैली चित्रित की गयी है, तथा कहीं-कहीं काव्य में कठिनता पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। समग्र उन्नीसवें सर्ग में इन्हीं चित्रालंकारों के द्वारा युद्ध का विचित्र वर्णन किया गया है। अनेक छन्दों की रचना केवल दो अक्षरों में की गयी है। उदाहरणार्थ यह पद्य 'ज' तथा 'र' की लपेट में समाप्त किया गया है—

राजराजी रुरोजाजेरजिरेऽजोऽजरोऽरजाः।
रेजारिजूरजोर्जार्जी रराजर्जुरजर्जरः॥ १९।१०२

अर्थालङ्कारों में श्लेष का प्रयोग उत्तम रीति से किया गया है। स्थान स्थान पर मुग्धकारिणी स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षाओं की भी कमी नहीं है।

(३) माघ काव्य के वर्णन—प्राकृतिक या मानुषिक—खूब सजीव हैं। प्रत्येक वर्णन में स्वाभाविकता पूरी प्रदर्शित की गई है। कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति का पूरा पता इन्हीं स्वाभाविक वर्णनों से भली भाँति लगता है। किसी वस्तु के विस्तार के साथ वर्णन करने की शक्ति भी माघ में विशेषरूपेण दीख पड़ती है। श्रीकृष्ण की यात्रा का वर्णन एक समग्र सर्ग में समाप्त हुआ है। इनमें वास्तवकता (realism) भरी पड़ी है। प्रभात-वर्णन तथा यात्रा-वर्णन से इसकी पुष्टि भलीभाँति हो जाती है। रैवतक पर्वत का आलङ्कारिक वर्णन भी बड़ा रोचक है। ऋतु, जलक्रीड़ा, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन आलङ्कारिक तथा साम्प्रदायिक है।

रैवतक पर ज़रा दृष्टि डालिये—कवि ने उसको क्या ही विशाल हाथी का रूप प्रदान किया है:—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा-
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा-
द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥४।२०

प्रातःकाल रैवतक की सुषमा का वर्णन है। ऊपर फैले हुए रज्जुरूपी किरणों से युक्त सूर्यनारायण रैवतक के एक ओर उदय हो रहे हैं और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त हो रहे हैं। जान पड़ता है कि यह रैवतक उस गजेन्द्र की शोभा धारण कर रहा है, जिसके दोनों ओर घण्टे लटक रहे हों। इस कल्पना पर मुग्ध होकर प्राचीन समालोचकों ने माघ को '**घण्टामाघ**' कहा है। वास्तव में

यह कल्पना कवि के उर्वर मस्तिष्क की मनोहर उपज है।

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः॥ ११।४

प्रातःकाल में झपकी लेनेवाले सिपाही का क्या ही खासा स्वाभाविक वर्णन है। चौकीदार अपने समय को बिताकर सोना चाहता है। वह दूसरे पहरेदार को 'जागो' 'जागो' कहकर पद पद पर जगा रहा है। वह पहरेदार जागते हुए भी सो रहा है। नींद के मारे अनर्थक आँय-बाँय कुछ शब्द कहता है अवश्य, परन्तु फिर भी वह सो जाता है, जागकर भी अपने पहरे पर नहीं जाता। क्या ही सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है!

परिणतमदिराभं भास्करेणांशु बाणैः
तिमिरकरिघटायाः सर्वदिक्षु क्षतायाः।
रुधिरमिव वहन्त्यो भान्ति बालातपेन
च्छुरितमुभयरोधोवारितं वारि नद्यः। ११।४८

प्रातः काल के नदीजल का वर्णन है। सूर्यदेव ने किरणरूपी बाणों से अन्धकाररूपी गजघटा को, जो सब दिशाओं में फैली हुई थी, मार डाला है। बाल सूर्य की चमक पड़ने पर नदी का जल बिल्कुल लाल रंग का हो गया है। जान पड़ता है कि अन्धकार रूपी हाथी के शरीर से जो लोहू चू रहा है, उसी से यह नदी का जल लाल हो रहा है।

सूर्योदय का वर्णन सुनिये—

> विततपृथुवरत्रा तुल्यरूपैर्मयूखैः,
> कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः ।
> कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि-
> र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥
>
> (११।४४)

चारो ओर फैली हुई, मोटी रस्सियों के समान, किरणों के द्वारा खींचा जाता हुआ, बड़े भारी कलश के समान यह सूर्य दिशारूपी नारियों से समुद्र के जल से निकाला जारहा है। जिस प्रकार कलश रस्सी की सहायता से बाहर निकाला जाता है, उसी प्रकार पूर्व समुद्र में डूबे हुए सूर्य्य को दिशायें किरणरूपी रस्सियों से खींचकर निकाल रही हैं। जिस प्रकार घड़े को जल से निकालने के समय बड़ा कोलाहल होता है, उसी तरह प्रातःकाल की चुह-चुहाती चिड़िया शोर मचा रही हैं। वाह री कल्पना की नवीनता! प्रातःकाल के समय, पक्षिगण का मनोहर कोलाहल कर्णपुट को सुख देता है। चारों ओर किरणें फैलाने वाले सूर्य का क्या ही सुन्दर वर्णन है।

> उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
> सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः ।
> विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः,
> परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥
>
> (११।४७)

जिस प्रकार आँगन में खेलता हुआ कोई बालक, बुलानेवाली अपनी माता की गोद में, हँसते हुये अपने कोमल हाथों को फैला कर जा गिरता है, उसी प्रकार बालसूर्य (बालक-सूर्य) उदयाचल की शिखररूपी आँगनों में घूमता हुआ, मुख के समान कमलों को विकसित करनेवाली कमलिनियों से देखा गया, अपने कोमल करों (किरणों) को फैलाकर, पक्षियों के द्वारा शब्द करनेवाली द्यौरूपी (आकाशरूपी) माता की गोदी में लीलापूर्वक गिर रहा है। वाह री कल्पना की बहार! अलंकारों की अनुपम छटा! श्लेष तथा अतिशयोक्ति से परिपुष्ट किये गये रूपक की रमणीयता वास्तव में प्रशंसनीय है, आदरणीय है।

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥
—(११।६४)

प्रातःकाल कुमुदवन की शोभा नष्ट हो रही है। कमलों के वन की शोभा बढ़ रही है। उल्लू को शोक हो रहा है और चक्रवाक आनन्दित होता है। सूर्य का उदय हो रहा है और चन्द्रमा डूब रहा है। अजीब दशा है। बुरे भाग्यवालों का परिणाम बड़ा विचित्र होता है।

गायों के दूध दुहने का दृश्य देखिये—

प्रीत्या नियुक्ताँल्लिहतीः स्तनंधया-
न्निगृह्य पारीमुभयेन जानुनोः।

वर्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणीः पय-
श्चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः ॥

—१२।४०

गायों के बछड़े उनके वामपाद में बाँध दिये गये हैं। वे उन्हें प्रेमपूर्वक चाट रही हैं। ग्वाल लोग गायों से अपने दोनों घुटनों पर दुहने का बर्तन रखकर दूध दुह रहे हैं। दूध के दूहे जाने पर घरघों-घरघों की आवाज़ बढ़ती जाती है। ऐसे ग्वालों को श्रीकृष्णने बड़े ध्यान से देखा। क्यों नहीं, श्रीकृष्ण को बचपन से ही यह दृश्य बड़ा प्यारा है। वे तो स्वयं वृन्दावन के गोपाल थे।

निम्नानि दुःखादवतीर्य सादिभिः,
सयत्नमाकृष्टकशाः शनैः शनैः ।
उत्तेरुरुत्तालखुरारवं द्रुताः ,
श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजाः ॥

—१२।३१

घुड़सवार चले आरहे हैं। आगे कुछ नीची ज़मीन मिल जाती है। सवार लोग रास को बलपूर्वक खींच लेते हैं, तथा धीरे-धीरे उस नीची भूमि को बड़ी कठिनता से पार करते हैं। उसे पार करने पर वे लगाम ढीली कर देते हैं। घोड़ों को दौड़ने के लिये खासी चौड़ी ज़मीन मिल जाती है तथा वे अब अपने तेज़ टापों से धूल उड़ाते दौड़े जा रहे हैं। घोड़ो की प्रकृति का क्या ही सजीव चित्र है। घोड़ों पर अभ्यस्त चढ़ने वाले माघ के इस वर्णन के पूर्णरूप से साक्षी हैं।

(४) माघ संस्कृतभाषा पर पूरी प्रभुता रखते हैं। उनके काव्य में नवीन शब्दावली सर्वत्र उपलब्ध होती है। "नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते"—माघ के नवसर्गों को पढ़ जाने पर कोई नया शब्द नहीं मिलता—माघ की देववाणी पर प्रभुता के विषय में प्राचीन आलोचकों की यह सर्वमान्य सम्मति है। माघ का शब्द-भण्डार बृहत् है। इसकी पुष्टि माघकाव्य जैसे २० सर्गवाले महाकाव्य से पूरी तरह से होती है। माघ की कल्पना भी अप्रतिम है। अलौकिक प्रतिभा के बल पर माघ की कल्पना आकाश-पाताल को एक कर रही है। प्रायः कल्पनाओं में अनूठापन और मौलिकता उपलब्ध होती है। प्रातः वर्णन में माघ की ऐसी अनेक सूझें हैं जो संस्कृत साहित्य में अपनी स्पर्धा नहीं रखती हैं।

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा,
बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती,
रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ॥

—११।४०

रात बीत गई है। पूर्वसन्ध्या (प्रायःकाल) आ रही है। जिस प्रकार कमल के समान सुन्दर हाथ-पैर-वाली, आखों में मनोहर अञ्जन लगाकर कोई बालिका अपने बालसुलभ तोतले शब्दों को कहती हुई अपनी माता के पीछे पीछे दौड़ती है, उसी भाँति पूर्वसन्ध्या—जिसके लाल कमल की श्रेणी ही हाथ पाँव हैं,

भ्रमरमालारूपी कज्जल से युक्त कमल ही जिसके नेत्र हैं—पक्षियों के शब्दों से बोलती हुई रात्रि के पीछे पीछे दौड़ती चली आ रही है। वाह ! क्या ही अनुरूप रूपक है !

अनिमिषमविरावा रागिणां सर्वरात्रं,
नवनिधुवनलीलाः कौतुकेनातिवीक्ष्य ।
इदमुदवसितानामस्फुटालोकसंप-
न्नयनमिव सनिद्रं घूर्णते दैपमर्चिः ॥

११।१८

प्रातःकाल होने पर गृहों के दीपों की शिखा घूम रही है। क्यों ? कारण यह है कि दीपक ने रातभर कामी-कामिनियों की लगातार होने वाली रति-लीला को कौतुक से देखा है। अतएव मन्द कान्ति वाले ऊघतें हुये गृहों के नेत्र के समान ये दीख पड़ते हैं। बड़ी सुन्दर उपमा है।

रैवतक के वर्णन में माघ ने क्या ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥

(४।४७)

पहाड़ी नदियाँ कल कल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर उसकी गोदी में लोट पोट किया करती हैं। अतः वे रैवतक की बेटियाँ है। आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं, इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर के द्वारा, जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है। कन्या के पतिगृह

जाने के समय पिता का हृदय पिघल जाता है, वह कितना भी कठोर हो द्रवीभूत अवश्य हो जाता है। "पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः"। अतः रैवतक भी पत्तियों के करुण स्वर से कन्याओं के लिए रो रहा है। ठीक है, पिता का हृदय कोमल होता ही है।

× × ×

माघ में अलंकार की छटा प्रत्येक रसिकजन के हृदय को आनन्दित करती है। अर्थालंकार की झलक ऊपर के पद्यों में खूब ही है। काव्य में श्लेष तथा उत्प्रेक्षा लाने में माघ खूब बढ़े चढ़े हैं। शब्दालंकार की भी शोभा अतिशय मनोहारिणी है। अनुप्रास तथा यमक का प्रचुर प्रयोग माघकाव्य में मिलता है। नीचे दिए गए पद्य से इनकी सालंकार भाषा का कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमें पद-लालित्य भी खूब है।

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥

(६।२०)

इतने गुण होने पर भी माघ की कविता में कुछ दोष हैं। माघ की कल्पनायें अनुपम हैं; उनकी प्रतिभा प्रथम कक्षा की है। इसमें सन्देह नहीं जान पड़ता। परन्तु माघ के कुछ विचार भारवि से लिये गये हैं। पहिले लिखा गया कि माघकाव्य का आदर्श ग्रन्थ 'किरात' है। उसी भाँति माघ की कितनी ही उक्तियों में भारवि की कुछ छाया दिखाई पड़ती है। भाव-समता की कौन

१९

कहे, कभी कभी शब्दसमता भी मिलती है। हम दो एक उदाहरणों से उक्त समालोचना को पुष्ट करना चाहते हैं। माघ का पद्य है:—

विगतशस्यजिघत्समघट्टयत्कलमगोपवधूर्न मृगव्रजम्।
श्रुततदीरितकोमलगीतकध्वनिमिषेऽनिमिषेक्षणमग्रतः॥ ६।४६

धान की रखवालिन गोपियां गा रही हैं। उनके कोमल गीत के स्वरों को मृगों का समूह कान देकर सुन रहा है। उनके नेत्र चंचल नहीं हैं, वे गान सुनने में इतने अनुरक्त हैं कि उन्होंने घास का खाना भी छोड़ दिया है। वे चित्र-लिखित से हैं। गोपिकाय ऐसे मृगसमूह को मारकर नहीं हटा रही हैं। यह पद्य भारवि के अधोलिखित पद्य का अनुवाद मात्र है। भावों को कौन कहे, कई शब्द भी भारवि से लिये गये हैं। भारवि का पद्य यह है:—

कृतावधानं जितबर्हिणध्वनौ
सुरक्तगोपीजनगीतनिस्वने।
इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं
न शस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम्॥ ४।३३

कालिदास के पद्यों की झलक भी स्थान-स्थान पर दीख पड़ती है। माघ की कविता में दोष होते हुए भी, गुणों की भरमार है। ओजोगुणमयी कविता की रुचिरता इसमें दृष्टिगोचर होती है। परवर्ती अनेक कवियों ने माघ को अपना आदर्श माना है। रत्नाकर का 'हर-विजय' माघ की शैली का सर्वोत्कृष्ट विकाश है। प्राचीन आलोचक माघकाव्य के गुणों पर मुग्ध हो गये थे। उनकी आलो-

उपसंहार

चना को दिखाकर निबन्ध समाप्त किया जाता है। राजशेखर ने क्या ही सुन्दर कहा है—

कृत्स्नप्रबोधकृद् वाणी, भारवेरिव भारवेः।
माघेनेव च माघेन, कम्पः कस्य न जायते॥

रवि के किरणों के समान भारवि की कविता सबको जगाने वाली है—समग्र ज्ञान को पैदा करने वाली है तथा माघ मास के समान माघ का नाम सुनकर किस कवि को कँपकँपी नहीं बँध जाती?

कवि धनपाल भी 'तिलकमञ्जरी' में राजशेखर का समर्थन कर रहे हैं:—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा॥

अत्युक्ति की मात्रा छोड़ देने पर यह आलोचना अधिकांश में सच्ची है।



१५—कुमारदास

कविवर कुमारदास के 'जानकीहरण' पर दैव की बड़ी क्रूर दृष्टि रही है। तभी तो इतना सुन्दर होने पर भी यह ग्रन्थ प्रायः नष्ट ही हो गया था। सिंघाली भाषा में किसी समय में इसका अक्षरशः अनुवाद किया गया था, जिसकी सहायता से मूल संस्कृत ग्रन्थ का उद्धार सिंघल के एक विद्वान् भिक्षु ने किया। तदनन्तर दक्षिण भारत में समग्र मूलग्रन्थ की भी उपलब्धि हुई। परन्तु प्राचीनकाल में इनकी कविता लोकप्रिय थी। सुभाषितग्रन्थों में इनकी मधुर कविता के नमूने मिलते हैं। इनकी सूक्तियाँ 'भट्टकुमार' 'कुमार' 'कुमारदास' आदि के नाम से दी गई मिलती हैं। उज्ज्वलदत्त ने उणादिसूत्रों की टीका करते समय 'धूसर' शब्द के प्रयोग के लिए जानकी-हरण के एक पद्यांश को उद्धृत किया है—

प्रसिद्धि

धूसर ईषत्पाण्डुरः। महिषधूसरितः सरितस्तटः इति जानकीहरणे यमकम्।

कवि-कुलशेखर **राजशेखर** ने जानकी-हरण के कर्ता कुमारदास को प्रशस्त प्रशंसा की है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ॥

इसका तात्पर्य यह है कि रघुवंश (काव्य तथा सूर्यवंश) के

होते यदि किसी की सामर्थ्य जानकीहरण (काव्यग्रन्थ तथा सीता का हरण) करने की है, तो केवल कुमारदास तथा रावण को। प्रतापी रघुवंश के रहते रावण के सिवा जनक-तनया के हरण करने की योग्यता किस व्यक्ति में थी ? उसी प्रकार कालिदास के मनोहर रघुवंश काव्य के रहते उसी विषय पर कुमारदास के अतिरिक्त कौन कवि अपनी लेखनी चला सकता था ? इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में जानकीहरण को पण्डित-समाज में प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त थी।

सिंहल की **पूजावली** से ज्ञात होता है कि राजा मोग्गलायन (मौद्गलायन) कुमारदास सिंहल में नव वर्षों तक राज्य करके कालिदास की चिता पर आत्मघात कर मर गया।

जीवन-चरित

सिंहलराज्य के पाली इतिहास '**महावंश**' में इन्हें मौद्गलायन न कहकर मौर्य लिखा हुआ है। महावंश के अनुसार कुमारदास की मृत्यु ५२४ ई० में हुई। कवि कुमारदास तथा सिंहलराज कुमारदास दोनों एक ही व्यक्ति माने गये हैं।

कहा जाता है कि जानकीहरण की कालिदास ने खूब प्रशंसा की, जिसे सुनकर कुमारदास ने कालिदास को सिंहल में बुलाया। कालिदास राजा के आग्रह करने पर लंका गये और वहाँ किसी सुन्दरी के यहाँ इनका आना जाना प्रारम्भ हुआ। दुर्भाग्यवश कलिदास पकड़े गये और मार डाले गये। मित्रकी मृत्यु के कारण प्रेम से विह्वल होकर कुमारदास ने कालिदास की चिता पर आत्मघात कर डाला।

लोग कहते हैं कि लंका के दक्षिण प्रान्त में कालिदास का समाधि-स्थान है। समाधिस्थान के पड़ोस के भिक्षु कहा करते हैं कि कुमार-दास ने अपने मित्र के प्रसन्नार्थ उनकी ही भाषा में एक पहेली पूछी जिसे कालिदास ने बूझ लिया और उसका उत्तर अपनी मातृ-भाषा में दिया। कुमारदास ने और कालिदास की समसामयिकता सिंहल की पुस्तकों पर ही निर्धारित है। राजशेखर के उपर्युक्त श्लोक से तो इतना ही ज्ञात होता है कि कुमारदास कालिदास के अनन्तर हुये—परन्तु कितने बाद ? यह बिल्कुल ही अज्ञात है।

काव्यमीमांसा में राजशेखर ने अनेक दन्तकथाओं का उल्लेख किया है जो साहित्य की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। एक दन्तकथा यह है कि कुमारदास जन्मान्ध थे।

नन्दरगीकर महाशय ने कुमारदास को सिंहल के राजा कुमार-धातुसेन से (यही नाम महावंश में मिलता है) सर्वथा भिन्न माना है। पूजावली और पेरुकुम्वासिरित (जो क्रमशः १३वीं और १६वीं शताब्दि के बने हुये हैं) प्राचीन इतिहास के विषय में, राजा और कविवर की अभिन्नता सिद्ध करने में, प्रमाण नहीं माने जा सकते। महावंश के सुयोग्य कर्ता विद्वान् महानाम राजा कुमार-धातुसेन को जानकीहरण महाकाव्य का कर्ता अवश्य लिखता यदि वह राजा कुमारदास ही होता। कुमार धातुसेन की दूसरी प्रशंसाओं का होना और महाकाव्य का उल्लेख न होना सिद्ध कर रहा है कि दोनों व्यक्ति भिन्न थे। महावंश के समान प्राचीन किसी सिंघली ग्रन्थ से दोनों की एकता सिद्ध नहीं होती।

यदि कुमारदास छठी सदी में उत्पन्न हुये होते, तो सातवीं सदी के चीनी यात्रियों ने अवश्य ही ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न बौद्ध कवि का उल्लेख किया होता; परन्तु हुएन्त्सांग, इत्सिंग आदि किसी यात्री ने भी कहीं इनका नामोल्लेख नहीं किया है, जिससे सातवीं सदी के बाद के ये सिद्ध होते हैं। उज्ज्वलदत्त को उणादिसूत्रवृत्ति में तथा भिन्न भिन्न सूक्ति-संग्रहों में कुमारदास के नाम से पद्य उद्‌धृत किये हैं। वे सब ग्रन्थ १०वीं और १५ वीं सदी के बीच के हैं।

समय

सिंघलराज के साथ विभिन्नता मानने से कालिदास की मैत्री कीघटना बिल्कुल गलत सिद्ध हो जायगी। कालिदास का सब से पीछे का काल ४७२ ईस्वी है, जब कुमारगुप्त के शासन काल में वत्सभट्टि ने कालिदास के ऋतुसंहार, कुमारसंभव और रघुवंश के पद्यों की नकल मन्दसोर के शिलालेख में की है। इस प्रकार कुमारदास और कालिदास का अन्तर अस्सी वर्ष के लगभग पड़ता है जिससे मैत्री सम्बन्धी घटना असत्य प्रतीत होती है।

अतः कुमारदास छठी सदी के सिद्ध नहीं होते, वरन् नन्दरगीकर महाशय की सम्मति में आठवीं सदी के अन्तिम चतुर्थांश और नवीं के पूर्वार्द्ध के बीच किसी समय में इनका जन्म हुआ था। इस समय-निर्धारण का मुख्य कारण यह है कि जानकीहरण में कुछ नये शब्द उन्हीं विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त पाये जाते हैं जिन्हें काशिका नामक पाणिनीय अष्टाध्यायी की टीका ने उल्लिखित किया है। सत्यापयति, उप्त्रिम, आसुतीवल आदि ऐसे ही शब्द हैं।

काशिका के सम्मिलित लेखक जयादित्य जिसने प्रथम पांच अध्यायों पर टीका की और वामन जिसने अन्तिम तीन अध्यायों पर टीका पूरी की सातवीं सदी के मध्यकाल में ६३०-५० ई० के आसपास प्रसिद्ध हुये। अतः कुमारदास सातवी सदी के प्रायः सौ वर्ष बाद हुये क्योंकि सुदूर काश्मीर में लिखे गये नये व्याख्यान को भारत से दूर दक्षिण सिंघल में प्रसिद्ध होने में एक शताब्दी से कम समय न लगा होगा।

माघ की शैली के अनुकरण करने से भी उक्त काल की पुष्टि होती है। भारवि तथा माघ को तन् (विस्तार) धातु बड़ा प्यारा था। इस धातु के भिन्न भिन्न लकारों के रूपों को भारवि ने लगभग साठ बार प्रयुक्त किया है तथा माघ ने पचास बार। इनके अनुकरण से कुमारदास ने अस्सी बार से भी अधिक इनका प्रयोग कर डाला है। जानकीहरण माघ की रीति का अनुकरण करके लिखा हुआ प्रतीत होता है। इन सब के आधार पर विद्वानों ने कुमारदास को ७७५ ई०—८५० ई० के बीच का होना माना है।

कुमारदास कविवर माघ के समकालीन भले सिद्ध हो जाँय परन्तु जानकीहरण माघ-काव्य का अनुकरण कदापि नहीं है।

कविता

शिशुपालवध के समान चित्र-काव्य और यमकालंकार की छटा इसमें देखने को भी नहीं मिलती। भवभूति के समान दीर्घ समासों की भी भरमार नहीं है। गौड़ी रीति के विकटाक्षर बन्ध से यह काव्य

सर्वथा उन्मुक्त है। काव्य में सुकुमारता तथा प्रसाद गुण से युक्त कविता भरी पड़ी है परन्तु ओज गुण का विस्तार नहीं। इन सब बातों को नन्दरगीकर महाशय भी स्वीकार करते हैं, परन्तु तो भी, न मालूम क्यों, आप कुमारदास को माघ का समकालीन होना मानते हैं। यदि माघ काव्य का सच्चा अनुकरण कोई कहा जा सकता है तो वह काश्मीरके कवि रत्नाकर का हर-विजय महा-काव्य ही है जिसमें चित्र काव्य की छटा और ओजगुण की विशेषता देखते २ चित्त थक जाता है, सहृदय पाठक आगे पढ़ने से रुक जाते हैं। परन्तु जानकी हरण में ये बातें नहीं पाई जातीं। सच तो यह है कि कुमारदास ने कालिदास के महाकाव्यों के नमूने पर अपना प्रसिद्ध काव्य लिखा है। हाँ, श्लेषों का प्रयोग जानकीहरण में पाया जाता है परन्तु कालिदास की कविता में नहीं जिससे कुमारदास कालिदास के पीछे के मालूम पड़ते हैं। वर्णनों में कालिदास की स्वाभाविकता की जगह कृत्रिमता झलकती है। उपमा, अर्थान्तरन्यास, रूपक वगैरह अर्थालंकारों का समुचित निवेश देखने में आता है। अनुप्रास कवि का प्यारा अलङ्कार मालूम पड़ता है। महाकाव्यों की रीति से युद्ध, महल, ऋतु वगैरह का वर्णन जगह २ पर बड़े विस्तार से किया गया है। वास्तव में जानकीहरण की कविता कालिदास के प्रसादगुण-विशिष्ट कविता के समान है। इसमें थोड़ा ओजगुण भी है जो कालिदास में नहीं पाया जाता।

जानकी-हरण कुमारदास की एक मात्र रचना है। यह महा

काव्य है। इसमें २० सर्ग हैं। यह रामायणीय कथा को लेकर लिखा गया है। पहले सर्ग में अयोध्या, राजा दशरथ तथा उनकी महारानियों का वर्णन है।

ग्रन्थ

दूसरे सर्ग में बृहस्पति ब्रह्मा से सहायता माँगते समय रावण के चरित का वर्णन करते हैं। तीसरे सर्ग में राजा दशरथ की जलकेलि तथा सन्ध्या का काव्यमय रमणीय वर्णन है। चतुर्थ तथा पञ्चम सर्गों में दशरथ के महल में चार पुत्र पैदा होते हैं और इस रामजन्म से लेकर ताड़का तथा सुबाहु वध तक की कथायें हैं। षष्ठ सर्ग में राम-लक्ष्मण को साथ लिए विश्वामित्र जी जनकपुर पधारते हैं और जनक से उनकी भेंट होती है। सप्तम में राम और सीता का प्रेम तथा विवाह है। अष्टम में उनके विवाहजन्य आनन्द की बातें हैं। नवम में सब भाई अयोध्या लौटते हैं। दशम सर्ग में दशरथ राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय एक लम्बी वक्तृता देते हैं। रामचन्द्र का यौवराज्याभिषेक सर्वसम्मति से किया जाता है। बहुत सी घटनाएँ घटती हैं। सर्ग की समाप्ति के पहले ही जानकी का हरण हो जाता है। एकादश सर्ग में राम तथा हनुमान की मित्रता का वर्णन है। वालिवध के अनन्तर वर्षा ऋतु का अत्यन्त मनोहर वर्णन मिलता है। द्वादश सर्ग में शरद्काल में सुग्रीव के अन्वेषण कार्य में न लगने पर लक्ष्मण जी उसको झिड़कियाँ सुनाते हैं। सुग्रीव रामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिये उनके पास आता है तथा पर्वत का वर्णन करता है। त्रयोदश में वानरी सेना

एकत्र की जाती हैं। चतुर्दश में वानर लोग समुद्र के ऊपर सेतु बनाते हैं। कवि यहाँ पर सेना के पार जाने का चमत्कारी वर्णन करता है। पन्द्रहवें सर्ग में अंगद जी रावण की सभा में राम के दूत बनकर जाते हैं। सोलहवें में राक्षसों की कमनीय केलियों का वर्णन है। सत्रहवें से लेकर बीसवें सर्ग तक संग्राम का वर्णन है। अन्त में रामचंद्र रावण पर विजय प्राप्त करते हैं। राम-विजय के साथ यह महाकाव्य समाप्त होता है।

राजा दशरथ शिकार खेलने गये। शब्दवेधी बाण मारने में वे बड़े दक्ष थे। मुनिकुमार श्रवण, जो अपने अन्धे माता-पिता के हाथ की लकड़ी था, जल लेने के लिये नदी तट आया। घड़े के डूबने की आवाज़ सुनकर राजा ने हाथी का गर्जन समझ बाण मार दिया। बाण लड़के के हृदय में घुस गया। राजा उसके पास गये। उस बालक ने राजा से अपने वध का कारण पूछा। इसी विषय को कुमारदास ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में करुणाजनक वर्णन किया है। इसी प्रसंग के कतिपय पद्य उद्धृत किये जाते हैं।

एकं त्वया साधयतापि लक्ष्यं नीतं विनाशं त्रितयं निरागः।
मच्चक्षुषा कल्पितदृष्टिकृत्यौ वृद्धौ वने मे पितरावहं च। १। ७७

हे राजन्! तुमने एकही लक्ष्य पर बाण छोड़ा परन्तु निरपराधी तीन मनुष्यों का नाश कर डाला। मेरे ही आँखों से दृष्टि का काम लेने वाले मेरे बूढ़े माता पिता और मैं—ये तीनों एक ही बाण से मारे गये। मेरे मरने से मेरे माँ-बाप जीते नहीं रहेंगे।

वनेषु वासो मृगयूथमध्ये क्रिया च वृद्धान्धजनस्य पोषः।
वृत्तिश्च वन्यं फलमेषु दोषः संभावितः को मयि घातहेतुः॥

जंगलों में हरिन के झुंडों के बीच मेरा निवास है; वृद्ध अन्धे जनों का पालना मेरा काम है, जंगली फल मेरी जीविका है—इनमें से किसे आप मेरे मारने का कारण समझते हैं ?

व्रती विनाथो विगतापराधः स्मर्तव्यदृष्टेः पितुरन्धयष्टिः।
इत्येषु किं निष्करुणेन कश्चिद्वध्यभावे गणितो न हेतुः॥

मैं तपस्या करने वाला हूँ, स्वामी रहित हूँ, अन्धे की लकड़ी हूँ—निर्दय होकर तुमने इसमें से किसी को मुझे न मारने के लिये यथेष्ट कारण नहीं समझा। मेरी तपस्या ही का विचार करने से मुझे मारना अनुचित है तिस पर मैं ठहरा बिना किसी अपराध का, तिस पर अन्धे की लकड़ी। क्या मेरा वध कभी उचित है ?

तरुत्वचोऽयं कठिना वसानो वनेषु शीतोष्णनिपीतसारः।
अस्वादुवन्याशनजीर्णशक्तिः पात्रं कृपायास्तव वध्यभूतः॥

तुमने मुझे मारा है, परन्तु मैं तुम्हारी दया का भाजन हूँ। जंगल में कठिन पेड़ों की छाल पहनता हूँ, सर्दी तथा गर्मी सदा सहता हूँ, रूखे सूखे फलों को खाने से बिल्कुल निर्बल हूँ—क्या ऐसे मनुष्य पर दया नहीं की जाती ?

जीर्णो जतुन्यासनिरुद्धरन्ध्रः कुम्भश्च मौञ्जी तरुवल्कलश्च।
एतेषु यन्मां विनिहत्य गम्यं तद् गृह्यतामस्तु भवान् कृतार्थः॥

मेरे पास है ही क्या ? जो मुझे मार कर पावोगे। पुराना घड़ा है जिसके छेद लाह से बन्द किये गये हैं; कटिमें मौञ्जी है तथा शरीर

पर पेड़ की छाल है; मुझे मारकर इनमें जो चाहो लेकर कृतार्थ हो !

साधुः कृपामन्थरमक्षि शत्रौ प्रीत्यर्थसंमीलितमादधाति ।
नीचस्तु निष्कारणवैरशीलस्तत्पूर्वसंपादितदर्शनेऽपि ॥

सज्जनों का स्वभाव है कि अपने शत्रु के लिये भी उनको आँखों में दया होती है, उसे सुख के लिए बन्द कर लेते हैं परन्तु दुर्जन अपने पूर्व परिचित उपकारी के ऊपर भी बिना किसी कारण के वैर करने वाला होता है। अतः तुमने मेरे साथ दुर्जन का व्यवहार क्यों किया ?

मैवं भवानेनमदुष्टभावं जुगुप्सतां स्मात्तसाधुवृत्तम् ।
इतीव वाचो निगृहीतकण्ठैः प्राणैररुध्यन्त महर्षिसूनोः ॥

पवित्र भाववाले, साधु आचरण करने वाले, राजाकी इस प्रकार निन्दा मत करो। मानों इसी अभिप्राय से कण्ठ को पकड़ कर प्राणों ने वचनों को रोक दिया। अर्थात् मुनि कुमार के प्राण-पखेरु उड़ गये।

कालिदास ने भी इस विषय का वर्णन रघुवंश के नवम सर्ग के अन्त में किया है। उत्सुक पाठक दोनों की तुलना करके पढ़े। कालिदास के पद पद में प्रसाद गुण है, कुमारदास ने भी उसका सन्निवेश किया है। वास्तव में 'जानकीहरण' साहित्य का एक अनूठा रत्न है।

१६—भवभूति

कौन ऐसा संस्कृतज्ञ होगा जो महाकवि भवभूति के नाम से परिचित न हो। संस्कृत के नाटककारों में यदि कोई कविवर कालिदास की समता पा सकता है तो वह केवल भवभूति ही है। 'तिलकमंजरी' के रचयिता धनपाल ने भवभूति की सरस्वती की नट-स्त्री से तुलना की है*। वास्तव में भवभूति संस्कृत-नाटक-साहित्य में एक अद्भुत व्यक्ति हैं। मानव हृदय के सूक्ष्म विकारों का पता जैसा भवभूति को था, उतना बिरले ही कवियों को होता है। कविवर के तीन नाटक महाबीरचरित, मालतीमाधव तथा उत्तमरामचरित—उनकी विशाल नाट्यकला के ज्वलन्त उदाहरण हैं। परन्तु इससे अनुमान निकालना ठीक नहीं कि भवभूति संस्कृत साहित्य के अन्य विभागों से अनभिज्ञ थे। मालतीमाधव की प्रस्तावना में स्पष्ट ही लिखा है कि वेद, उपनिषद्, सांख्य तथा योग के सिद्धान्त सिद्धान्त प्रकरण में देखने को मिलेंगे। उत्तमराम-चरित से भी इनकी प्रचण्ड दार्शनिकता का पता लगता है।

जीवनवृत्त

यह तो प्रसिद्ध ही है कि संस्कृत के कवियों ने अपने विषय में बहुत ही कम लिखा है। हमारे सौभाग्य से भवभूति ने अपने नाटकों

---

* स्पष्टभावरसाचित्रैः पदन्यासैः प्रवर्तिता
  नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना।—धनपाल

की, विशेषतः महावीरचरित की, प्रस्तावना में अपना यत्किञ्चित् परिचय प्रदान किया है। उससे जान पड़ता है कि भवभूति विदर्भ देश (आजकल बरार) के पद्मपुर के रहने वाले थे। ये काश्यप गोत्री थे तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के मानने वाले थे। भवभूति के पिता नाम **नीलकण्ठ**, माता का **जतुकर्णी**, पितामह का **भट्टगोपाल** था। भवभूति के पूर्वज अपने सदाचार तथा वेदाध्ययन के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। वे पंक्तिपावन थे तथा पाँच अग्नियों की स्थापना करने वाले थे। उन्होंने सोमयज्ञ भी किये थे। वे श्रौत के भारी वेत्ता थे। इनके कुल में काव्यकला की भी पूजा कुछ कम न थी, क्योंकि इनके पाँचवे पूर्वज कोई 'महाकवि' थे। इनके गुरु का नाम '**ज्ञाननिधि**' था। डाक्टर भांडारकार का कहना है कि भवभूति के जन्मस्थान के आसपास इस समय भी कुछ कृष्णयजुर्वेदी तैत्तिरीय शाखाध्यायी महाराष्ट्र ब्राह्मणों के कुल विद्यमान हैं। कवि ने अपने को 'भट्ट श्रीकण्ठपदलाञ्छनो भवभूतिर्नाम' लिखा है। अतः कुछ टीकाकारों का अनुमान है कि इनका असली नाम 'श्रीकण्ठ' था परन्तु—

'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः'

अथवा

तपस्वी कां गतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव।
गिरिजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ॥

पद्य के जिनमें 'भवभूति' शब्द आया है, लिखने के कारण,

इनका प्रसिद्ध नाम भवभूति पड़ा। यह पण्डितों में परम्परागत प्रसिद्धि है।

ऊपर इनके 'ज्ञाननिधि' नामक गुरु का उल्लेख किया गया है। परन्तु अब सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि भवभूति प्रख्यात मीमांसक **कुमारिल भट्ट** के शिष्य थे। श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित को मालती-माधव की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली थी जिसके तृतीय अंक के अन्त में वह प्रकरण कुमारिल शिष्य के द्वारा विरचित बतलाया गया तथा षष्ठ अंक के अन्त में कुमारिल के प्रसाद से वाग्वैभव को प्राप्त करने वाले उम्बेकाचार्य की कृति कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि भवभूति का ही एक नाम 'उम्बेक' था[1]। उम्बेक मीमांसाशास्त्र के बड़े भारी आचार्य थे। इनके मत तथा ग्रन्थ का उल्लेख कितने ही प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में पाया जाता है।

उम्बेक

'प्रत्यग्रूप भगवान्' अथवा प्रत्यक्स्वरूप भगवान् नामक ग्रंथकार ने चित्सुखाचार्य्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' की नयन-प्रसादिनी नामक टीका में 'उम्बेक' का नाम कई स्थानों में लिया है। चित्सुखी में एक स्थल पर 'अविनाभाव' (व्याप्ति) के लक्षण का खण्डन किया गया है। प्रत्यग्रूप भगवान् ने चित्सुखी के इस स्थल पर टीका लिखते समय

---

[1] बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य का 'भवभूति के विषय में नई खोज' शीर्षक लेख। 'प्रभा' १९२३। पण्डित बटुकनाथ

उम्बेक की टीका का उल्लेख किया है[१], जिसे उम्बेक ने कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक (पृ० ३४८) की 'सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना' पंक्ति पर की है[२]। 'उक्तं चैतदुम्बेकेन' आदि चित्सुखी के मूल[३] की व्याख्या लिखते समय टीकाकार ने 'उम्बेक' को महाकवि 'भवभूति' बतलाया है[४]। इन उद्धरणों से स्पष्ट सूचित होता है कि भवभूतिने कुमारिल के श्लोकवार्तिक

शर्म्मा एम० ए० साहित्याचार्य का 'मण्डन एण्ड भवभूति', माडर्न रिव्यू १९२४ (मई)

१ प्रत्यग्रूप भगवान् अपने समय के एक अच्छे विद्वान् समझे जाते थे। 'प्रत्यक् प्रकाश' नामक कोई सन्यासी इनके पूज्य गुरुदेव थे। इन्होंने 'नयन-प्रसादिनी' में अनेक स्थलों पर 'महाविद्या-विडम्बन' के कर्त्ता वादीन्द्र के नाम तथा मत का उल्लेख किया है। वादीन्द्र सिंघण नाम के राजा के धर्माध्यक्ष थे। अतएव उनका समय १२२५ ई० के लगभग आता है। (देखो महाविद्याविडम्बन की भूमिका पृ० १४, गायकवाड् ओरियण्टल सीरीज़ नं० १२) प्रत्यग्रूप भगवान्-रचित इण्डिया आफिस में सुरक्षित हस्त-लिखित पुस्तकों की १४९० ई० में कापी की गई थी। अतः प्रत्यग्रूप भगवान् का समय १३००-१४०० ई० के बीच में होगा।

२ उम्बेकस्तु 'सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिंगिना' इत्यत्र लिंग-धर्मस्येति दर्शनात् व्याप्यैकधर्मो व्यापकनिरूप्यो व्याप्तिः, न पुनरुभय-निष्ठा इत्यब्रवीत्। चित्सुखी टीका पृ० २३५, निर्णय सागर का संस्करण।

३ उक्तं चैतदुम्बेकेन 'यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननु-भूतार्थविषयं प्रयोक्तव्यं यथाङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते तत्रार्थव्यभिचारः स्फुटः'। चित्सुखी पृ० २६५।

४ चित्सुखी (मूल) पृ० २६५ (निर्णय सागर प्रेस संस्करण)

पर टीका लिखी थी तथा वे उम्बेक नाम से प्रसिद्ध थे।

श्रीहर्ष [बारहवीं शताब्दी के अन्तिमभाग] के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' की 'विद्यासागरी' नामक टीका के रचयिता '**आनन्दपूर्ण**' ने भी 'असती सा न विशेषिका' आदि मूल ग्रन्थ की व्याख्या लिखते समय श्लोकवार्तिक से दो श्लोकों को उद्धृत किया है। टीकाकार ने यह भी सूचना दी है कि 'उवेक' ने इन श्लोकों की टीका लिखी है तथा आवश्यक अंश को उद्धृत भी किया है।[1]

बोधघनाचार्य ने अपनी पुस्तक 'तत्त्वशुद्धि' के 'भेदाभेद-निराकरण प्रकरण' में निम्नलिखित टिप्पणी की है जिससे उम्बेक के एक प्रबल पक्ष वाले पण्डित होने की बात सिद्ध होती है। बोधघन की टिप्पणी यह है।—'अयं तु क्षपणकपक्षादपि पापीयानुम्बेक-पक्ष इत्युपेक्ष्यते' अर्थात् उम्बेक का मत जैनों के मत से भी बुरा है। अतएव उसकी उपेक्षा की गई है।

---

१ असतीति तदुक्तम् :—

संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्वयम्
सत्या चेत्संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम्।
सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः
विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः।

(श्लो० वा० पृ० २१८)

तदिदं श्लोकद्वयमुवेकेन व्याख्यातं—'नहि संवृतिपरमार्थयोः सत्यत्वं नाम सामान्यं एकत्र विरोधात् अन्यत्र पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। खण्डन० पृ० ४५ (चौ०)

हरिभद्र सूरि का 'षड्दर्शनसमुच्चय' नामक ग्रन्थ संस्कृत जानने वालों के लिये बड़े काम की चीज़ है, क्योंकि इस छोटे ग्रन्थ में षड्दर्शनों के सिद्धान्त 'कारिका' के रूप में सरलता से समझाये गये हैं। इस ग्रन्थ की टीका **गुणरत्न** नामक जैन लेखक (१४०९ ई०) ने की है। उसने मीमांसा शास्त्र के अनेक मतों का उल्लेख कर नीचे का श्लोक दिया है:—

ओ (ऊ ?) म्बेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः॥

ओम्बेक 'कारिका' का अच्छा वेत्ता है। प्रभाकर तन्त्र को जानता है। वामन दोनों का विशेषज्ञ है और रेवण कुछ भी नहीं जानता। इस श्लोक की 'कारिका' से कुमारिल के श्लोकवार्तिक का अभिप्राय समझना चाहिये, क्योंकि प्रत्यग्रूप भगवान् और आनन्दपूर्ण की माननीय सम्मति में उम्बेक ने श्लोकवार्तिक की व्याख्या लिखी थी। अतएव उस व्याख्या की प्रौढ़ता तथा सारगर्भिता के कारण गुणरत्न ने उम्बेक को 'कारिका'—श्लोकवार्तिक—का अच्छा जानने वाला बतलाया है।

पूर्वोक्त उद्धरणों को सम्मिलित करने से वही सिद्धान्त समुचित जान पड़ता है कि महाकवि भवभूति का दूसरा नाम 'उम्बेक'[1] था;

---

१ यह नाम प्रत्येक ग्रन्थ में कुछ भिन्न ही मिलता है। प्रत्यग्रूप भगवान् ने इसे 'उम्बक' तथा 'उम्बेक' दोनों लिखा है। 'बोधघन' ने उम्बेक, आनन्दपूर्ण ने 'उवैक' तथा गुणरत्न ने 'ओम्बक' लिखा है। मालतीमाधव की प्रति में 'उम्बेक' मिलता है। इन सबसे 'उम्बेक' शब्द की ही सत्यता

ये कुमारिलभट्ट के शिष्य थे, और अपने पूज्य गुरु के 'श्लोकवार्तिक' के ऊपर उन्होंने व्याख्या भी लिखी थी।

संस्कृत साहित्य के लिये यह बात बड़े महत्त्व की है। अब तक भवभूति की प्रशंसा एक नाटककार की दृष्टि से ही की जाती थी; परन्तु अब हमें मीमांसक की दृष्टि से भी भवभूति का अध्ययन करना चाहिये। पूर्वोक्त निर्देशों से भवभूति की श्लोकवार्तिक की टीका नितान्त लोकप्रिय जान पड़ती है, परन्तु आजकल उनका नाम भी सुनने में नहीं आता। सम्भवतः पार्थसारथिमिश्र आदि की टीकाओं के प्रचार होने पर उम्बेक की टीका अनादृत होते होते आज एक दम लुप्त हो गयी। भवभूति के मीमांसक होने की बात सर्वथा सच है। मण्डन मिश्र के 'भावनाविवेक' पर भी उम्बेक ने टीका लिखी थी। यह टीका काशी से 'सरस्वती-भवन सीरिज' में निकली है।

शंकरदिग्विजय के सप्तमसर्ग में मण्डन मिश्र का हाल दिया हुआ है। उसमें लिखा है कि मण्डन का नाम 'विश्वरूप' भी था तथा साधारणतया वे 'उम्बेक' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। शंकराचार्य से दीक्षा लेने पर मण्डन मिश्र ही सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

विश्वरूप

इस वर्णन के आधार पर मण्डन, विश्वरूप, उम्बेक तथा सुरेश्वर एकही व्यक्ति माने जाते हैं। परन्तु इधर विद्वानों को इनके दार्शनिक

सिद्ध होती है। लेखक के प्रमाद से अन्य अन्य रूपों की उत्पत्ति सहज में समझी जा सकती है।

सिद्धान्तों में भेद के कारण मण्डन और सुरेश्वर की एकता में सन्देह होने लगा है। वे इन दोनों को भिन्न भिन्न व्यक्ति बतलाते हैं[१]। **विश्वरूपाचार्य** ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर **बालक्रीडा** नामक टीका लिखी है। इस टीका के ऊपर भी कालान्तरमें अनेक टीकाग्रन्थ रचे गये। इनमें सबसे प्राचीन टीका किसी **यतीश्वर वेदात्मन्** नामक विद्वान् की लिखी **'विभावना'** है। इस विभावना के आरम्भ में यह महत्त्वपूर्ण पद्य उपलब्ध हुआ है—

यत्प्रसादादयं लोको धर्ममार्गस्थितः सुखी।
भवभूतिसुरेशाख्यं विश्वरूपं प्रणम्य तम्।

इससे पता लगता है कि हमारे कविवर भवभूति का ही नाम विश्वरूप तथा सुरेश्वर था। एक आलोचक ने विश्वरूप तथा भवभूति की एकता सिद्ध करने के लिए बालक्रीडा तथा उत्तर-रामचरित में अनेक कथनों की समानता दिखलाई है[२]। विश्वरूप और भवभूति की एकता के विषय में विद्वानों ने अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया है, परन्तु यह तो प्रायः माना जाने लगा है कि जिस प्रतिभाशाली विद्वान् ने नाटकों में अपना नाम 'भवभूति' रखा; उसीने मीमांसा-शास्त्र के ग्रन्थों में अपना 'उम्बेक' नाम दिया तथा उसीने कालान्तर में भगवान् शंकरा-

---

1. J. R. A. S. 1923. pp. 659-663.

2. Indian Historical Quaterly, Vol VII (1931) No. 2 pp. 305—308.

चार्य के द्वारा अद्वैत-मत में दीक्षित होनेपर 'सुरेश्वराचार्य' के नाम से प्रख्याति प्राप्त की।

भवभूति के जीवन की घटनायें अज्ञानान्धकार में छिपी हैं। उनके ग्रन्थों की आलोचना से जान पड़ता है कि तत्कालीन विद्वान् इन्हें आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। पहले किसी राजा का भी आश्रय इन्हें नहीं मिला था, क्योंकि प्रायः इनके नाटकों का अभिनय राज-सभा में न होकर उज्जयिनी में महाकाल की यात्रा के समय एकत्रित जनता के सामने ही हुआ था। परन्तु जीवन के अन्तिम काल में कान्यकुब्ज के विद्वान् राजा **यशोवर्मा** के आश्रय में हमलोग भवभूति को पाते हैं। सम्भवतः भवभूति को अपनी अलौकिक नाट्यकला के कारण विद्वत्प्रेमी यशोवर्मा का आश्रय मिल सका। जीवन के आरम्भ में तत्कालीन साहित्य सेवियों के द्वारा निरादृत होने की सम्भावना इनके कतिपय गर्वोक्तियों से अनुमित होती है। मालती-माधव की प्रस्तावना में भवभूति ने इन्हीं दुरालोचकों को लक्ष्य करके यह हृदयोद्गार निकाला है:—

> ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
> जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः
> उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
> कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥

भावार्थ है कि जो कोई मेरी अवज्ञा किया करते हैं, उन मूर्खों के लिये यह मेरा यत्न नहीं है। समय का अन्त नहीं और पृथ्वी भी बड़ी लम्बी चौड़ी है। इसमें जो कोई मेरा स्पर्धी इस समय है

या आगे पैदा होगा उसके लिये मेरा नाटक-रचना-रूप यत्न समझना चाहिये।

भवभूति वेद तथा दर्शनों के अगाध पण्डित थे[१]। भगवती श्रुति के रहस्यों का उन्होंने खूब पता लगाया था। उनके नाटकों में उनके वैदिक-ज्ञान-गरिमा की सूचना अनेक स्थलों पर पाई जाती है। उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक में 'नामांसो मधुपर्को भवति' की सूचना मिलती है। महावीर-चरित में सूर्यवंश के कुल-पुरोहित वशिष्ठजी का वर्णन करते समय भवभूति ने ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम (४० वाँ) अध्याय में उल्लिखित पुरोहित-प्रशंसा के 'राष्ट्रगोपः पुरोहितः' वाले कई पद्यों को ज्यों का त्यों अपने नाटकमें रखा है। उपनिषद्-तत्त्व के वे परमवेत्ता थे। उत्तररामचरित में उन्होंने जनक के मुखसे 'असुर्या नाम ते लोकाः' आदि प्रसिद्ध ईशावास्य श्रुति की व्याख्या कराई है। 'विद्याकल्पेन मरुताम्' (उत्तर ६।६) श्लोक के द्वारा भवभूति ने अपने औपनिषद् अद्वैतवाद का क्या ही संक्षेप में सुन्दर तात्त्विक वर्णन किया है। योगशास्त्र का प्रकृष्ट ज्ञान हमें मालती-माधव के पञ्चम अंक में मिलता है। 'समधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा' में भवभूति ने अपने योग तथा तन्त्र के ज्ञान का अनुपम मेल दिखलाया है। स्थान स्थान पर भवभूति की भाषा में दर्शन शास्त्र के पारिभाषिक शब्द इस सरलता

भवभूति का पाण्डित्य

१ यद् वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च।
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके॥

से अनायास आते हैं कि जान पड़ता है कि नाटककार सदा इन दर्शनों के चिन्तन में संलग्न रहा है। सचमुच महाकवि भवभूति संस्कृत साहित्य के एक अद्वितीय कवि हैं—इन्हें छोड़कर 'पाण्डित्य' और 'वैदग्ध्य' का अनुपम तथा श्लाघनीय सम्मिलन अन्यत्र कहाँ प्राप्त हो सकता है ?

यह हमारे सौभाग्य की बात है कि भवभूति जैसे महाकवि का समय निश्चित रूप से निर्णीत हो चुका है; कालिदास के समान वह कई शताब्दियों के झमेले में नहीं पड़ा हुआ है। राजतरंगिणी में **ललितादित्य** नामक विजयी काश्मीर-नरेश का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। क्षात्र तेज से प्रभावित होकर ललितादित्य ने अपनी विजय-वैजयन्ती समग्र उत्तरीय भारत में फहराई। उसने न केवल आसपास के राजाओं को ही अधीन किया, बल्कि सुदूर गौड़ देश (बंगाल) को भी अपना विजित प्रदेश बनाया। इसी प्रभावशाली नरेश ने कान्यकुब्ज के महाराज **यशोवर्मा** को समरभूमि में परास्त किया। यशोवर्मा ने इनका लोहा मान लिया। यह यशोवर्मा न केवल विद्वानों का ही आश्रय-दाता था बल्कि स्वयं सरस्वती देवी का पुजारी था। उसने 'रामाभ्युदय' नामक नाटक की रचना की थी। दशरूपक

समय

---

१. कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

आदि ग्रन्थों में इस नाटक का उल्लेख है; परन्तु अभी तक यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। इसीकी सभा **भवभूति, वाक्पतिराज** आदि कवि-सम्राटों से अलंकृत थी। श्रीयुत शंकर पाण्डुरंग पंडित ललितादित्य के राज्याभिषेक का समय ६९५ ई० मानते हैं और दिग्विजय का समय उनकी राय में इस (ललितादित्य) के शासन के आरम्भिक वर्ष थे। अतः भवभूति का समय ७०० ई० के आसपास पड़ेगा, परन्तु चीनदेशीय इतिहास से ललितादित्य का समय ३२ वर्ष उतर कर होना सिद्ध होता है। अर्थात् उसका राज्याभिषेक ७२५ ई० के आसपास हुआ। चीन के इस इतिहास की प्रामाणिकता वाक्पतिराज रचित गउडवहो[१] में (८२९ गाथा) उल्लिखित एक सूर्यग्रहण के समय से सिद्ध होती है। डाक्टर याकोबी ने दिखलाया है कि यह सूर्यग्रहण १४ अगस्त सन् ७३३ ई० में कन्नौज में दिखाई पड़ा था। अतः यशोवर्मा का समय ७३३ ई० के आसपास सिद्ध होता है, क्योंकि गउडवहो में यशोवर्मा द्वारा

---

१. 'गउडवहो' प्राकृत-साहित्य में ऊँचा स्थान रखता है। इसके कर्ता वाक्पतिराज हमारे चरित नायक के या तो विद्यार्थी थे या कम से कम उनकी कविता के एक सुयोग्य मर्मज्ञ थे। वाक्पति भवभूति के अच्छे गुण-ग्राहक थे। उनकी राय में भवभूति की कविता काव्यामृत के लिये जल-निधि है। वाक्पति के प्राकृत पद्य तथा उसका संस्कृतानुवाद यह है:—

भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा इव फुरंति।
जस्स विशेसा अज्जवि विअडेसु कहाणिवेसेसु। (७८९)
[भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणाः इव स्फुरन्ति
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु।]

मारे गये किसी गौड देश के राजा का वृत्तान्त वर्णित है; परन्तु ललितादित्य के द्वारा उसके पराजित किये जाने की चर्चा तक नहीं है। यशोवर्माने ७३३ ई० के लगभग काश्मीर नरेश की अधीनता स्वीकार की। अतः महाकवि भवभूति का समय भी आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

यदि कल्हण पण्डित ने भवभूति के आश्रयदाता के नामोल्लेख की कृपा न की होती, तो भी हम परवर्ती कवियों के उद्धरणों से भवभूति का समय निश्चित कर सकते थे। सबसे पहले आलङ्कारिक-प्रवर वामन ने अपनी 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में भवभूति के कई पद्यों[1] को उद्धृत किया है। अतएव वामन से भवभूति की प्राचीनता सिद्ध होती है। वामन का समय[2] आठवीं सदी का

१. वामन ने 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोः' (उत्तररामचरित १।३८) को रूपकालंकार के उदाहरण में उद्धृत किया है।

२. वामन का समय प्रायः निश्चित सा हो गया है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में लिखा है कि आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने 'अनुराग वती सन्ध्या' पद्य को भामह तथा वामन द्वारा प्रदर्शित विभिन्न अलंकारों को एकत्र प्रदर्शित करने के लिये उद्धृत किया है। इससे वामन आनन्द-वर्धन से प्राचीन प्रतीत होते हैं। काश्मीरी पण्डितों का विश्वास है कि यह वामन जयापीड के सभापण्डित थे। कल्हण पण्डित ने जयापीड (७७९-८१३ ई०) की सभा में वामन के मंत्री होने का उल्लेख किया है:—

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः संधिमाँस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

इन प्रमाणों से वामन का जयापीड का मंत्री होना सिद्ध होता है। अतएव इनका समय नवीं शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश ठीक जान पड़ता है।

उत्तरार्द्ध तथा नवीं का आरम्भ है। अतः भवभूति के आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में होने के विषय में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता।

ग्रन्थ

भवभूति के बनाये हुये तीन नाटक संस्कृत-साहित्य में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। भवभूति की प्रतिभा का विकाश इन नाटकों में स्पष्ट दीख पड़ता है।

(१) **'मालतीमाधव'**—एक बृहत् प्रकरण है। इसमें मालती तथा माधव की कल्पना-प्रसूत वैवाहिक कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित की गई है। इसमें युवावस्था के उन्मत्तकारी प्रेम का सच्चा तथा विशद चित्र खींचा गया है। स्थान स्थान पर प्राकृतिक वर्णन बड़े लम्बे चौड़े दिये गये हैं जिनसे इसे प्रकरण न कहकर 'काव्य-नाटक' (Epic drama) कहना समुचित जान पड़ता है। अघोरघण्ट की सिद्धियों का तथा श्मशान का उज्ज्वल वर्णन अच्छे ढंग से लिखा गया है।

(२) **महावीर चरित**—राम का पूर्वार्द्ध चरित नाटक के रूप में प्रदर्शित किया है। राम-कथा को नाटकीय रूप देने में भवभूति ने अपूर्व योग्यता दिखलाई है। उनसे कितने सौ वर्ष पूर्व महाकवि भास ने रामकथा को खण्ड खण्ड कर अपने दो नाटकों—अभिषेक नाटक तथा प्रतिमा नाटक—में विस्तार से दिखलाया है। भवभूति ने रामको आदर्श मनुष्य दिखलाना अपना ध्येय रखा है, अतएव कितने ही राम के दोषों को छिपाने की चेष्टा की गई है। भवभूति ने दिखलाया है कि बाली रावण का सहायक बनकर रामचन्द्र से

युद्ध करने आया था, तब राम ने उसका वध किया।

(३) उत्तररामचरित—में रामायण का उत्तरार्द्ध प्रदर्शित है। राम के वन-प्रत्यामगन पर राजगद्दी पानेसे लेकर सीता-मिलन तक की संपूर्ण कथायें कुछ कल्पना-प्रसूत घटनाओं के साथ खूब दिखाई गई हैं। भवभूति की कवि-प्रतिभा का यह सर्वोच्च निदर्शन है। इसके तीसरे अंक में कवि ने कमाल किया है। एक ओर राम अपने वनवास के प्रियमित्र पंचवटी के परिचित स्थानों को देखकर सीता के लिये विलाप करते करते मूर्छित हो जाते हैं, दूसरी ओर छाया-सीता राम के इस प्रेममय स्मरण से अपने वनवास के कठिन दुःखों को भी लात मारकर अपने जीवन को धन्य समझती है। राम इस छाया-सीता के स्पर्श का अनुभव तो अवश्य करते हैं परन्तु आँखों से देख नहीं पाते। कवि ने खूब ही Poetic justice काव्य-न्याय दिखलाया है। सीता को वनवास देने वाले राम के रोदन को दिखाकर कवि ने सीता के अपमानित तथा दुःख भरे हृदय को बहुत शान्त किया है। करुणरस का प्रवाह जैसा इस अंक में दिखलाया गया है वैसा कदाचित् ही कहीं अन्यत्र दृष्टि गोचर हो। भवभूति ने बे-जान के कड़े पत्थरों को भी रामचन्द्र के विलापों से खूब ही रुलाया है। ऐसा चमत्कार किसी कवि ने नहीं पैदा किया है। करुणरस की पराकाष्ठा को लक्ष्य कर कोई आलोचक कहता है:—

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा
ग्रावाप्यरोदीत्पार्वत्याः हसतः स्म स्तनावपि।

(१) भवभूति की कविता बड़ी चमत्कारिणी है। संस्कृत भाषा के ऊपर आपका पूरा प्रभुत्व है। वाग्देवी ब्रह्मा की तरह आपकी वश्या थी। इनकी कविता में भाषा तथा भाव में अनुपम सामञ्जस्य है; जैसा भाव वैसी भाषा। जो भवभूति भयंकर युद्ध के वर्णन के समय लम्बे समास वाले ओजोगुणविशिष्ट—

कविता

अयं शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभुक्—
प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचयकवलत्वं व्रजतु मे।
समन्तादुत्सर्पद्घनतुमुलहेलाकलकल:
पयोराशेरोघ: प्रलयपवनास्फालित इव॥

(उत्तररामचरित ५।६)

पद्य लिख सकते हैं, वही भवभूति ललितभाव के वर्णन करते समय ऐसा सुन्दर अनुष्टप् लिख सकते हैं जिसमें एक भी समास है ही नहीं—

अकिञ्चिदपि कुर्वाण: सौख्यैर्दु:खान्यपोहति
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जन:।

इस सामञ्जस्य का अनुरूप उदाहरण कभी कभी एक ही पद्य में मिलता है जिसके एक भाग में युद्ध वर्णन के लिए टवर्ग के अनुप्रास से गाढबन्धता रखी गई है और जिसके दूसरे भाग में कोमलवस्तु के वर्णन के हेतु सुकुमार पदावली प्रयुक्त की गई है। यह भवभूति के भाषाधिपत्य को प्रगट कर रहा है। नीचे के पद्य में ऐसा सुन्दर शब्दविन्यास है कि पद्य के पढ़ते समय ही तुंग-

तरंगवाली, गद्गद् नाद के साथ बहनेवाली, नदियों का प्रत्यक्ष चित्र सामने खड़ा हो जाता है—शब्दों में वर्ण्यवस्तु की झंकार स्पष्ट मालूम पड़ती है—

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहलै—
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्संगमाः॥
(उत्तर २।३०)

भवभूति ने अनेक छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग अपने नाटकों में किया परन्तु आपकी शिखरिणी सबसे अच्छी है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्त-तिलक में भवभूति के शिखरिणी-वृत्त की प्रशंसा की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी
चकिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति।

भवभूति और कालिदास

कालिदास के बाद यदि कोई नाटककार उच्चस्थान प्राप्त कर सकता है तो वह भवभूति हैं। दोनों ने संस्कृत-नाटक-साहित्य में उन्नत स्थान प्राप्त किया है। परन्तु भवभूति की कविता कालिदास की कविता से अनेक अंशों में भिन्न है। भवभूति ने कालिदास के काव्यों का खूब मनन किया था। इनकी कविता में कालिदासीय कविता की छाया कतिपय स्थलों में दीख पड़ती है। मालतीमाधव के नवम अंक में विरही माधव

मालती के समाचार जानने के लिए मेघ को अपना दूत बनाकर भेज रहा है—

कच्चित् सौम्य ! प्रियसहचरं विद्युदालिङ्गति त्वा-
माविर्भूतप्रणयसुमुखाश्चातका वा भजन्ते ।
पौरस्त्यो वा सुखयति मरुत् साधुसंवाहनाभि-
र्विष्वग् बिभ्रत्सुरपतिधनुर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ॥
दैवात् पश्येर्जगति विचरन्निच्छया मत्प्रियां चेत्
आश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम् ।
आशातन्तुर्न च कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताद्याः स एकः ॥

कहना व्यर्थ है कि इन पद्यों में शाकुन्तल तथा मेघ के पद्यों के भाव तथा शब्द ज्यों के त्यों लाये गये हैं। इतना होने पर भी भवभूति में अपनी कुछ विशेषता है जो इनके नाटकों को कालिदास की रचनाओं से सर्वथा पृथक् करती है। कालिदास की कविता में व्यञ्जना की प्रधानता है। थोड़े से चुने हुए शब्दों में भाव की अभिव्यक्ति की गई है, परन्तु भवभूति ने कुछ विस्तार के साथ भावों को वाच्य बना दिया है। जहाँ कालिदास के पात्र केवल चार आँसू बहाकर अपने चित्तोद्वेग की सूचना देते हैं, वहीं भवभूति के पात्र फूट-फूट कर बहुत देर तक रोते हैं—आँसुओं की धारा बहाकर अपने मानसिक विकार को बिलकुल प्रत्यक्ष कर देते हैं। कालिदास ने प्रकृति के केवल ललित अंश पर अपनी दृष्टि डाली है, उसी अंश को अपनी कविता में दिखलाया है परन्तु

भवभूति ने प्रकृति के विकट अंश को भी अपनाया है और अपने नाटकों में दर्शाया है। कालिदास के हिमालय-वर्णन तथा भवभूति के विन्ध्य-वर्णन की तारतम्य परीक्षा करने से यह विभेद पाठकों के सामने आ सकता है।

(२) भवभूति ने जैसा उज्ज्वल विशद प्रेम का चित्र खींचा है वैसा संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त दुर्लभ है। अन्य कवियों ने, नहीं नहीं स्वयं कालिदास ने, सांसारिक-वासना-भरे काम का ही वर्णन किया है, विशुद्ध प्रेम का वर्णन कालिदास के ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता। भवभूति ने यौवनकाल की उद्दाम कामप्रवृत्ति का वर्णन मालतीमाधव में किया है और विश्वस्त हृदय के सच्चे शुद्ध प्रेम का चित्र उत्तररामचरित में दिया है। भवभूति मानव हृदय में इस प्रेम के विकाश के अच्छे पारखी थे। प्रारम्भिक तथा अन्तिम दशा में काम तथा प्रेम दोनों का निरीक्षण इन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से किया था। नीचे के पद्य में उन्होंने सच्चे प्रेम की परिभाषा भली भाँति दर्शाई है—

> अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं, सर्वास्ववस्थासु यत्
> विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
> कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
> भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।

भावार्थ—सच्चा प्रेम सुख तथा दुःख में एकसा रहता है, हर दशा में, चाहे विपत्ति हो या सम्पत्ति, वह अनुकूल रहता है, जहाँ हृदय विश्राम लेता है, वृद्धावस्था आने से जिसमें रस की

कमी नहीं होती। समय बीतने पर बाहरी लज्जा संकोच आदि आवरणों के हट जाने से जो परिपक्व स्नेह का सार बच जाता है वही सच्चा प्रेम है। प्रेम कीक्या ही सुन्दर परिभाषा है !

भवभूति ने स्पष्ट तौर पर लिखा है कि यह प्रेम बाहरी रूप से हृदय में अंकुरित नहीं होता, बल्कि एक हृदय को दूसरे हृदय से जोड़ने वाला कोई भीतरी कारण होता है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तर: कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतय: संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्त:।

(उत्तर० ६।१२)

भावार्थ—प्रीति किसी बाहरी कारण से पैदा नहीं होती, बल्कि कोई भीतरी कारण पदार्थों को आपस में मिलाता है। कहाँ तालाब में सकुचा हुआ कमल और कहाँ आकाश में उदित सूर्य ! परन्तु सूर्य के उदय होते ही कमल खिल जाता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्तमणि पिघलने लगता है। अत: वास्तव में प्रेम का उद्गम भीतरी कारणों से होता है। भवभूति ने इस सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिये सांसारिक उदाहरणों को न देकर प्रकृति के अटल नियमों का उल्लेख किया है। यह कवि के गूढ़ दार्शनिक विचारों को प्रकट कर रहा है।

(३) भवभूति पुरानी लकीर पीटने वाले विद्वान् न थे; नियमित साम्प्रदायिक तथा पिष्ट वस्तुओं का आदर उनके यहाँ

नहीं था; इनके मस्तिष्क से हर जगह नवीन तथा मौलिक भावों की उत्पत्ति हुई है। अधिकांश संस्कृतकवि जूठी उपमाओं के—कमलमुख, चन्द्रवदन आदि के—प्रयोगों में ही अपनी सारी शक्ति खर्च कर गये हैं, परन्तु भवभूति ने मौलिक उपमाओं का आविर्भाव किया है। उपमा-प्रयोग में इनकी विशेषता यह है कि वाल्मीकि की तरह ये द्रव्य की उपमा किसी गुण से देते हैं अथवा ठोस वस्तु की उपमा किसी Abstract वस्तु से देते हैं। विरह-विधुरा सीता का यह क्या ही सच्चा वर्णन है:—

परिपाण्डु दुर्बलकपोलसुन्दरं
दधती विलोलकवरीकमाननम्
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी।

भावार्थ—सीता के कपोल पीले तथा कृश पड़ गये हैं; उनके मुख पर केश इधर उधर बिखरे हुये हैं। जान पड़ता है कि साक्षात् करुण रस की मूर्ति अथवा शरीर धारण करने वाली विरह-व्यथा ही जानकी के रूप में इस जंगल में आ रही है। मलिना निरावृता जानकी की उपमा शरीरिणी विरहव्यथा से देना कितना मनोहर है।

एक नवीन उपमा पर दृष्टिपात कीजिये:—

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः।

ग्लपयति परिपाण्डुक्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥

भावार्थ—हृदय-पुष्प को सुखाने वाला दीर्घशोक जानकी के पीले तथा पतले, बन्धन से तोड़े गये कोमल पत्ते के समान, शरीर को उसी भाँति खिन्न कर रहा है जैसे शरदृऋतु का घाम केतकी पुष्प के भीतरी पत्र को सुखा देता है।

(४) भवभूति मानव-हृदय के सूक्ष्म भावों के सच्चे परीक्षक थे। उन्होंने विभिन्न अवस्थाओं में मानव-हृदय के विकारों का सच्चा वर्णन किया है। उत्तररामचरित के तीसरे अंक में इसके कितने उदाहरण हैं। भगवती सीता तमसा के साथ पंचवटी में जा रही हैं; अचानक रामचन्द्र के मसृण वचन सीता के कर्ण-कुहर में प्रवेश करते हैं। सुदीर्घ द्वादश वर्ष के वियोग के अनन्तर प्राण प्यारे के इन वचनों को सुनकर सीता की हालत का वर्णन तमसा के मुख से कवि ने करवाया है—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशात्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्यादपि च करुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव॥

भावार्थ—हे सखि! तुम्हारा हृदय निराशा से—रामसे संयोग होने की निराशा से—अभी उदासीन था तथा राम के इस दुर्व्यवहार से कलुषित था। परन्तु अब इस दीर्घ वियोग में अचानक भेंट होजाने से बिल्कुल स्तब्ध होगया है; राम की सुजनता से प्रसन्न

है और विलापों के कारण इसमें शोक की तीव्र धारा चल रही है; राम के प्रेम प्रकट करने से यह हृदय आनन्द से पिघला जारहा है। हृदय के भावों का सूक्ष्म विश्लेषण कितना तात्त्विक है।

(५) भवभूति चेतन मानवीय प्रकृति के ही सच्चे चित्रकार नहीं हैं बल्कि जड़ प्रकृति के भी। उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण बड़ी सावधानी से किया गया था। कालिदास ने प्रकृति के केवल कोमल पहलू का ही वर्णन किया है परन्तु भवभूति की दृष्टि उसके भयङ्कर तथा कठिन पहलू पर गई थी। दण्डकारण्य का जैसा सच्चा वर्णन उत्तर रामचरित में पाया जाता है; जंगल का वैसा वर्णन अन्यत्र और उपलब्ध नहीं होता। संस्कृत कवियों का प्राकृतिक वर्णन सदैव अलंकृत रहता है जिससे लोगों को संदेह होने लगता है कि क्या यह दृश्य कवि की कल्पना से प्रसूत हुआ है या उसके प्रकृति-पर्यवेक्षण से। परन्तु भवभति का यह वर्णन अंग्रेज महाकवियोंके समान (Detailed) विस्तृत तथा (Realistic) वास्तविक है। इस विषय में कोई भी संस्कृत-कवि हमारे चरित नायक का मुकाबिला नहीं कर सकता है। मालतीमाधव के श्मशान-वर्णन की भी यही विचित्रता है! दण्डकारण्य की भीषणता पर ज़रा दृष्टिपात करिये:—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो या स्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ।

भावार्थ—जंगल का कोई भाग बिल्कुल शान्त है और कहीं हिंसक जानवरों की प्रचण्डध्वनि सुन पड़ती है। कहीं पर स्वेच्छया सोये हुये विस्तृत फन वाले भुजंगों के श्वास से आग पैदा हो रही है। जल का नाम नहीं है; कहीं कहीं छोटी गड़हियों में थोड़ा सा पानी झिलमिला रहा है; बिचारे प्यासे गिरगिटों को पानी नहीं मिलता। क्या करें, अजगर के पसीने को पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं। कितना भयानक दृश्य है!

पहाड़ों पर सोते बहे चले जा रहे हैं। उनका क्या ही रोचक वर्णन है!—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरविरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज—
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥

भावार्थ—यह देखो, झरने बह रहे हैं। इनके किनारे वानीर-लता उगी हुई है। उनके ऊपर मधुरकंठ वाले पक्षिगण विहार करते हैं। उनके बैठने से लता के फूल झरनों में गिर जाते हैं जिससे उनके पानी सुगन्धित हो जाते हैं। पहाड़ों से बहने के कारण नदियों का जल स्वभाव से ही शीतल तथा स्वच्छ है। उनकी धारायें पके हुये फलों से लदे, काले जम्बू वृक्षों की कुञ्ज से टकराने पर अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक मार्गों से बह रही हैं।

(६) भवभूति अनेक रसों के वर्णन में सिद्ध हस्त हैं। इन्होंने

वीररस का सजीव वर्णन किया है। वीरों का गर्वीला गर्जन, अस्त्रों की झंकार, स्यन्दनों की खटखटाहट और बाणों की सनसनाहट—ये सब हमारे सामने सच्ची युद्धभूमि का चित्र हठात् उपस्थित कर देते हैं। मालतीमाधव में शृंगार रस का खासा वर्णन किया गया है। श्मशान-दृश्य में बीभत्स तथा भयानक की मात्रा यथेष्ट है। परन्तु भवभूति सबसे अधिक करुणरस के चित्रण में सिद्धहस्त हैं। कालिदास ने भी रतिविलाप तथा अजविलाप के द्वारा करुण का करुणोत्पादक कौतूहल खूब ही दिखलाया है परन्तु भवभूति के वर्णन में कुछ अलौकिकता है, विचित्र चमत्कार है, जो अन्यत्र दीखने को नहीं मिलता। भवभूति करुणरस के प्रधान आचार्य हैं। आलंकारिकों में आदि-रस के विषय में बड़ा मतभेद है। महाराज भोजदेव शृंगार को ही रसों का सिरताज समझते हैं, तो शैवागम के अनुयायी काश्मीरी कविगण शान्ति रस को ही मुख्य रस मानते हैं; परन्तु हमारे भवभूति ने करुणरस को ही सबमें प्रधानता दी है। इन्होंने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में दी है:—

> एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
> भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
> आवर्त्त-बुद्बुद-तरंगमयान् विकारा-
> नम्भो यथा, सलिलमेव तु तत्समग्रम्।

भावार्थ—करुण ही प्रधान रस है। रससामग्री (स्थायीभाव, आलम्बन, उद्दीपन आदि) की विभिन्नता से वह भिन्न होता हुआ

भिन्न भिन्न परिणामों को धारण करता है परन्तु है एक ही। एक ही जल कभी भँवर के रूप को, कभी बुद्बुदों तथा तरङ्गों के रूप को धारण करता है परन्तु वास्तव में वह सब जल ही है। जब करुणरस के विषय में भवभूति की ऐसी उच्च धारणा थी, तब उनके करुण वर्णनों की क्या कथा ? इसी करुण-वर्णन-वैचित्र्य को लक्ष्य कर गोवर्धनाचार्य ने ठीक ही कहा है:—

भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा।

राम सीता के लिये विलाप कर रहे हैं:—

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं, स्रंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥

भावार्थ—हा देवि ! तुम्हारे बिना मेरा हृदय फटा जाता है; शरीर शिथिल पड़ रहा है, संसार को सूना समझता हूँ, मेरे हृदय में हमेशा ज्वाला बल रही है, मेरी दुःखित आत्मा गाढ़ अन्धकार में धँसी जाती है, चारो तरफ से अज्ञान मुझे घेर रहा है। अब मैं मन्दभाग्य क्या करूँ; कहां जाऊँ ?

इन्हीं गुणों के कारण संस्कृत महाकवियों में भवभूति का स्थान बड़ा उन्नत है। कोई २ तो इन्हें कालिदास से भी अच्छा समझते हैं। हम इतना ही कहते हैं कि कविता-कामिनी के शिरो-मुकुट के दोनों ज्वलन्त हीरे हैं।

१७—अमरुक

अमरुक के पद्यों की चर्चा संस्कृत साहित्य में बड़े आदर के साथ की जाती है। रीतिग्रन्थों में इनके पद्य ध्वनि या अलंकार के उदाहरण में उद्धृत किये गये हैं। मम्मटकृत काव्यप्रकाश में तो आपके बहुत से श्लोक उत्तम ध्वनि के उदाहरणों के रूप में दिये गये हैं। आपका बनाया हुआ एक शतक मिलता है। शतक के श्लोकों में बड़ी गड़बड़ी है। अनेक कवियों के सुप्रसिद्ध श्लोक इसमें घुसेड़े हुए मिलते हैं तथा वे श्लोक जिन्हें सूक्तिमुक्तावली आदि सूक्तिग्रन्थ अमरु का होना बताते हैं इसमें नहीं पाये जाते। यह भारतवर्ष के एक साहित्यिक दूषण का नमूना है जिससे निम्न कोटि के विद्वान् किसी प्रसिद्ध कविवर की रचनाओं में अपने पद्य प्रक्षिप्त करते हुये नहीं सकुचाते।

ये अमरुक कौन थे? किस देश में तथा किस समय में आपका जन्म हुआ? इन प्रश्नों का यथोचित उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि हमारे भारतीय कविवर अपने ग्रन्थों में अपनी नम्रता दिखलाते हुये अपने चरित का कुछ भी उल्लेख नहीं करते थे। परन्तु शतक के टीकाकारों तथा विद्वानों में, जो कुछ अमरु के विषय में प्रसिद्ध है, वह नीचे दिया जाता है।

श्री स्वामी शंकराचार्य दिग्विजय करते हुए काश्मीर पहुँचे। वहाँ प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्र रहते थे जिनके विषय में प्रसिद्ध है:—

किम्वदन्ती

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो विदन्ति
शिष्यैरसंख्यैरपि गीयमानमवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम।

जिनके द्वार पर, विद्यार्थियों को कौन कहे? तोता मैना में भी यह विवाद सतत हुआ करता था कि वेद स्वतः प्रमाण हैं या परतः प्रमाण। स्वामी शंकर के साथ आपका शास्त्रार्थ होना प्रारम्भ हुआ जिसमें प्रतिज्ञा यह थी कि जो हारे वह दूसरे का मत स्वीकार करे। इस वादविवादमें मध्यस्थ का पद मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी शारदा ने ग्रहण किया। शास्त्रार्थ छिड़ गया। अन्त में मण्डन मिश्र का पक्ष निर्बल होते देख शारदा ने शुद्धरूप से स्वीकार कर लिया कि उनके पतिदेव शास्त्रार्थ में हार गये। परन्तु शंकर से यह भी निवेदन किया कि पुरुष और स्त्री दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण व्यक्ति हैं। पति को हराने पर अभी आधा ही जय आपको प्राप्त हुआ है। पूरे विजयी आप तभी होंगे जब मुझे भी हरावें। स्वामी शंकर ने शास्त्रार्थ करना शुरू कर दिया, परन्तु जब शारदा ने कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्न किये*, तब तो

---

* शारदा के प्रश्न ये हैं—

कलाः कियत्यो वद पुष्पधन्वनः किमात्मिकाः किं च पदं समाश्रिताः।
पूर्वे च पक्षे कथमन्यथा स्थितिः कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे॥

बाल ब्रह्मचारी शंकर से उत्तर देते न बना। उन्होंने उत्तर देने के लिये एक मास का अवकाश चाहा। उसी समय अमरु नामक राजा शिकार खेलने आया था। सिंह ने उसको मार डाला। सुअवसर पाकर शंकराचार्य विद्या के बल से इस राजा के मृत शरीर में प्रवेश कर गये। एक मास तक आपने वात्स्यायन प्रणीत कामशास्त्र का यथोचित अध्ययन किया तथा स्त्रियों के साथ विहार कर उस शास्त्र में पारङ्गत हो गये। तब आपने यही शतक शारदा के प्रश्नों के उत्तर में बनाया जिससे शारदा को हार माननी पड़ी। मण्डन मिश्र सन्यासी बन गये और सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुये।

इस जनश्रुति के अनुसार शंकराचार्य इसके कर्ता ठहरते हैं और इसी का आश्रय लेकर एक विद्वान् टीकाकार ने शृंगाररस से चुहचुहाती कविता का खींच तान कर शान्त रस में अर्थ लिख मारा है। परन्तु यह जनश्रुति आदरणीय नहीं है। क्योंकि माधवाचार्य ने अपने शंकरदिग्विजय में लिखा है—

वात्स्यायनप्रोदितसूत्रजातं तदीयभाष्यं च विलोक्य सम्यक्।
स्वयं व्यधत्ताभिनवार्थगर्भं निबन्धमेकं नृपवेषधारी॥

वात्स्यायन कामसूत्र तथा उसके भाष्य को अच्छी तरह से देखकर राजा का बेष धारण करने वाले शंकर ने एक नवीन प्रबन्ध बनाया। शंकर के उस ग्रन्थ से शारदा के सब प्रश्नों का उत्तर यथोचित रीति से हो गया। परन्तु इस ग्रंथ में कामसूत्र के विषयों का समावेश नहीं दिखाई पड़ता। अमरु शतक से उत्तर देने को

कुछ भी सम्भावना नहीं होती। निःसन्देह इसके पद्य शृंगाररस से परिपूर्ण हैं, परन्तु इसमें कामशास्त्र का विषय नहीं पाया जाता। अतः वह पुस्तक अमरु-शतक नहीं हो सकती। अतएव शंकराचार्य इस शतक के कर्ता नहीं हो सकते। इसके बनाने वाले कोई अमरु नामक कवि हैं। आपके व्यक्तिगत इतिहास का कुछ भी पता नहीं है।

रचना काल

प्रसिद्ध रीतिग्रंथ ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन ने जो काश्मीरराज अवन्तिवर्मा (८५०) के समय में हुये थे अमरु के नाम का उल्लेख किया है :—

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। तथा ह्यमरुकस्य कवेः मुक्तकाः शृंगाररसस्यंदिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव।

इनके बहुत से पद्यों को भी उदाहरण के लिये उद्धृत किया है आनन्द वर्धन के पहले भी वामन ने अमरुक के पद्यों को उद्धृत किया है, जिससे ज्ञात होता है कि नवमी शताब्दी के आरंभ में अमरु के पद्य प्रसिद्ध हो गये थे। अतः निश्चित होता है कि अमरु कवि नौवीं शताब्दी से प्राचीन हैं।

टीकाकार

अमरु शतक की टीकाएँ बहुत सी हैं। इन टीकाकारों ने शतक के पद्यों के अर्थ, रस तथा अलंकार के समझाने में पूरा प्रयत्न किया है। रविचन्द्र नामक टीकाकार ने इस शतक को भगवान् शंकराचार्य की रचना मानकर प्रत्येक पद्य में शान्तरस के अनुकूल अर्थ किया है। परन्तु शृंगाररस से भरे हुए इन पद्यों की शान्त रसा-

नुकूल व्याख्या करना सहृदयों के लिए नितान्त उद्वेजक है। इस विषय में महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसादजी का यह कथन सर्वथा सत्य है—स च शुचिरसस्यन्दिष्वमरुश्लोकेषु परिशील्यमानेषु 'रहसि प्रौढबधूनां रति समये वेद पाठ इव' सहृदयानां शिरःशूलमेव जनयति। इन टीकाकारों में सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक **अर्जुनवर्मदेव** हैं। इनकी टीका का नाम **'रसिक सञ्जीवनी'** है। ये प्रसिद्ध भोजराज के वंश में जन्मे थे और इनका समय तेरहवीं सदी का उत्तरार्ध है। इस टीका में प्रत्येक पद्य में रस तथा अलंकार का पूरा विवरण दिया गया है। प्रमाण में अलंकार-ग्रन्थों के वाक्य भी दिये गए हैं। रसिक संजीवनी के अतिरिक्त **वेमभूपाल** विरचित **'शृंगारदीपिका'** भी अच्छी टीका है।

अमरुक की कविता बड़ी मनोहारिणी है। शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े छन्दों का उपयोग करने पर भी इनकी कविता में लम्बे

कविता

लम्बे समास नहीं आये हैं। अमरु शब्द-कवि नहीं हैं; वे रस कवि हैं। इनकी कविताएँ मनोरम-शृंगार से लबालब भरी हैं। अर्जुनवर्मदेव ने बड़ी मार्मिकता से इस काव्य की आलोचना करते समय दिखलाया है कि कहीं कहीं पददोष होनेपर भी इनमें कोई क्षति नहीं है। भला रसकवि कभी पदविन्यास के झमेले में पड़ा रहता है? उसके लिए पदविह्वलता तो वाञ्छनीय होती है। इस विषय में

मदनोपाध्याय ने क्याही अच्छा कहा है—

पदविह्वलता क्वापि स्पृहणीया भवति रसकवीन्द्राणाम्।
घनजघनस्तनमण्डलभारालसकामिनीनां च ॥

अमरुक के शृंगार वचनों के सामने अन्य कवियों के सरस वचन नहीं टिक सकते। आनन्दवर्धन का कथन यथार्थ है कि इनके एक एक पद्य पूरे प्रबन्ध के समान हैं। जितने भाव एक छोटे प्रबन्ध में दिखाए जा सकते हैं अमरुक ने उतने भाव एक छोटे से पद्य में दिखलाया है। वास्तव में इन्होंने गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है। इन्होंने प्रेम का जीता जागता चित्र खींचा है। कामी तथा कामनियों की भिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मनोवृत्तियाँ का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं पर पतिको परदेस जाने के लिए तैयार देखकर कामिनी की हृदय-विह्वलता का चित्र है, तो कहीं पतिके शुभागमन के समाचार सुनकर अंग प्रत्यंग से हर्ष को अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है। ये पद्य क्या हैं? संस्कृत-साहित्य के चमकते हीरे हैं। इसीलिए अर्जुनवर्मदेव को यह प्रशस्त प्रशंसा तनिक भी अत्युक्ति नही प्रतीत होती—

अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनिह्नुता न संचरन्ति।
शृङ्गारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणयुगलेषु ॥

अमरुक शतक 'मुक्तककाव्य' का उत्कृष्ट उदाहरण है। किसी अन्य की अपेक्षा न रखने वाले उन पद्यों को मुक्तक के नाम से पुकारते हैं जिनमें रस की समग्र सामग्री विद्यमान रहती

है—रस के विकाश के लिए किसी दूसरे पद्यों से सहारा लेने का आवश्यकता नहीं होती। आलोचकों ने इन पद्यों को साहित्य की कसौटी पर कसा है और उन्हें चमकता खरा सोना पाया है। ये ध्वनि के नमूने हैं। इनके कारण अमरुक के प्रतिभासम्पन्न महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने अमरुक के भावों को अपनाया है। बिहारी के दोहों में कहीं कही इनकी छाया ही दीख पड़ती है परन्तु पद्माकर ने तो अपने जगद्विनोद में इनका सुन्दर अनुवाद कर इन्हें बिल्कुल अपना लिया है।

नीचे एक पद्य उद्धृत किया जाता है जिसको मम्मट ने उत्कृष्ट ध्वनि का नमूना बतलाया है—

> निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
> नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
> मिथ्यावादिनि दूति! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
> वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

नायिका ने प्रियतम को बुलाने के लिये दूती भेजी थी। उसने नायक के साथ खूबही उपभोग किया परन्तु पूछने पर कहती है कि मैं नहाने गई थी। संभोग को छिपा रही है। चतुर नायिका उसे कह रही है—स्तनों के किनारे का चन्दन अच्छी तरह से धुल गया है। तुम्हारे अधर से ताम्बूल को ललाई मिट गई है। नेत्रों के किनारे से अंजन मिटा हुआ है। तुम्हारा शरीर इस समय रोमांचित है। अतः हे झूठ बोलने वाली, दूसरे के दुःख को

न जानने वाली दूती! तुम कुयें पर नहाने गई थी; उस अधम के समीप नहीं गई। बचा बचाया भेद अधम पद द्योतित कर रहा है। वह नायक ऐसा अधम है जो नीच कुलवाली परस्त्री के साथ भी संसर्ग करने में कभी नहीं हिचकता। व्यंजना से पद्य प्रकाशित कर रहा है कि तुम नहाने नहीं गई थी, वरन् उसी नायक के पास रमण करने गई थी। पाठक समझ गये होंगे किस प्रकार कवि ने उभय साधारण पदों के द्वारा अपनी अभीष्ट वस्तु सूचित की है। वास्तव में यह पद्य ध्वनि का ज्वलन्त उदाहरण है।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते।

भावी प्रोषितपतिका अपने जीवन से कह रही है—जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया तब दुर्बलता के मारे मेरे हाथ के भूषण गिर गये, प्रियमित्र अश्रु भी जाने लगे। केवल जाने को खबर सुनकर नेत्रों से सतत धारा चलने लगी। सन्तोष एक क्षण भी न रहा, मन तो पहले ही जाने के लिये तैयार हो गया—ये सब एक साथ ही चलने के लिए तैयार हो गये। हे प्राण! तुम्हें भी तो एक दिन जाना ही है तो अपने मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो? प्राण प्यारे के जाने की खबर सुन तुम भी चल बसो।

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।

सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥

कोई सखी मुग्धा नायिका को सिखला रही है—हे मुग्धे ! क्या तुम इसी प्रकार लड़कपन में दिन बिता दोगी । जरा नखड़ा करना सीखो, धैर्य धारण करो । अपने प्यारे के विषय में इस सरलता को दूर करो । इसी प्रकार सखी से समझाई गई नायिका डरकर उसे कहने लगी कि जरा धीरे से कहो । कहीं ऐसा न हो कि हृदय में रहने वाले प्राणेश्वर इन बातों को सुन लें । नायिका का पतिपर कितना अनुराग है ! मुग्धा का कितना अच्छा शाब्दिक चित्र खींचा गया है ।

कान्ते ! कत्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ
स्वस्ति स्वस्ति निमीलयामि नयने यावन्न शून्या दिशः ।
आयाता वयमागमिष्यसि सुहृद्वर्गस्य भाग्योदयैः
सन्देशो वद कस्तवाभिलषितस्तीर्थेषु तोयाञ्जलिः ॥

विदेश जाता हुआ पति अपनी प्राणवल्लभा को समझा रहा है-हे प्रिये ! आँख मीचकर कुछ दिनों को बिता दो तब तक मैं आता हूँ । नायिका कहती है—आपका कल्याण हो,जब तक दिशायें शून्य न हो (जब तक आप मेरे नयनों के ओझल न हो जाँय) तब तक मैं आँखें बन्द कर लेती हूँ (मर जाऊँगी) । पति - मैं शीघ्र ही आऊँगा । नायिका—अपने मित्रों के सौभाग्य से तुम लौट आवोगे (मुझसे क्या काम ?) । पति—तुम क्या सन्देशा देना चाहती हो ? नायिका—तीर्थों में जलाञ्जलि (आशय यह है कि तुम्हारे जाते

ही मैं मर जाऊँगी, अतः तीर्थों में मेरे नाम से तर्पण कर देना)। देखिये मर जाने की बात कैसे सुन्दर ढंग से कही गई है।

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने! मानमधुना॥

मानिनी को कोई प्रधान सखी कह रही है—हे कठोर हृदय-वाली! बस, अब मान छोड़ो। देखो तुम्हारे प्राण प्यारे को कैसी बुरी दशा है। बिचारा सिर नवाये बाहर बैठा पागलों की तरह जमीन को खरोंच रहा है, प्यारी सखियों ने भोजन छोड़ दिया है। हमेशा रोने से उनकी आँखें सूज गई हैं, पिंजड़े के सुग्गों ने तुम्हारे शोक के मारे हँसना तथा पढ़ना छोड़ दिया है और तुम अभी तक मान किये बैठी हो? भला तुम्हें तनिक दया नहीं आती। जल्दी मान छोड़ो।

प्रत्येक रसिक को चाहिये कि 'अमरु-शतक' का अध्ययन कर काव्यानन्द का अनुभव करें।

१८—विज्जका

प्रतिभा लिङ्गविशेष की अपेक्षा नहीं करती। काव्यप्रतिभा का सम्बन्ध आत्मा के साथ रहता है; स्त्री या पुरुष के विभाग से उसे कुछ काम नहीं। पुरुष यदि दावा करे कि कविता जैसी ललित कलाओं का सुन्दर अंकुर उसी के हृदय में उत्पन्न होता है और उसकी उर्बरा शक्ति से वह लहलहाने लगता है, तो वह सदा झूठा ही समझा जायगा। सच तो यह है कि कविता, संगीत, चित्रकला आदि मधुर हृदयहारी कलाओं का बीज नारियों के सहानुभूति-पूर्ण, रस से शराबोर, हृदय में पुरुषों के कठोर हृदय की अपेक्षा अपने उगने के लिये अधिक सहकारी सामग्री पाता है और वहीं यह सदा हरा भरा भी पाया जाता है। नवीन पश्चिमी संसार के उदाहरणों को छोड़ देने पर भी यदि अभिनव भारत के ही दृष्टान्तों पर दृष्टिपात किया जाय, तो स्त्रियों में प्रतिभा की कमी नहीं दीख पड़ती। आज कल जब स्त्रियों में शिक्षा का बहुत ही कम प्रचार है, ऐसी दशा देखने को मिलती है, तो प्राचीन भारत में, जब शिक्षा सार्वजनिक थी, स्त्री-कवियों के अस्तित्व से हमें चकित नहीं होना चाहिए।

उपक्रम

सर्व-पुरातन ग्रन्थरत्न ऋग्वेद में ही ऐसे सूक्त संगृहीत हैं, स्त्रियाँ

जिनके 'ऋषि' हैं और जिनके देखने से उनके उन्नत विचारों का पता भली भाँति लगता है। कविता की दृष्टि से भी ऋचाएँ उच्च कोटि की मानी जाती हैं। इन सब का दिग्दर्शन फिर कराया जायगा। उन स्त्री-कवियों की कविता का स्वाद भी आज पाठकों को न चखाया जायगा जिन्होंने सांसारिक भोग विलास को लात मारकर बौद्ध धर्म की भिक्षुणी बन शांति को ही अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनाया था तथा जिनकी कविताएँ 'थेरी गाथा' में संगृहीत हैं। आज उन्हीं स्त्री-कवियों में लब्धप्रतिष्ठ विज्जका की चर्चा जायगी, जिनका सम्बन्ध उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य से है। परन्तु दुःखके साथ कहना पड़ता है कि इन कवियों की रचना की कौन कहे, दुर्दैव ने इनके स्मरणीय नाम तक को भी भूतकाल के विस्मृति-गर्त में सदा के लिये गिरा दिया है। प्राचीन कवियों के प्रशंसात्मक श्लोकों से ही किसी किसी के नाम जाने जाते हैं; तथा सूक्तिसंग्रहों में संगृहीत कविताओं से ही इनकी उत्कृष्ट प्रतिभा का पता चलता है। कुछ कवियों की अधिक कविताएँ मिलती हैं, परन्तु कुछ की रचनाएँ तो केवल दो चार श्लोक ही हैं।

परिचय

संस्कृत साहित्य में प्रतिभाशालिनी कवयित्री 'विज्जका' का खूब नाम है। उनकी रसभावमयी कविता का आस्वादन कर सहृदय भावुकों के चित्तसागर में आनन्द की लहरी अठखेलियाँ करने लगती है। वास्तव में स्त्री होकर इतनी मधुरिमामयी पदावली की रचना

करना कोई हँसी खेल की बात नहीं है। इससे विज्जकाकी उन्नतप्रतिभा का पता सहज ही में आलोचकों को लगता है। परन्तु दुःख तो इस बात का है कि इनकी समग्र रचनाओं से सहृदयगण सदा के लिये वञ्चित हो गए हैं; क्योंकि इनके किसी काव्य-ग्रन्थ का पता अभी तक कुछ भी नहीं लगा है; भविष्य में लगने की आशा है। सूक्ति-ग्रन्थों में उद्धृत कविताएँ ही इसकी अवशिष्ट रचनाएँ हैं, जो काल के भयङ्कर प्रहार को सहकर भी किसी प्रकार बच सकी हैं। इस प्रतिभा-सम्पन्न नारी-कवि के जीवन की घटनाएँ भी अज्ञान के अभेद्य अन्धकार के परदे में छिपी हुई हैं, जिससे उन्हें निकालकर सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करना एक अत्यन्त दुःसाध्य कार्य प्रतीत होता है।

इनका नाम कहीं **विज्जका** या **विज्जाका** मिलता है और कहीं **विद्या**। इनका शुद्ध नाम 'विज्जका' ही प्रतीत होता है जिसका संस्कृतीकृत रूप 'विद्या' है। शार्ङ्गधरपद्धति के एक पद्य में 'विज्जका' ने महाकवि दण्डी को डाँट बताई है। वह सर्व-प्रसिद्ध पद्य यह है:—

> नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
> वृथैव दण्डिना प्रोक्तं "सर्वशुक्ला सरस्वती"॥

पद्य का चतुर्थ चरण काव्यादर्श के मंगलाचरण श्लोक का अन्तिम पाद है। विज्जका का कहना है कि नील कमल के पत्ते के समान श्याम रंगवाली मुझे बिना जाने ही दण्डी ने व्यर्थ ही

सरस्वती को सर्वशुक्ला कह डाला है। इस गर्वोक्ति से विज्जका के असाधारण पाण्डित्य का पता लगता है। इससे इतनी ही ऐतिहासिक बात निकलती है कि 'विज्जका' के आविर्भाव का समय 'दण्डी' के कुछ पीछे है; परन्तु कितना उतर कर है, इसे निश्चय करने के यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

विज्जका के कई पद्यों को संस्कृत आलंकारिकों ने उदाहरण-स्वरूप अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। मम्मटाचार्य ने अपने 'शब्द-व्यापार विचार' में इनके 'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि' (नं० ५०० कवीन्द्र-वचन-समुच्चय) और 'धन्यासि या कथयति' (२९८ कवीन्द्र०) को उद्धृत किया है। दूसरा पद्य काव्य-प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में अर्थमूलक वस्तु प्रतिपाद्य अलंकार ध्वनि के उदाहरण में भी दिया गया है। पहला पद्य धनिक के 'दशरूपावलोक' तथा मुकुलभट्ट के 'अभिधावृत्तिमातृका' में उद्धृत किया गया है। भट्ट मुकुल का समय लगभग ९२५ ई० है। अतएव पूर्वोक्त पद्य की रचयित्री का समय अनुमान से ८५० ई० कहा जा सकता है। अतः विज्जका का आविर्भाव काल दण्डी तथा मुकुल भट्ट के बीच का काल (७१० ई०—८५० ई०) माना जा सकता है।

समय

कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि 'विज्जका' तथा कार्णाटी 'विजया', जिसकी वैदर्भी रीति की प्रशंसा राजशेखर ने कालिदास

से उपमा देकर खूब की है,[1] दोनों एक ही व्यक्ति हैं[2]। पुलकेशी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य की महारानी 'विजयभट्टारिका' के साथ 'विजया' की एकता नाम-साम्य की भित्ति पर मानकर इनका समय ६६० ई० माना गया है; क्योंकि विजयभट्टारिका के लेख इसी समय के पाए जाते हैं[3]। अतएव वे 'विज्जका' को भी सप्तम शताब्दी में बतलाते हैं।

उन विद्वानों की यह पूर्वोक्त सम्मति उतनी अच्छी नहीं जँचती। कर्नाट देश की रहने वाली 'विजया' सम्भवतः महारानी विजया हो सकती है; क्योंकि इसके पोषक प्रमाण हैं। 'चन्द्रादित्य' सम्पूर्ण महाराष्ट्र का राजा था, कर्नाटक उसकी राज्य-सीमा के भीतर ही था। अतएव 'महारानी विजयभट्टारिका' के कर्नाट-देशीय होने में कोई विशेष सन्देह नहीं है। दूसरे भट्टारिका शब्द

---

१. सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या विदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥

इससे 'विजया' का कर्णाटदेशीय होना सिद्ध होता है। इस के अतिरिक्त निम्नलिखित गर्वोक्तिमय पद्य की लेखिका भी यही जान पड़ती है:—

एकोऽभूत्नलिनात् ततश्च पुलिनात् वल्मीकतश्चापरे
ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया ॥

(कर्पूर मञ्जरी, काव्यमाला, पृ० ५ भूमिका)

२. काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ४१; डाक्टर एस. के. डे. अलंकार शास्त्र का इतिहास।

३. Narur plates and Kocherein plates of the Queen In Indian Antiquary Vols. VII & VIII.

तो केवल उपाधिसूचक है। जिस प्रकार महाराज को 'भट्टारक' कहा जाता था, उसी प्रकार राजमहिषी भी भट्टारिका कही जाती थी। अतएव उनका भी नाम 'विजया' ही हो सकता है। इस एकीकरण में अधिक सन्देह नहीं मालूम पड़ता। परंतु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में 'विजया' को 'विज्जका' का ही नामान्तर मानना हमारी सम्मति में उचित नही प्रतीत होता। एक ही प्रमाण ऐसा है जिससे 'विज्जका' और कर्नाटी 'विजया' की एकता सिद्ध हो सकती है। विज्जका ने स्वयं ही अपने को उक्त उद्धृत पद्य में 'सरस्वती' माना है तथा विजया के विषय में राजशेखर ने भी 'सरस्वतीव कार्णाटी' कहा है। अतः काव्य-प्रतिभा में दोनों ही सरस्वती के समान मानी गई हैं। इस वर्णन से सम्भव है, दोनों एक ही व्यक्ति हों। तथापि 'विज्जका' का समय ७वीं शताब्दी में मानना ठीक नहीं। ७वीं शताब्दी के अन्त में होनेवाले महाकवि दण्डी के पूर्वोक्त उल्लेख से भी इसमें सन्देह प्रकट किया जा सकता है। 'विज्जका' के विषय में इतना कहना अवशिष्ट है कि इनका जन्म सम्भवतः दक्षिण देश में हुआ था। इससे अधिक इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं।

कविता

इनकी रसभावमयी कविता की चर्चा की जा चुकी है। अधिकांश कविताओं में शृङ्गार रस का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है; भाव का सौष्ठव देखते ही बनता है। स्वभावोक्ति की भी मात्रा खूब है। जरा इनके काव्य-रस का आस्वादन कीजिए।

विज्जका सहृदय भावुक का वर्णन कितने मार्मिक तथा सच्चे शब्दों में कर रही हैं:—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णींभवतोऽयमञ्जलिः॥

सच्चा कवि अपने भावों को अभिधा के द्वारा कभी प्रकट नहीं करता। यदि वह साफ तौर से कह डालें तो उनमें मज़ा ही क्या आवेगा? वह केवल व्यंजना की सहायता से उन्हें प्रकट करता है। शब्दों के द्वारा अभिप्राय की अभिव्यक्ति नहीं होती, प्रत्युत कुछ रसभरे मनोहर पदों में यह भाव झलकता रहता है। ऐसे महाकवि का सच्चा मर्मज्ञ किसे कह सकते हैं? उर्दू कविता के भावुकों की भाँति केवल भावावेश में 'वाह वाह' कह-कर ही अपनी सहृदयता का पता देना संस्कृत कविता के सच्चे रसिक का काम नहीं। कवि के गूढ़ व्यञ्जना-द्योतित अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा काव्यानन्द की सूचना नहीं देता, वरन् चुप रहकर भी जिसके रोमाञ्चित अङ्ग ही हृदय की आनन्द लहरी का पता साफ़ शब्दों में बतलाते हैं, वही सच्चा रसिक है। ऐसे सहृदय शिरोमणि को मैं प्रणाम करती हूँ। रसिक की क्या ही सच्ची परिभाषा है! सारांश यह है कि जिस प्रकार सच्चे कवि का कार्य ध्वनि के द्वारा भावबोधन कराना है, उसी भाँति सच्चे भावुक का कार्य व्यञ्जना के द्वारा ही उसकी सराहना करना है।

कोषः स्फीततरः स्थितानि परितः पत्राणि दुर्गं जलं
मैत्रं मण्डलमुज्वलं चिरमधो नीतास्तथा कण्टकाः।
इत्याकृष्टशिलीमुखेन रचनां कृत्वा तदप्यद्भुतं
यत्पद्मेन जिगीषुणापि न जितं मुग्धे ! त्वदीयं मुखम्।

हे मुग्धे! कमल ने बड़ी बड़ी तैयारियाँ करके तुम्हारे मुख पर धावा बोल दिया। परंतु फल क्या हुआ? कुछ भी नहीं। अपना विषण्ण वदन लेकर चुपचाप बैठ गया। खिला हुआ कोश उसका खज़ाना (कोष) है; चारों ओर फैले हुए पत्ते पत्र (वाहन) हैं; जल दुर्गम (किला) है; उज्ज्वल मैत्रमण्डल (सूर्य मण्डल) उसका मित्र है। कण्टकों को भी उसने नीचे कर दिया है। इतना ही नहीं, उसने शिलीमुख (बाण तथा भ्रमर) को भी खींच रखा है। परन्तु हज़रत से इतने सामान के रहते हुए भी कुछ नहीं हो सका। होता भी क्या खाक! आज तक इस मुख को किसी ने जीता है कि वे जीतने चले हैं! कमल विजयी मुख की प्रशंसा कितनी सुन्दर है।

केनात्र चम्पकतरो बत रोपितोऽसि,
कुग्रामपामरजनान्तिकवाटिकायाम्।
यत्र प्ररूढनवशाकविवृद्धिलोभात्
गोभग्नवाटघटनोचितपल्लवोऽसि ॥

हे चम्पक के पेड़! तुम्हें किसने इस वाटिका में रोपा है? जानते नहीं हो; इसके आसपास दुष्ट जनों की बस्ती है, जो इस गरज से कि उगे हुए साग—साधारण तरकारी—और भी बढ़ते

जायँ, तुम्हारे पल्लव की गाय से तोड़ी हुई चहार-दीवारी की तरह बुरी दशा कर डालेंगे।

> विलासममृणोल्लसन्मुसललोलदोःकन्दली-
> परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्बन्धुराः।
> लसन्ति कलहुंकृतिप्रसभकम्पितोरःस्थल-
> त्रुटद्गमकसंकुला कलमकण्डिनीगीतयः॥

धान कूटने का क्या ही सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है! स्त्रियाँ चिकने तथा सुन्दर मूसलों से धान कूट रही हैं। इस कार्य में उनके चञ्चल हाथों के चलने से वलय (चूड़ियाँ) आपस में टकराते हैं जिससे बहुत ही रमणीय ध्वनि होती है। वे बीच में मनोहर 'हुंकार' कर रही हैं, उनके उरःस्थल अत्यन्त कम्पित हो रहे हैं। गमकों—तालस्वरों-से युक्त इन धान कूटनेवालियों के गीत कैसे मनोहर जान पड़ते हैं। श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार की अनुपम छटा है।

> गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते
> निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः।
> तथा चैवोत्प्रेक्ष्य प्रियसखि गतान्तांश्च दिवसान्
> न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम्॥

इसमें विरहिणी की मर्म भरी बातें कितने साफ़ शब्दों में बताई गई हैं। विरहिणी अपनी प्यारी सखी से कह रही है कि हे सखि! जब प्रेम का बन्धन ढीला पड़ गया, हृदय से उसके लिये अत्यंत सम्मान हट गया, जब सद्भाव की इतिश्री हो गई,

जब वह मेरा प्राण प्यारा साधारण स्नेह-रहित मनुष्य की भांति चला गया और इतने दिन भी बीत गए, परन्तु उसने मेरी कोई खोज खबर नहीं ली, भला कहो तो सही कि तब किस सुख की आशा से यह हृदय अभी ठहरा हुआ है? टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाता? ऐसी दशा में तो बस 'मरणं श्रेयः।'

> प्रियसखि ! विपद्दण्डप्रान्तप्रपातपरम्परा-
> परिचयचले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः।
> मृदमिव बलात् पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवत्
> भ्रमयति मनो, नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥

विपद् की मारी हुई नायिका सखी से कह रही है:-मेरी प्यारी सखी ! चतुर कुम्हार के समान ब्रह्मा चिन्तारूपी चाक पर मिट्टी के लोंदे के समान मेरे मन को बलात् रखकर विपत्ति के डंडे के कोने से ज़ोरों से घुमा रहा है। जिस प्रकार कुलाल मिट्टी के लोंदे को चाक पर पहले खूब घुमाता है, पीछे जो चाहता है बना डालता है, उसी प्रकार ब्रह्मा भी चिन्ता पर मेरे मन को घुमा रहा है। परन्तु न मालूम अब इसे क्या बना डालेगा! जानूँ तो कैसे जानूँ। विपत्ति में चिन्ताग्रस्त अबला की दयनीय दशा का कैसा सुन्दर चित्रण है! साङ्गरूपक की छटा भी देखते ही बनती है।

> विरम विफलायासादस्माद् दुरध्यवसायतो
> विपति महतां धैर्यभ्रंशं यदीक्षितुमीहसे।

अयि जड विधे! कल्पापायव्यपेतनिजक्रमाः
कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः ॥

कोई कवि सज्जनों पर विपत्ति ढाहनेवाले ब्रह्मा को चेतावनी दे रहा है—हे ब्रह्मा, मनस्वी सज्जनों पर आपत्ति गिराने का परिश्रम क्यों कर रहे हो? यह परिश्रम बिल्कुल ही व्यर्थ होगा। इससे इनका धैर्य कभी टूट नहीं सकता। क्या ये लोग क्षुद्र कुल-पर्वत हैं या जलराशि हैं जो प्रलय काल में अपने कार्यक्रम को बिल्कुल ही छोड़ देते हैं? कल्पांत में डिगनेवाले कुल-पर्वतों से तथा अपनी मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले समुद्रों से आपत्ति में भी धैर्य न छोड़ने वाले महापुरुषों की तुलना क्या कभी की जा सकती है?

माद्यद्दिग्गजदानलिप्तकरटप्रक्षालनक्षोभिताः
व्योम्नः सीम्नि विचेरुरप्रतिहता यस्योर्मयो निर्मलाः।
कष्टं भाग्यविपर्ययेण सरसः कल्पांतरस्थायिन-
स्तस्याप्येकबकप्रचारकलुषं कालेन जातं जलम् ॥

तालाब की दशा में कैसा विचित्र परिवर्तन हुआ है! मतवाले दिग्गजों के मद से लिप्त गण्डस्थलों के प्रक्षालन से क्षुब्ध होकर जिसकी निर्मल तरंगें बिना रोक टोक के आकाश की सीमा में विचरण करती थीं, कल्पान्तर स्थायी उसी तालाब का जल अब एक ही बगुले के चलने से कलुषित हो गया है। बड़े कष्ट की बात है! भाग्य के फेर से ही ऐसे बड़े तालाब की ऐसी दुर्दशा हो गई। क्या किया जाय! दैव सबसे बलवान् है।

१६—भल्लट

पृथ्वीतल पर स्वर्गरूपिणी काश्मीर-भूमि का मस्तक सहस्रों कविरत्नों से सुशोभित हो रहा है। वास्तव में काव्य-प्रतिभा के उद्भव के लिये यह देश हमेशा प्रसिद्ध रहा है। बिल्हण ने बहुत ही ठीक कहा है कि कविता-विलास कुंकुम केसर के सहोदर[१] हुआ करते हैं; क्योंकि शारदादेश (काश्मीर) को छोड़कर इनका अंकुर अन्यत्र कहीं नहीं उगता। काश्मीर केसर के साथ साथ कविता की भी जन्मभूमि है। जिस प्रकार यह व्याकरण तथा दर्शन का क्रीडा-स्थल है, उसी प्रकार यह काव्य-कला का भी ललित लीलागार है। भारत का शायद ही कोई प्रान्त इस भूमि के कवि-वैभव की समता कर सकता है। कविगणों के साथ साथ योग्य समालोचकों की भी जन्मदात्री यही प्रसिद्ध भूमि है। परन्तु दुर्दैव ने कितने ही ज्वाज्वल्यमान कविरत्नों की विमल छटा पर अज्ञान का ऐसा दुर्भेद्य आवरण डाल दिया है कि शिक्षित समुदाय इसकी मधुर आभा से प्रायः वञ्चित है। ऐसे ही प्रतिभा-सम्पन्न परन्तु यत्किञ्चित् अप्रसिद्ध कविवरों की श्रेणी में 'भल्लट' का नाम अग्रगण्य है।

---

१ सहोदराः कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥
—विक्रमांकदेवचरित

आपके जीवन-वृत्तान्त के विषय में हम बिल्कुल अन्धकार में हैं। आपकी रचना में इसका कहीं उल्लेख भी नहीं है। परन्तु आपकी जन्मभूमि काश्मीर ही है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। पहिला कारण यह है कि आपका नाम काश्मीरदेशीय कवियों तथा पण्डितों के नामों से मिलता है। जैयट, कैयट, उब्बट, और मम्मट आदि नामों के तुल्य ही आपका 'भल्लट' नाम है। दूसरा कारण यह है कि वहीं के अलंकार शास्त्रों में आपके उद्धरण पाये जाते हैं। अन्य प्रान्तीय ग्रन्थों में आपके पद्य प्रायः नहीं पाये जाते। मम्मट कृत 'काव्य-प्रकाश' और काश्मीरी कवि-चूडामणि क्षेमेन्द्र के अनेक ग्रन्थों में आपके कितने ही पद्यरत्न मिलते हैं। सुभाषित ग्रन्थों में भी आपके ग्रन्थ के उद्धरण पाये जाते हैं।

जीवन-वृत्तान्त

समय-निरूपण के विषय में केवल बाह्य प्रमाण कुछ सहायता प्रदान करते हैं। पाठक जानते होंगे कि आनन्द-वर्धनाचार्य (नवीं शताब्दी) ने 'ध्वन्यालोक' नामक ध्वनि विषयक अपूर्व ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा होना सिद्ध किया है। यह ग्रन्थ अलंकार शास्त्र का शिरोभूषण है, यह कहने में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। पूर्वाचार्यों (भामह और वामन) ने व्यंग्य अर्थ को किसी तरह से अलंकार में ही घुसेड़ दिया था; परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि को ही काव्यात्मा सिद्ध कर

काल-निरूपण

एक नवीन आलंकारिक सम्प्रदाय की सृष्टि की। इस अपूर्व ग्रन्थ की टीका काश्मीर के शैव सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य ने 'लोचन' नाम से लिखी है। यह टीका भी विद्वत्तामय होने से कवि-समाज में एक आदरणीय वस्तु है। पीछे होने वाले अलंकार कर्त्ताओं ने—मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने—इन्हीं आचार्यों की प्रणाली मानी है और ध्वनि काव्य को श्रेष्ठ काव्य ठहराया है। अभिनवगुप्त का समय दशवीं शताब्दी का अन्त और ग्यारहवीं शताब्दी का प्रथम भाग है। इसी 'लोचन' टीका में अभिनवगुप्त ने हमारे चरितनायक भल्लट के कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है। इससे सूचित होता है कि उस समय इनकी कविता आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। तभी तो उदाहरण के लिये उपयुक्त समझी गई। अतएव कवि भल्लट दशवीं शताब्दी के पहिले ही हुए होंगे। काव्यमाला के सम्पादकों ने इनके समय में इतना ही लिखकर सन्तोष किया है, परन्तु इनका आविर्भावकाल इसके भी पहले दिखलाया जा सकता है। लोचनकार की बात तो दूर रहे स्वयं आलोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में उदाहरण देने के लिए भल्लट के कई पद्यों को उद्धृत किया है। 'परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरः'—यह भल्लट-शतक का पद्य ध्वन्यालोक में दो बार उद्धृत किया गया है (पृष्ठ ५३, २१८)। अप्रस्तुत-प्रशंसा में जो अर्थ वाच्य होता है वह कभी विवक्षित रहता है, कभी अविवक्षित रहता है और कभी विवक्षिताविवक्षित।

'परार्थे यः पीड़ां' विवक्षित के उदाहरण में दिया गया है। 'कस्त्वं भो ? कथयामि, दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं'—भल्लट का यह पद्य अविवक्षित वस्तु को सूचित करने के लिए दिया गया है। आनन्दवर्धन के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण भल्लट आनन्द से पूर्ववर्ती ठहरते हैं। कहा गया है कि आनन्दवर्धन नवमी शताब्दी के मध्य भाग में अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में विद्यमान थे। अतः भल्लट नवमीं शताब्दी से प्राचीन है। सम्भवतः आठवीं के अन्तिम भाग में ये काश्मीर में विद्यमान थे।

आपकी कीर्ति केवल एक 'शतक' पर अवलम्बित है, जिसे

ग्रन्थ

'भल्लट शतक' कहते हैं। उसे छोड़कर आपका कोई दूसरा ग्रन्थ अबतक उपलब्ध नहीं हुआ है।

'भल्लट शतक' मुक्तक पद्यों का संग्रह है। कविता अनेक प्रकार की है परन्तु अन्योक्ति की बहुलता है। सुन्दर शिक्षा देने वाले नीतिमय पद्यों का यह आकर है। ऐसी अनूठी अन्योक्ति संस्कृत-साहित्य में बहुत कम देखने में आती है। पण्डितराज जगन्नाथ ही कुछ कुछ इससे तुलना कर सकते हैं। पद्यों में मधुरता तथा प्रसाद गुण कूट कूट कर भरा हुआ है। सुन्दर अलंकारों की छटा मन को मुग्ध कर देती है। मम्मटाचार्य ने अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप इनके कतिपय पद्यों को उद्धृत किया है। सुन्दर स्वभावोक्ति, कमनीय उत्प्रेक्षा, विमल उपमा तथा उपदेशमय अर्थान्तरन्यास सहृदयों के हृदय को आनन्द-निर्भर कर देते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि भल्लट संस्कृत-साहित्य के एक महाकवि

थे। नीचे के पद्य में भल्लट की गणना उन महाकवियों के साथ की गई है जो अपनी रचनाओं से संसार को आनन्दित करते हैं।

माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्यादयो भोजराजः।
श्रीदण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लटो भट्टबाणः
ख्याताश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति ॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भल्लट इन सुकवियों के टक्कर कविता के कवि हैं। इनकी विमल रचना के कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं।

विशालं शाल्मल्या नयनसुभगं वीक्ष्य कुसुमं
शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्य सदृशम्।
इति ध्यात्वोपास्तं फलमपि च दैवात्परिणतं
विपाके तूलोऽन्तः सपदि मरुता सोऽप्यपहृतः ॥

विशाल सेमर के वृक्ष में नयन को सुखदेने वाले फूल खिले हुए थे। शुक की दृष्टि उसपर पड़ी, सोचा कि जब फूल इतना रमणीय है तब इसका फल भी अवश्य ही ऐसा ही मनोरम होगा। इसी विचार से उसने सेमर की सेवा की। ईश्वर की दया से—प्रकृति की प्रेरणा से—उसमें फल भी निकल आये। शुक को आशा बँधी थी कि पकने पर ये, हो न हो, अवश्य मधुर तथा सुन्दर होंगे। परन्तु पकने पर भीतर से क्या निकला ? केवल रुई ! और उसे भी वायुदेव ने शीघ्र उड़ा डाला। जिस आशा से बेचारा शुक इतना आनन्द पाता था - इतने दिनों तक जिस फल

की प्रतीक्षा की, वह अन्त में बिल्कुल शून्य निकला—आशा निराशा में परिणत हो गयी। कहिये, कितनी सुन्दर सूक्ति है। आधुनिक 'देखाऊमल्लों' की प्रकृति का कैसा सच्चा परिचय दिया गया है।

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः॥

कोई समुद्र को जल का खज़ाना कहता है, तो कोई रत्नों का आकर। हमलोगों के गले प्यास के मारे सूख गये थे—विषय-तृष्णा के मारे वास्तव में हमारे मन चञ्चल हो गये थे। हमने समझा कि हमारा मनोरथ समुद्रदेव क्यों न पूरा कर देंगे। वे पानी के घर हैं और रत्नों के खज़ाने। इसी आशा में बँधकर हमने उनकी सेवा की। परन्तु कौन जानता था कि अगस्त्यजी इसे अपनी करपुटी ही में रखकर सोख जायेंगे—इतने बड़े सागर को, जिसमें मत्स्य तथा मकरों की असंख्य संख्या निवास करती है, केवल आचमन कर डालेंगे। अरे! हम बहुत ठगे गये। नाम सुनकर आयें, परन्तु वास्तव में प्रशंसा के योग्य कुछ भी नहीं पाया। ठीक है 'दूर का ढोल सुहावना होता है'। कहिये निराशा की पराकाष्ठा कैसी दर्शनीय है। काव्य-प्रकाश में मम्मट ने इस पद्य को विरोधाभास के दृष्टान्त में दिया है।

एतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन् मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अंगुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः,
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥

कोई मनुष्य अपने मित्र से किसी मूर्ख की बात कह रहा है कि भाई, मैं उसकी हालत क्या कहूँ! वह ऐसा जड़ है कि कमलिनी के पत्ते पर गिरे हुये ओस के कण को मुक्तामणि समझता है, भला ऐसा भी कोई मूर्ख होगा। मित्र ने उत्तर दिया—एक दूसरे जड़ात्मा का हाल तो सुनो। कमलिनी के दल पर गिरा हुआ ओसकण उसकी अंगुली के अगले हिस्से के छूते ही ज़मीन पर गिर पड़ा—गायब हो गया। परन्तु उस मूर्ख को रात को सोच के मारे नींद नहीं आती है, वह सोचा करता है कि हाय! अंगुली के छूते ही वह मेरा चमकता मोती कहाँ उड़ गया; बस इसी में वह हैरान है। रातदिन इसी सोच में बीत जाते हैं, नींद दर्शन नहीं देती। कहो; उससे वह बड़ा मूर्ख नहीं है? असली बात यह है कि मूर्खों को इसी प्रकार अयोग्य वस्तुओं में ममता हुआ करती है। कितना रमणीय उदाहरण है। मूर्खों की अस्थान-ममता का पता कैसे सुन्दर शब्दों में दिया गया है। काव्यप्रकाश में यह पद्य अप्रस्तुत-प्रशंसा के उदाहरण में उद्धृत किया गया है।

दुष्टों की वाणी में हालाहल विष निवास करता है। इसका सुन्दर वर्णन देखिये:—

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट !
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥

हे हालाहल महाशय! किस महापुरुष ने आपको एक से एक बढ़कर ऊँचे स्थानों में रहने का उपदेश दिया है। आपने उनके उपदेश को कैसा अच्छा माना है। पहिले आपका निवास समुद्र के हृदय (बीच) में था; अनन्तर आप शिवजी के कण्ठ में रहने लगे। हृदय से एकदम कूदकर कण्ठ में आ बसे ! और आजकल आप दुष्टों के वचन में रहते हैं। एक पग फिर आगे बढ़े। कहाँ पहिले कण्ठ में रहते थे, अब आकर सीधे मुँह में घुस बैठे। क्या खूब ! किसने आपको इस विद्या का उपदेश किया है ? पर्याय-अलंकार का कैसा विशद उदाहरण है। दुष्टों का वचन विष-तुल्य होता है, इस साधारण बात को कवि ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से कैसा सुन्दर रूप दे दिया है। मम्मटने पर्याय अलंकार के उदाहरण दिखलाते समय इस पद्य को उद्धृत कियाहै।

चिन्तामणेस्तृणमणेश्च कृतं विधात्रा
केनोभयोरपि मणित्वमदः समानम्।
नैकोऽर्थितानि ददर्थिजनाय खिन्नो
गृह्णञ्जरत्तृणलवं न तु लज्जतेऽन्यः ॥

ब्रह्मा भी बड़ा मूर्ख है। उसने चिन्तामणि तथा तृणमणि (एक प्रकार का पत्थर जो तृण को अपनी ओर खींचता है)

में किस गुण की समता देखी जिससे दोनों को मणि बना दिया। देखिये, दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। चिन्तामणि याचकगणों को धन देते देते कभी भी खिन्न नहीं होता, वह लगातार परोपकार में लगा हुआ है। उधर तृणमणि की दशा देखिये; टूटे तृण के छोटे टुकड़ों को लेते उसे लाज नहीं आती! कहाँ चिन्तामणि की श्रद्धेय उदारता और कहाँ तृणमणि की संकीर्ण-हृदयता! कहाँ राजा भोज और कहाँ भोजवा तेली परन्तु ब्रह्मा की करतूत ठहरी, दोनों को मणि बना दिया। कितना चमत्कार-जनक पद्य है। इसी भाव का यह एक दूसरा पद्य 'भल्लट शतक' में मिलता है:—

> आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
> मध्ये वारिधि वा वसन् तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम्।
> खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
> धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्॥

यदि विहङ्गमों (आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि) के बुलाये जाने पर मशक भी हवा में उड़ने के कारण आवें, तो रोका नहीं जा सकता है। समुद्र के बीच में रहने के कारण से तृणमणि भी मणि की शोभा धारण करता है। तेजस्वियों के मध्य में खद्योत भी अपने को तेजवाला समझकर चलता है—लजाता नहीं। अतएव सामान्य धर्म को धिक्कार है। मणित्व रहने के कारण से ही तृणमणि की भी गणना उन चमकीले रत्नों में होती है। दोष सामान्यधर्म (मणित्त्व) का ही है। सामान्यधर्म

वाता वान्तु कदम्बरेणुवहला नृत्यन्तु सर्पद्विषः
सोत्साहा नवतोयदानगुरवो मुञ्चन्तु नादं घनाः।
मग्नां कान्तवियोगदुःखदहने मां वीक्ष्य दीनाननां
विद्युत्प्रस्फुरसि त्वमप्यकरुणे! स्त्रीत्वेऽपि तुल्ये सति॥

किसी प्रोषितपतिका के हृदय की आह निकल रही है। वर्षा-काल अपने सहायकों के साथ वियोगिनी जन को उद्वेजित करने के लिये आ पहुँचा है। पति परदेश में है। नायिका कान्त-वियोग में कामाग्नि से जली जा रही है। वह कहती है कि कदम्ब के पराग से मिले हुये वायु बहें, घन घमण्ड को देखकर मोर नाचें, मेघ गम्भीर गर्जना करें और जल बरसावें। मैं कान्त की वियोगाग्नि में जली जा रही हूँ। परन्तु इन पुरुषों से मेरी उलाहना कुछ भी नहीं है। भला पुरुषों को भी कभी दया आती है! अबलायें मरें, उन्हें इसकी परवाह क्या? वायु, मयूर और मेघ सब पुरुष हैं, परन्तु नारी का हृदय बड़ा कोमल होता है। वह दूसरों को, खासकर स्त्री को, दुःख में देखकर दया दिखाती है, सहानुभूति प्रदर्शित करती है। परन्तु हे निर्दयी दामिनि! तुम भी मेरे समान नारी हो, फिर भी दया और सहानुभूति को तिलाञ्जलि देकर क्यों चमक रही हो? भला नारी का यह व्यवहार कभी श्लाघनीय है? मेरी सच्ची उलाहना तुम्हीं से है। तुम जान बूझकर मुझे मारे डाल रही हो। दया नहीं करती हो? पाठक देखें, विजुली को उलाहना देना कैसा युक्तियुक्त है!

पाठकों ने देख लिया कि महाकवि भल्लट में कवि-प्रतिभा

कितनी है। अनुकरणीय उपदेशों को देने में आप कितने सिद्ध-हस्त हैं। आपके कथनानुसार ही आपके शब्द अर्थान्तर बलात् दे रहे हैं। सत्कविता का जो लक्षण इन्होंने दिया है, वह ठीक इनकी कविता के लिए उपयुक्त है। आप कहते हैं:—

बद्धा यदर्पणरसेन विमर्दपूर्व-
मर्थान् कथं झटिति तान् प्रकृतान्न दद्युः।
चोरा इवातिमृदवो महतां कवीना—
मर्थान्तराण्यपि हठात् वितरन्ति शब्दाः॥

अर्थात् चोरों के समान महान् कवियों के अत्यन्त कोमल शब्द बलात्कार दूसरे अर्थों को भी देते हैं। जिस रस को, जिस अर्थ को, देने के लिये ये शब्द खोजकर पद्य में निबद्ध किये गये हैं उन प्रकृत अर्थों को तो स्वयं वे दे देते ही हैं। चोरों का उदाहरण काव्य-गत शब्द के लिये कितना समुचित है। जिन चीजों को ढूंढ़ निका-लने के लिये चोरों को पकड़कर बाँध रखते हैं उन चीज़ों को तो वे स्वयं दे ही देते हैं, साथ ही साथ वे दूसरी चीज़ों को भी उपस्थित करते हैं। महाकवियों के शब्द भी प्रकृत अर्थ का बोध कराकर व्यङ्ग्यार्थ को अवश्य द्योतित करते हैं। इससे बढ़कर महाकवि की शब्दावली की प्रशंसा क्या की जाय? कहना न होगा कि ये बातें आपके शब्द-गुम्फों में पूर्णतया ठीक उतरती हैं। अतएव यद्यपि आप-का काव्य बहुत छोटा है, तथापि निस्सन्देह भल्लट एक महाकवि हैं।

२०—त्रिविक्रम भट्ट

संस्कृत साहित्य में नलचम्पू का बड़ा नाम है। इससे बढ़कर रमणीय तथा प्राचीन दूसरा कोई चम्पू नहीं। भट्ट त्रिविक्रम इसी नलचम्पू के रचयिता हैं। यहाँ त्रिविक्रम भट्ट के समय तथा काव्य का वर्णन संक्षेप में पाठकों के सामने किया जाता है।

चम्पू काव्य

संस्कृत आलंकारिकों ने रचना-विभेद के कारण काव्य के तीन प्रकार माने हैं। गद्य, पद्य और चम्पू। छन्दःशास्त्र के नियमों के अनुकूल रचे गये काव्यग्रन्थ को 'पद्य' कहा जाता है और जो काव्य छन्दोबद्ध नहीं हैं उन्हें 'गद्य' के नाम से पुकारते हैं। जहाँ गद्य तथा पद्य का समुचित मिश्रण हों उसे 'चम्पू' कहा जाता है—गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। चम्पू-काव्य की उपलब्धि साहित्य में बहुत पीछे होती है—दसवीं शताब्दी से पहले का कोई भी चम्पू अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है; परन्तु चम्पू का पूर्वरूप प्राचीन साहित्य में आज भी मिल रहा है। बौद्ध-काल में भी गद्यपद्य के मिश्रण के उदाहरण मिलते हैं। डाक्टर ओल्डनबर्ग (Dr. Oldenberg) ने सप्रमाण दिखलाया है कि जातकों में गद्य-पद्य का संमिश्रण है। जातक पाली भाषा में हैं, परन्तु संस्कृत में भी गद्यपद्यमयी वाणी के दृष्टान्त प्राचीनकाल में मिलते हैं। जातक-माला तथा हरिषेण की प्रशस्ति में पद्य के साथ साथ गद्य की

रचना की गई है। अतः इन्हें चम्पू काव्य के पूर्वरूप मानने में कोई भी विप्रपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती; परन्तु काव्य के सम्पूर्ण लक्षणों से समन्वित चम्पू की रचना के नमूने बहुत ही पीछे के समय के आजकल मिलते हैं। नल-चम्पू ही चम्पू-काव्य का प्रथम निदर्शन है—चम्पू-काव्य का पहला उदाहरण है जिसमें कविने गद्य तथा पद्य दोनों में समान भाव में काव्यगुणों का उत्कर्ष दिखलाने का स्पृहणीय उद्योग दिखलाया है।

नल-चम्पू के रचयिता का नाम **त्रिविक्रम** है। चम्पू में इन्होंने अपने कुल का संक्षिप्त उल्लेख किया है। इनका शाण्डिल्य गोत्र में जन्म हुआ था। इनके पितामह का नाम **श्रीधर** था[१] तथा पिता का **नेमादित्य**[२]। ये नेमादित्य अपने समय के एक प्रसिद्ध

१. तेषां वंशे विशदयशसां श्रीधरस्यात्मजोऽभूत्
देवा-(नेमा) दित्यः स्वमतिविकसद्वेदविद्याविवेकः।
उत्कल्लोला दिशि दिशि जनाः कीर्तिपीयूषसिन्धुं
यस्याद्यापि श्रवणपुटकैः कूणिताक्षाः पिबन्ति॥
तैस्तैरात्मगुणैर्येन त्रिलोक्यास्तिलकायितम्।
तस्मादस्मि सुतो जातो जाड्यपात्रं त्रिविक्रमः॥
(१—१९, २०)

२. नलचम्पू की किन्हीं प्रतियों में इनके पिता का नाम 'देवादित्य' मिलता है, परन्तु यह ठीक नहीं। 'नेमादित्य' ही सच्चा नाम मालूम पड़ता है; क्योंकि त्रिविक्रम ने इन्द्रराज के नौसारी शिलालेख में अपने को नेमादित्य का पुत्र बतलाया है—

श्री त्रिविक्रमभट्टेन नेमादित्यस्य सूनुना।
कृता शस्ता प्रशस्तेयमिन्द्रराजाङ्घ्रिसेविना॥

विद्वान् थे तथा किसी राजा की सभा में इन्हें प्रधान पण्डित का पद मिला था। नल-चम्पू की रचना के

जीवनवृत्त

विषय में पण्डितमण्डली में एक प्रवाद प्रसिद्ध है जिसका उल्लेख यहाँ किया जाता है। सुनते हैं कि त्रिविक्रम भट्ट बचपन में बड़े मूर्ख थे—कुछ भी पढ़े लिखे न थ। इनके पिता किसी राजा के यहाँ सभापण्डित थे, कार्यवश कहीं बाहर गये थे। उसी समय दिग्विजय की लालसा से कोई इनके पिता का विद्वेषी विद्वान् सभा में आया और किसी पण्डित से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रगट की। नेमादित्य को घर से बुलाने के लिये दूत भेजा गया परन्तु नेमादित्य के वहाँ न होने से त्रिविक्रमभट्ट को राजसभा में चलने के लिये कहा गया। त्रिविक्रम ने अपनी कुलदेवी सरस्वती से पिता की प्रतिष्ठा रखने के लिये प्रार्थना की। सरस्वती ने आशीर्वाद दिया कि जब तक तुम्हारे पिता लौटकर नहीं आते, तब तक मैं तुम्हारे मुख में निवास करूँगी। भारती के प्रसाद को पाकर त्रिविक्रम राजसभा में पधारे और प्रतिपक्षी पण्डित को परास्त किया। राजा ने इनका अतिशय आदर सत्कार किया। घर लौट आने पर इन्होंने बिचारा कि जब तक भगवती की दया है तबतक मैं कोई ललित प्रबन्ध बनाऊँ। अतएव उन्होंने नल-चम्पू का लिखना प्रारम्भ किया। जिस दिन सप्तम उच्छ्वास समाप्त हुआ, उसी दिन इनके पिता घर लौट आये। सरस्वती इनके मुँह से निकल गई और जहाँ तक लिखा गया था, वहीं तक यह काव्य रह गया। इस किम्वदन्ती का उल्लेख नलचम्पू की विवृत्ति

नामक टीका के प्रारम्भ में किया गया है।

नलचम्पू की रचना का समय अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है।

समय

नलचम्पू के प्रथम उच्छ्वास में त्रिविक्रम ने बाण भट्ट का नामनिर्देश किया है—

शश्वत्बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जनः।

इससे सिद्ध है कि नलचम्पू की रचना बाणभट्ट के पीछे की गई थी। भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में नलचम्पू का निम्न-लिखित पद्य उद्धृत किया है:—

पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव वहति पयः पश्यत पयोष्णी॥
(६।२६)

अतएव त्रिविक्रमभट्ट बाण तथा भोज के बीच में थे। इस ग्रन्थ की रचना सप्तम शतक तथा एकादश शतक के किसी मध्य के काल में की गई थी। शिलालेखों के अध्ययन से पता लगता है कि त्रिविक्रम राष्ट्रकूट वंशी कृष्ण द्वितीय के पौत्र तथा जगत्तुंग और लक्ष्मी के पुत्र इन्द्रराज के सभापण्डित थे। इन्द्रराज का नवसारी का शिलालेख[1] स्वयं त्रिविक्रम की रचना है। इसका उल्लेख लेख के अन्त में किया गया है। इस शिलालेख का समय शक सम्वत

१. यह शिलालेख एपिग्राफिका इण्डिका (Epigraphica Indica) के भाग ९ पृष्ठ ३२ में छपा है।

८३६ है अर्थात् ९१५ ईस्वी है। अतः त्रिविक्रम दसवीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान थे, यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। इस प्रकार त्रिविक्रम और राजशेखर समकालीन थे।

महाकवि त्रिविक्रम भट्ट की दो रचनाओं का पता चलता है। ये दोनों ही चम्पू काव्य हैं। इनके अतिरिक्त कविवर ने अपने आश्रयदाता राष्ट्रकूट वंशीय इन्द्रराज (तृतीय) की प्रशस्ति लिखी है जो, जैसा पहले कहा गया है, नौसारी के शिलालेख के नाम से प्रसिद्ध है।

ग्रन्थ

इस प्रशस्ति में कविवर ने अपना तथा अपने पिता के नाम का उल्लेख किया है। इस प्रशस्ति की रचना शैली भी नलचम्पू की काव्य-रीतिसे बिल्कुल समानता रखती है। इस प्रशस्ति से एक मनोहर 'मालिनी' यहाँ उद्धृत की जाती है—

जयति विबुधबन्धुर्विन्ध्यविस्तारिवक्षः-
स्थलविमलविलोलत्कौस्तुभः कंसकेतुः।
मुखसरसिजरङ्गे यस्य नृत्यन्ति लक्ष्म्याः
स्मरभरपरिताम्यत्तारकास्ते कटाक्षाः॥

त्रिविक्रम विरचित दोनों काव्य-ग्रन्थ चम्पू हैं। एक का नाम है **मदालसा चम्पू** और दूसरे का **नल चम्पू**। मदालसा चम्पू के विषय में विशेष ज्ञात नहीं है। नलचम्पू चण्डपाल रचित 'विषमपदप्रकाश' नामक व्याख्या के साथ निर्णयसागर से प्रकाशित हुआ है। नलचम्पू को ही **दमयन्ती-कथा** के नाम से भी पुकारते हैं। इस चम्पू को रचना के सम्बन्ध में पण्डित-समाज में

जो प्रवाद प्रसिद्ध है उसका उल्लेख कवि के चरित लिखते समय किया गया है। इस काव्य में सात उच्छ्वास हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने शिव की स्तुति के अनन्तर कवि-प्रशंसा तथा खल-निन्दा की है। पीछे वाल्मीकि, व्यास, बाण तथा गुणाढ्य की कविता की प्रशस्त प्रशंसा है। संक्षेप में कवि-चरित भी दिया है। पहले उच्छ्वास में कथा का आरंभ है। शेष उच्छ्वासों में कथा का विस्तार किया गया है। नल के चरित्र वर्णन करने में कविवर ने अपनी नवीन कल्पना का अधिक उपयोग किया है। कवि ने इस ग्रन्थ को स्वयं 'दमयन्ती कथा' कहा है। इसके प्रत्येक उच्छ्वास के अन्तिम पद्य में 'हरचरणसरोज' पद कवि ने दिया है। अतः जिस प्रकार माघ-काव्य 'श्र्यङ्क' तथा किरात 'लक्ष्म्यङ्क' कहे जाते हैं उसी प्रकार कवि जी ने इस कथा को 'हरचरणसरोजाङ्का' कहा है। उदाहरण के लिए षष्ठ उच्छ्वास का अन्तिम पद्य नीचे दिया जाता है—

अपि भवत कृतार्थाः पौरनार्यश्चिरेण
व्रजतु निषधनाथश्चक्षुषां गोचरं वः।
ध्रुवमयमवतीर्णः स्वर्गलोकादनङ्गो
हरचरणसरोजद्वन्द्वलब्धप्रसादः ॥

त्रिविक्रमभट्ट की संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्धि है। इनके मनोरम पद्यों को अलंकारों के दृष्टान्त देने के लिए भोजराज तथा विश्वनाथ कविराज ने अपने अलंकार-ग्रन्थों में उद्धृत किया है। नल चम्पू में एक विचित्र विशिष्टता है। त्रिविक्रम संस्कृत साहित्य के सर्व-प्रधान श्लेष-कवि हैं। नलचम्पू

में जैसे सरस तथा प्रसन्न श्लेष पाये जाते हैं, उतने रमणीय तथा चमत्कार-जनक श्लेष इतनी अधिकता में अन्यत्र समुपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम के लग-भग चार सौ वर्ष पहिले सुबन्धु ने भी प्रत्यक्षर-श्लेषमयी वासवदत्ता का निर्माण किया जिसने, बाणभट्ट के कथनानुसार कवियों के गर्व को चूर्ण कर दिया (कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया) परन्तु त्रिविक्रम के सामने सुबन्धु की कविता कुछ फीकी जँचती है। अपने प्रबन्ध को प्रत्यक्षरश्लेषमय बनाने की प्रतिज्ञा को निभाने के लिये कविबन्धु सुबन्धु ने खूब प्रयत्न किया है—कोई उपाय छोड़ा नहीं है और इस कार्य में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है; परन्तु इस कारण से इनका गद्य अत्यन्त कठिन हो गया है। नितान्त अप्रचलित तथा अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग इनके गद्य में अधिकता से किया गया मिलता है। सुबन्धु ने अभङ्ग श्लेष को ही विशेषतया अपनाया है परन्तु त्रिविक्रम भट्ट ने अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से अपने काव्य को खूब बचाया है। इनकी कविता के पदविन्यास नितान्त मंजुल हैं—रचना इतनी मधुर है कि इसे बारम्बार पढ़ने पर भी चित्त को सन्तोष नहीं होता। 'शय्या' इतनी रमणीय है कि कोई भी पद अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। नल चम्पू की सबसे अधिक विशिष्टता है—सभङ्ग श्लेष का प्रयोग। कवि को पता है कि सभङ्ग श्लेष के कारण कविता में कठिनता आ जाती है (वाचः काठिन्यमायान्ति भङ्गश्लेषविशेषतः) परन्तु सहृदय

कविता की आलोचना

आलोचक एक स्वर से पुकारते हैं कि त्रिविक्रम की तरह सरल सभङ्ग श्लेष संस्कृत में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। त्रिविक्रम ने छोटे-छोटे अनुष्टुपों में इतनी सुन्दरता के साथ सभङ्गश्लेष का प्रयोग किया है कि उसके समझने में पदों के विशेष तोड़ मरोड़ करने की जरूरत नहीं होती और अर्थ भी अनायास विशेष परिश्रम के बिना हृदयङ्गम हो जाते हैं। श्लेष के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी प्रयोग कम चमत्कार-जनक नहीं है। इनकी 'परिसंख्या' भी कम मज़ेदार नहीं है। नलचम्पू में कालिदास की कविता के तरह न तो नैसर्गिक मञ्जुल पद-विन्यास है और न भवभूति की रचना के तरह शब्दार्थ का मनोरम सन्निवेश। फिर भी लेखक की विनीत सम्मति में नलचम्पू में कविता की कुछ ऐसी विशेषता दीख पड़ती है जो कवि की अपनी सम्पत्ति कही जा सकती है।

त्रिविक्रम भट्ट का दूसरा नाम 'यमुना-त्रिविक्रम' था। घण्टा-माघ तथा ताल-रत्नाकर की तरह रसिक आलोचकों ने इनके एक पद्य के रमणीय भाव पर मुग्ध होकर इन्हें यह नाम प्रदान किया था। वह पद्य नलचम्पू के षष्ठ उच्छ्‌वास के प्रारम्भ में पाया जाता है:—

उदयगिरिगतायां प्राक् प्रभापाण्डुताया-
मनुसरति निशीथे श्रृंगमस्ताचलस्य।
जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये
सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च।

रात का अवसान हो चला है। प्रभात की वेला समीप है।

राजा को निद्रा से जगाने के लिए वैतालिक कह रहा है कि राजन्! प्रभात हो रहा है। इधर उदयगिरि के शिखर पर प्रभा के कारण प्रकाश चमक रहा है, उधर अन्धकार अस्ताचल की चोटी पर निवास करने के लिए जा रहा है। इस समय आकाश के बीचो-बीच कोई अवर्णनीय तेज (प्रकाश और अन्धकार के संमिश्रण से उत्पन्न तेज) शोभित हो रहा है। जान पड़ता है मानो नीलवर्णा यमुना के जल से संगत पुण्यसलिला श्वेतनीरा आकाशगंगा का जल हो। श्वेत प्रकाश तथा नील तम के मिश्रण के लिए कालिन्दी के जल से मिश्रित गंगाजल की उपमा वास्तव में रमणीय है। पहले तो नभोमण्डल में केवल आकाश गंगा की ही स्थिति की बात कवि-जनों को ज्ञात थी; परन्तु इस स्थान पर त्रिविक्रम ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल से यमुना की अवतारणा की है। इसीलिए इस मनो-रम सूक्ति से प्रसन्न होकर आलोचकों ने आपको **यमुना-त्रिविक्रम** कहा है। इस विषय में **चण्डपाल** की यह उक्ति कितनी सहृदय-हृदयावर्जिनी है —

प्राच्याद् विष्णुपदीहेतोरपूर्वोऽयं त्रिविक्रमः ।
निर्ममे विमले व्योम्नि यत्पदं यमुनामपि ॥

अब यहाँ त्रिविक्रम की काव्यकला के कुछ नमूने पाठकों के
कविता के नमूने सामने प्रस्तुत किये जाते हैं।

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ।

(१।११)

इस रमणीय पद्य में कविजी वाल्मीकिजी की स्तुति कर रहे हैं—उस मुनि को नमस्कार है जिसने रम्या रामायणी कथा का निर्माण किया है। यह कथा सदूषण (दोष-सहित तथा दूषण नामक राक्षस से समन्वित) होने पर भी निर्दोष है—दोष रहित है। तथा सखर (कटुतापूर्ण तथा खर राक्षस के साथ) होने पर भी कोमल है। इस पद्य में विरोधाभास अलंकार कितनी सफाई के साथ रखा गया है। बाबा तुलसीदास जी ने रामायण की प्रशंसा में इसी पद्य की छाया लेकर यह सोरठा लिखा है:—

बन्दौं मुनिपदकंज, रामायण जिन निरमयउ।
सखर सकोमल मंजु, दोष-रहित दूषण-सहित॥

त्रिविक्रम ने कितनी सुन्दरता के साथ कुकवियों की समता बालकों के साथ की है:—

अप्रगल्भाः पदन्यासे जननीरागहेतवः।
सन्त्येके बहुलालापाः कवयो बालका इव॥

(११६)

इस संसार में कुछ कवि लोग बालकों के तरह हैं। जिस प्रकार बालक पदन्यास में—पैर रखने में—अप्रगल्भ होते हैं—अनिपुण हुआ करते हैं; उसी प्रकार ये कविजन भी कविता के पद जोड़ने में नितान्त असमर्थ हैं। बालक अपनी जननी-माता-के अनुराग का कारण हुआ करता है—बालक को देखकर माता का हृदय खिल जाता है; ये कविजन भी पुरुषों के नीराग (राग के अभाव) के कारण होते हैं—इनकी कविता लोगों को पसन्द नहीं

आती। बालक जिस प्रकार बहुलालाप (बहु+लाला+प) होते हैं—बहुत लाला (लार) पीने वाले होते हैं, उसी प्रकार ये कवि लोग भी बहुल आलाप वाले होते हैं। इनके काव्यों में कुछ चमत्कार तो होता नहीं, परन्तु वे लिखने से बाज़ नहीं आते—बहुत सी अनर्गल कविता श्रोताओं के गले मढ़ ही देते हैं। अतः कुकवियों तथा बालकों में कुछ भी अन्तर नहीं। कितनी चमत्कारिणी सूक्ति है। कितना प्रसन्न श्लेष है! इतने सरस तथा सरल श्लेष अन्यत्र बहुत कम मिलेंगे।

भवन्ति फाल्गुने मासि वृक्षशाखा विपल्लवाः।
जायन्ते न तु लोकस्य कदापि च विपल्लवाः॥

(१।२७)

आर्यावर्त का वर्णन है। वहाँ फाल्गुन महीने में वृक्षों की शाखायें (वि+पल्लव) पल्लव रहित होती हैं; परन्तु वहाँ के रहने वालों को कदापि (विपद्+लवाः) छोटी सी विपत्तियाँ भी नहीं होतीं। 'विपल्लवाः' में श्लिष्टार्थ कितना विशद है—साफ़ है।

वेधा वेदनयाश्लिष्टः गोविन्दश्च गदाधरः।
शम्भुः शूली विषादी च देव! केनोपमीयसे॥

(६।१४)

कोई कवि राजा की स्तुति कर रहा है कि हे राजन्! तुम्हारी उपमा किस के साथ दी जाय। ब्रह्मा के साथ तुम्हारी समता नहीं हो सकती, क्योंकि वेदों के मतों से आश्लिष्ट ब्रह्मा पीड़ा से आलिंगित (वेदनया+आश्लिष्टः) है। गदा को धारण करनेवाले

गोविन्द तो रोग (गद+अधरः=विधुरः) के कारण दुःखी हैं। शूल को धारण करने वाले तथा (विष + आदी) विषको भक्षण करने वाले शिवजी शूल(पीडा) के रोग से विषादी (दुःखित) हैं। ब्रह्मा,विष्णु तथा शिव ही राजा के लिए प्रसिद्ध उपमान हैं—उसकी समता इन्हीं के साथ प्रायः दी जाती है; परन्तु इन सबों के रोग-पीड़ित होने के कारण राजा की उपमा इनके साथ क्यों कर दी जाय ? त्रिविक्रम ने इस छोटे से छन्द में बड़ी करामात दिखलाई है। प्रसन्न श्लेष का इससे बढ़कर मनोरम दृष्टान्त अन्यत्र कहाँ मिल सकता है ?

आवासाः कुसुमायुधस्य शवरीसंकेतलीलागृहाः
पुष्पामोदमिलन्मधुव्रतवधूझङ्कारुद्धाध्वगाः ।
सुस्निग्धाः प्रियबान्धवा इव दृशो दूरीभवन्तश्चिरात्
कस्यैते न दहन्ति हन्त हृदयं विन्ध्याचलस्य द्रुमाः ॥

(६।६१)

विन्ध्याचल के ये वृक्ष कामदेव के आवास हैं—शवर जाति के स्त्रियों के संकेत-गृह हैं। पुष्प की सुगन्ध से एकट्ठी होनेवाली मधुकरियों के झंकार से यात्रियों के मार्ग को ये रोकनेवाले हैं। अत्यन्त प्रेमी बान्धवों के भाँति आँखों से ओझल होने पर ये वृक्ष किसके हृदय को नहीं जलाते ? यह पद्य प्रसाद गुण से सर्वथा परिपूर्ण है।

मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि ।

कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शवरी मुक्ताफलाकाङ्क्षया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका ॥

(२।३६)

चारों ओर चाँदनी छिटकी हुई है। चन्द्रिका के कारण समग्र संसार श्वेत लोक के समान प्रतीत हो रहा है। सीधे सादे ग्वाला-लोग दूध के बिचार से गायों के नीचे घड़ा रख रहे हैं—उन्हें मालूम पड़ता है कि गाँयों के स्तनों से दूध की धारा बह रही है। इसी कारण वे दूध के बटोरने के ख़याल से घड़े रख रहे हैं। स्त्रियाँ भी अपने कानों में (उज्वल) कैरव की शंका से कुवलय को पहन रही हैं। शवर जाति की स्त्रियाँ मुक्ताफल—सफेद मोती—की अभिलाषा से बेर के फलों को चुन रही हैं—शवरी बेर के फल को चन्द्रिका में मोती समझ रही है। इस प्रकार चन्द्रमा की घनी चाँदनी किसके चित्त में भ्रम नहीं पैदा कर रही है? प्रभामत्त चन्द्रमा ने जगत् में सर्वत्र भ्रान्ति फैला दी है। घनी चाँदनी में अनुभव-गम्य दृश्य का क्या ही रमणीय तथा चमत्कार जनक वर्णन है! काव्य-मर्मज्ञ कविराज विश्वनाथ ने इस पद्य को भ्रान्ति अलङ्कार के उदाहरण में दिया है।

षष्ठ उल्लास में त्रिविक्रम भट्ट ने भगवन्नारायण की एक अत्यन्त सरस स्तुति लिखी है जिसे पद्यों की संख्या के कारण 'नारायणाष्टक' कह सकते हैं। इनमें से दो पद्य यहाँ दिये जाते हैं। नीलकलेवरधारी पीताम्बर-मण्डित आनन्दकन्द वृन्दावनचन्द्र

की मोहिनी छबि को निरखिये और कविवर की मधुर कविता का रसास्वादन कीजिये:—

जयत्यसुरसुन्दरी नयनवारिसंवर्धित-
प्रतापतरुल्लसत्तरुणकेकिकण्ठच्छविः ।
दलत्कनककेतकीकुसुमपत्रपीताम्बरः
सुराधिपनमस्कृतः सकललोकनाथो हरिः ॥
(६।७)

जयत्यमलभावनावनतलोककल्पद्रुमः
पुरन्दरपुरःसरत्रिदशवृन्दचूडामणिः ।
अरातिकुलकन्दलीवनविनाशदावानलः
समस्तमुनिमानसप्रवरराजहंसो हरिः ॥
(६।११)

२१-श्रीहर्ष

कौन ऐसा संस्कृत साहित्य का प्रेमी होगा जिसने "नषध" का नाम न सुना हो ? बृहत्त्रयी में किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध के साथ नैषध की भी गिनती है। 'नैषध' का पूरा नाम नैषधीय-चरित है। यह संस्कृत-काव्यसाहित्य का एक जाज्वल्यमान हीरक है, जिसके सामने अनेक काव्य-रत्नों की आभा फीकी पड़ गई है। ग्रन्थ क्या है ? पण्डितों के गले का हार है। ग्रन्थ की लोक-प्रियता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि ग्रन्थ-रचना के सौ वर्ष के भीतर ही भीतर इसके ऊपर टीकायें बनने लगीं[1]। कल्पना की ऊची उड़ान में, अतिशयोक्ति की मनोहर उद्भावना में, रमणीरूप के सुन्दर वर्णन में तथा प्रकृति के सजीव निदर्शन में यह महाकाव्य काव्यजगत् में अपनी समानता नहीं रखता। इसी 'नैषधीय-चरित' महाकाव्य के रचयिता का नाम 'श्रीहर्ष' है।

---

१ 'नैषधीय-चरित' की पहिली टीका अहमदाबाद के समीप ढोलका ग्राम में 'चाण्डू पण्डित' ने १३५२ संवत् (१२६९ ईस्वी) में बनाई थी। टीकाकार ने अपना परिचय इन शब्दों में दिया है—

> श्रीमानालिगपण्डितः स्वसमयाविर्भूतसर्वाश्रम-
> श्चाण्डूपण्डितसंज्ञितं प्रसुषुवे श्रीगौरिदेवी च यम्।
> बुद्ध्वा श्रीमुनिदेवसंज्ञिविबुधात् काव्यं नवं नैषधं
> द्वाविंशे च सवर्णने वितरणं सर्गे च चक्रे क्रमात् ॥

सौभाग्य का विषय है कि अन्य अनेक संस्कृत कवियों के भाँति महाकवि श्रीहर्ष का जीवन-वृत्त गाढान्धकार से नहीं ढका है। कविवर ने 'नैषध' में स्थान स्थान पर अपने विषय की आवश्यक बातें लिखीं है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में माता, पिता, तथा ग्रन्थों का नाम-निर्देश किया है। ग्रन्थ के अन्त में अपने आश्रय-दाता की ओर भी संकेत किया है। इसके अतिरिक्त **राजशेखर सूरि** नामक जैन ग्रन्थकार ने १३४८ ईसवी में विरचित 'प्रबन्ध कोष' में श्रीहर्ष की संक्षिप्त जीवनी दी है। इस जीवनवृत्त की पुष्टि अन्तरङ्ग प्रमाणों से होती है। अतः इसे प्रामाणिक मानकर इसी के आधार पर श्रीहर्ष की जीवनी संगृहीत की जाती है।

जीवनवृत्त

श्रीहर्ष के पिता का नाम 'हीर' तथा माता का नाम 'मामल्ल-देवी' था। हीरपण्डित काशी के राजा गहड़वालवंशी विजयचन्द्र की सभा के प्रधान पण्डित थे। सभा में किसी एक विशिष्ट पण्डित के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ। सुनते हैं कि यह विशिष्ट विद्वान् मिथिला देश के पण्डित प्रसिद्ध नैयायिक **उदयनाचार्य** थे[1]। शास्त्रार्थ में हीर हार गये। मरते समय श्रीहर्ष से कह गये कि मुझे पराजय होने का बड़ा दुःख है। यदि तुम सुपुत्र हो तो उस पण्डित को शास्त्रार्थ में

---

१ चाण्डू पण्डित ने अपनी टीका के आरम्भ में 'श्रीहर्षः स्वपितुर्विजेतु रुदयनस्य कृतीः खण्डनखण्डखाद्यनामकग्रन्थेनाखण्डयत्' लिखकर इस प्रसिद्धि का समर्थन किया है। अतः इसके ठीक होने में अब सन्देह नहीं मालूम पड़ता।

अवश्य जीतना। श्रीहर्ष ने गंगातीर पर 'चिन्तामणि' मंत्र का वर्ष भर तक जप किया। भगवती त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुईं। अप्रतिभ पाण्डित्य का वरदान दिया। श्रीहर्ष की वैदुषी ऐसी प्रखर निकली कि इनकी कविताओं को कोई समझता ही न था। पुनः तपस्या की। भगवती ने कहा—आधी रात के समय माथे को जल से गीला रखो और दही पीओ। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया। तब कहीं जाकर लोग इनके काव्यों को समझने में समर्थ हुये। विजयचन्द्र की सभा में गये। सभा में जाते ही राजा की स्तुति में यह सुन्दर पद्य कह सुनाया—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री।

पद्य को सुनते ही राजा तथा उसकी सभा परम सन्तुष्ट हुई और इनके पिता को पराजित करनेवाले पण्डितजी ने भी इनकी असीम विद्वत्ता देख अपना पराजय स्वीकार किया तथा इनकी स्तुति की। श्रीहर्ष का क्रोध शान्त हुआ। अनन्तर वे जयचन्द्र की सभा में रहने लगे। राजा के कहने पर श्रीहर्ष ने नैषधीय-चरित की रचना की। ग्रन्थ की परीक्षा के लिये राजा के खर्च से काश्मीर गये। वहाँ शारदापीठ में शारदा के सन्मुख यह महाकाव्य रखा गया। शारदा ने 'नैषध' को उठाकर अपने हाथ में धारण किया। यह तो हुआ, सरस्वती का प्रसाद मिल गया; परन्तु काश्मीर नरेश से

इनकी भेंट पण्डितों की कुटिलता के कारण नहीं हो पाई। एक बार संयोगवश श्रीहर्ष किसी मन्दिर में जप कर रहे थे। उस समय जल लेने के लिये दो पनिहारिनें आईं। जल खींचने में दोनों में झगड़ा मचा। मार पीट भी हुई। फैसला के लिये मुकद्दमा राजा के सामने गया। राजा ने गवाही माँगी। पनिहारिनों ने इन्हीं को पेश किया। श्रीहर्ष ने कहा कि मैं यहाँ का रहनेवाला नहीं हूँ। अतः यहाँ की भाषा नहीं जानता, किन्तु इनके कथनोपकथन को ज्यों का त्यों कह सकता हूँ। राजा की स्वीकृति पाने पर कविजी ने सब ज्यों का त्यों सुना डाला। राजा बड़े चकित हुये। राजा के पूछने पर श्रीहर्ष ने अपना कच्चा चिट्ठा कह सुनाया। पण्डितों की मत्सरता को देख राजा बहुत दुःखित हुये। अन्त में उचित सम्मान के साथ काश्मीर नरेश ने महाकवि श्रीहर्ष की विदाई की। कविजी काशी आये और राजा से सब हाल कह सुनाया। तब से श्रीहर्ष की कीर्ति सर्वत्र फैल गई।

महाकवि श्रीहर्ष के विषय में पण्डित समाज में एक अत्यन्त मनोरञ्जक दन्तकथा प्रसिद्ध है। सुनते हैं कि काव्य प्रकाश के निर्माता मम्मटाचार्य श्रीहर्ष के मामा लगते थे। वे बुड्ढे हो गये थे, जब श्रीहर्ष ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की। भांजे ने काव्यरत्नों के परम पारखी मामा के सामने अपने महाकाव्य की चर्चा की और उनकी महत्त्वपूर्ण सम्मति जानने के लिये अभिलाषा प्रगट की। मम्मट ने पढ़ने के लिये नैषध को अपने पास रख लिया और दूसरे

किंवदन्ती

दिन जब श्रीहर्ष आतुरता से काव्यमर्मज्ञ की आलोचना सुनने के लिये आये, तब मम्मट ने कहा कि काव्य-प्रकाश के सप्तम (दोष) उल्लास लिखने के पहिले यदि यह काव्य मुझे मिला रहता, तो काव्य-दोषों के उदाहरण ढूँढ़ निकालने में मुझे इतना प्रयत्न न करना पड़ता; क्योंकि काव्य के समग्र दोषों के दृष्टान्त मुझे इसी एक उल्लास में मिल गये होते। इस अतर्कित सम्मति को सुनने से आश्चर्य चकित होकर श्रीहर्ष ने जब उक्त सम्मति की पुष्टि में उदाहरण जानना चाहा, तो मम्मट ने झट से ग्रन्थ खोल आगे दीख पड़ने वाले इस पद्य को तुरन्त कह सुनाया—

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥
(२ सर्ग, ६२ पद्य)

यह पद्य केवल पदच्छेद में किञ्चित् भिन्नता कर देने से मङ्गल के स्थानपर अमङ्गलार्थ की सूचना दे रहा है। तव शिवं वर्त्म निवर्ततां (तुम्हारा कल्याणदायक मार्ग हट जाय)! स त्वं पुनः मा आगमः (तुम फिर कभी न लौटो), अयि साधे (आधिना सहेति साधिः, तत्सम्बुद्धौ) असाधय ईप्सितम्। हे रोग ग्रस्त! मेरे मनोरथ को पूरा मत करो। हे वयः! वयं समये स्मरणीयाः (अर्थात हमारी मृत्यु के पश्चात् कभी-कभी हमारा स्मरण किया करना)। श्रीहर्ष ने इस श्लोक को नल के द्वारा दमयन्ती के पास जानेवाले हंस से मंगल के रूप में कहलाया है—फिर शीघ्र लौट आने की प्रार्थना कराई है, परन्तु मम्मट के द्वारा प्रदर्शित पदच्छेद से अर्थ

का अनर्थ मच गया। अपने काव्य के विषय में, जिसके लिये श्रीहर्ष को गर्व करना उचित ही था, काव्यरत्नों के इस प्रवीण जौहरी की यह अवज्ञा-पूर्ण सम्मति सुन श्रीहर्ष चुपचाप घर चले आये।' मम्मटाचार्य तथा श्रीहर्ष के काल की आसन्नता के कारण इस दन्तकथा के सत्य होने में कोई बाधा नहीं पहुँच सकती।

अन्तरंग प्रमाण

ऊपर लिखित श्रीहर्ष के वृत्तान्त की परिपुष्टि नैषध में उल्लिखित कथनों से ठीक ठीक होती है। पिता का 'हीर' तथा माता का मामल्ल देवी नाम था[1]। कान्यकुब्ज के राजा की सभा में इनका बड़ा सम्मान होता था क्योंकि इन्होंने कान्यकुब्जेश्वर से आसन तथा पान के बीड़ा मिलने की बात लिखी है[2]। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा जयचन्द्र की सभा में श्रीहर्ष रहते थे। सम्भवतः जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के दरबार में भी ये बहुत दिन तक रहे होंगे, क्योंकि इन्हीं के नाम पर कविवर ने '**विजय प्रशस्ति**' लिखी थी[3]। कश्मीर में इनके काव्य की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इस वृत्तान्त को

---

१ श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहरिः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
यह पद्यार्ध प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में आता है।

२ ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।
(२२ सर्ग का अन्तिम पद्य)

३ तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य ... ... (५ प०)

कविवर ने स्वयं लिखा है[1]। इस प्रकार ऊपर लिखित घटनायें सत्य प्रमाणित होती हैं और श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के नरेश विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र को सभा के एक परम मूल्यवान रत्न ठहरते हैं।

श्रीहर्ष की योग्यता

श्रीहर्ष केवल प्रथम कक्षा के महाकवि ही न थे, प्रत्युत ऊँचे दर्जे के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। श्रीहर्ष में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदय कली को खिलानेवाली स्वभाव मधुरा कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करनेवाली अनेक पण्डितों का मद चूर्ण करनेवाली, तर्ककर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम शृङ्गारभूत नैषधीय-काव्यकी रचना की है, उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य के चूडान्त निदर्शन-रूप 'खण्डनखण्डखाद्य' की सृष्टि की है। जिस श्रीहर्षने अपनी मनोहारिणी कविता के कारण काश्मीरदेश में अपनी विमल-कीर्ति-पताका फहराई, उसीने जयचन्द्र के दरबार में अपने पूज्य पिता को परास्त करनेवाले मानी तार्किक प्रकाण्ड **उदयन** का भी मद चूर्ण कर डाला। कविवर की यह उक्ति नितान्त युक्ति-युक्त है—

> साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
> तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।

---

1 काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा- (१६।१३१)

शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ।

इस वचन को सुनकर ही उस तार्किक को हार माननी और इनकी श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी थी—

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहंकृते हुंकृते ॥

सच तो यह है कि श्रीहर्ष को हुये आज लगभग आठ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु इस दीर्घ काल में केवल पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ इनके जोड़ का कोई कवि हुआ ही नहीं ।

हमारे चरितनायक केवल कवि-पण्डित ही न थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड साधक तथा उन्नत योगी थे । कहा जा चुका है गुरु से दीक्षा लेकर श्रीहर्षने चिन्तामणि मन्त्र को सिद्ध किया था जिससे प्रसन्न हो भगवती सरस्वती ने इन्हें अलौकिक प्रतिभा प्रदान की थी । चिन्तामणि मंत्र का उद्धार तथा मन्त्र जपने का उच्चफल कवि ने स्वयं नैषध में सरस्वती के मुखसे कहलाया है[1] । जब चिन्तामणि

---

१ अवामावामार्धे सकलमुभयाकारघटनात्
द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत् ।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं
निराकारं शश्वज्जप नरपते सिध्यतु स ते ।
(१४।८८)

मंत्र के जापक के किसी व्यक्ति के सिर पर हाथ रख देने से वह सुन्दर श्लोकों की अनायास ही रचना करने लगता है[1], तब पावन गंगा के तीर पर इस परम प्रसिद्ध मंत्र को सिद्ध करने वाले श्रीहर्ष ने अद्भुत कल्पनामय नैषधकाव्य की रचना कर डाली, इसमें कौन आश्चर्य है ? श्रीहर्ष उच्चकोटि के योगी भी थे। अपने ही लिखा है कि वे समाधि में ब्रह्मानन्द का आस्वाद लिया करते थे। धन्य है ऐसा परमश्लाघनीय महात्मा कवि और धन्य है उसकी लोकोत्तर कल्पना का विकाश तथा अद्भुत पाण्डित्य की प्रखरता ! अपने आदरणीय महाकाव्य के अन्त में श्रीहर्ष ने अपने विषय में जो यह लिखा है वह निःसन्देह सत्य है:—

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।
यत् काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ।

ऊपर दी गई श्रीहर्ष की जीवनी पढ़ने से पाठकों को पता चल ही गया होगा कि ये कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र की सभा में विद्यमान थे। जयचन्द्र के वंश वाले राजपूत गहड़वाल कहलाते

---

१ सर्वाङ्गीणरसामृतस्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते ।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा
येनायं हृदये स्थितः सुकृतिनां मन्मन्त्रचिन्तामणिः ॥
(१४ । ८९)

थे। एगारहवीं तथा बारहवीं सदी में इस वंश का उत्तरीय भारत में बड़ा नाम था। ये लोग कन्नौज के राजा कहलाते थे

आविर्भावकाल

परन्तु पीछे चलकर इन्होंने काशी को अपनी राजधानी बनाई। जयचन्द काशीसे ही अपने विस्तृत साम्राज्य पर शासन करते थे। ये वही जयचन्द हैं जिनके नाम को साधारण लोगों ने बदनाम कर रखा है। वास्तव में ऐतिहासिकों की नई खोज ने इनके सब कलङ्कों का मार्जन कर डाला है। इनके पिता विजयचन्द्र तथा इन्होंने ११५६ ईस्वी से लेकर ११९३ ईस्वी तक राज्य किया था। अतएव कविवर श्रीहर्ष का आविर्भाव-काल विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के सभापण्डित होने के कारण से द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध ठहरता है।

श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन सब ग्रन्थों का

ग्रन्थ

नाम कविवर ने अपने नैषधीयचरित में उल्लिखित किया है। नैषध में उल्लेख-क्रम से ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

(१) **स्थैर्य-विचारण-प्रकरण**[१]—नाम से ही यह ग्रन्थ दार्शनिक विषय पर लिखा हुआ जान पड़ता है। अनुमान से कहा जा सकता है कि इसमें क्षणिकवाद का निराकरण होगा।

(२) **विजय-प्रशस्ति**[२]—जान पड़ता है कि इस ग्रन्थमें जयचन्द्र

---

१. तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्य्ययं तन्महा-
काव्येऽत्रव्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः (४)

२. तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य नव्ये महा—
× × × (५।१३८)

के पिता विजयचन्द्र की, जो उस समय के प्रसिद्ध योद्धा तथा विजयी वीर थे, प्रशंसात्मक प्रशस्ति लिखी गई थी। गुरुवर महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माजो इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा करते थे।

(३) **खण्डनखण्ड**[1]—श्रीहर्ष का यही प्रसिद्ध खण्डनखण्डखाद्य नामक वेदान्त-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वेदान्त शास्त्र का एक अनुपम रत्न है। इसमें नैयायिक तर्क प्रणाली का अनुसरण कर लेखक ने न्यायके सिद्धान्तों का खण्डन तथा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन किया है। पाडित्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्च कोटि का है और श्रीहर्ष की अलोकसामान्य शास्त्र-चातुरी को प्रदर्शन कर रहा है।

(४) **गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति**[2]—नं० २ की तरह यह भी प्रशस्ति है जिसको ग्रन्थकार ने किसी गौड भूमि (बंगाल) के राजा की प्रशंसा में बनाया था।

(५) **अर्णव वर्णन**[3]—नाम से समुद्र का वर्णन जान पड़ता है।

(६) **छिन्द प्रशस्ति**[4]—छिन्द नामक किसी राजा के विषय में

---

१. षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा—
× × × (६।११३)

२ गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्ययं तन्महा-
+ + + ।(७।११०)

३ संदब्धार्णववर्णनस्य नवमस्तस्य व्यरंसीन्महा- ।(९।१६०)

४ यातः सप्तदशः स्वसुः सुसदृशि छिन्दप्रशस्तेर्महा-।(१७।२२२)

लिखी गई काव्य-पुस्तक जान पड़ती है। 'छिन्द'[1] किस देश का राजा था और उसका निवास-स्थान कहाँ था? यह आज कल बिल्कुल अज्ञात है।

(७) शिवशक्तिसिद्धि[2]—यह ग्रन्थ शिव तथा शक्ति की साधना के विषय में लिखा गया प्रतीत होता है। कहीं कहीं शक्ति के स्थान पर 'भक्ति' पाठ है। तदनुसार इसका 'शिवभक्तिसिद्धि' भी नाम हो सकता है।

(८) नवसाहसांकचरितचम्पू[3]—श्रीहर्ष के शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने नवसाहसांक के चरित्र को चम्पू के रूप में वर्णन किया था। 'नवसाहसाङ्क' राजा भोज के पिता सिन्धुराज का विरुद विख्यात है। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' नामक महाकाव्य में सिन्धुराज के ही चरित का बखान किया

---

१ नारायण की टीका में 'छन्दः प्रशस्ति' पाठान्तर दिया गया है जिससे छन्दः शास्त्र विषयक ग्रन्थ माना जा सकता है। परन्तु ग्रन्थकार के नं० २ तथा नं० ४ प्रशस्तियों की भाँति यह भी किसी राजा के विषय में ही जान पड़ता है। अतः 'छन्दः प्रशस्ति' पाठ ठीक नहीं जँचता। प्रशस्तिकाव्य राजा की ही प्रशंसा में हुआ करता है, छन्दोविषयक ग्रन्थ के लिये प्रशस्ति शब्द का व्यवहार नहीं होता।

२ यातोऽस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनी सौभ्रात्रभव्ये महा—

(१८।१५४)

३ द्वाविंशो नवसहसाकचरितेचम्पूकृतोऽयं महा—
काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोज्वलः।

(२२।१५१)

है। आज नहीं कहा जा सकता कि श्रीहर्ष का यह चम्पू सिन्धु-राज के विषय में था अथवा 'नवसाहसांक' विरुद्धारी किसी अन्य राजा के विषय में।

(९) **नैषधीयचरित**—इस महाकाव्य में निषधदेश के अधिपति राजा नल का पावन चरित्र बड़ी ही उत्तम रीति से वर्णन किया गया है। इसमें २२ लम्बे लम्बे सर्ग हैं। तिसपर नल-चरित्र का एकदेश ही श्रीहर्ष ने वर्णन किया है। आरम्भ में राजा नल का विशद वर्णन है; नल का मृगया-विहार, हंस का ग्रहण तथा मुक्ति का हाल है। राजा हंस को दमयन्ती के पास भेजते हैं। हंस वहाँ जाता है और अकेले में जाकर नल के सौन्दर्य का वर्णन करता है। दमयन्ती के पूर्वानुराग का बड़ा ही प्रशस्त वर्णन है। राजा भीम अपनी कन्या दमयन्ती के लिये स्वयंवर की रचना करते हैं। इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम देवता भी दमयन्ती के अलोक-सामान्य रूपवैभव की कथा सुन स्वयंवर में पधारना चाहते हैं। राजा नल को ही तिरस्करिणी विद्या के सहारे अपना दूत बना महल में भेजते हैं। नल देवताओं की ओर से खूब पैरवी करते हैं। परन्तु दमयन्ती का नल विषयक निश्चय तनिक भी नहीं डिगता। स्वयंवर रचा जाता है। चारों देवता नल का ही रूप धारण सभा में उपस्थित होते हैं। सरस्वती स्वयं उस सभा में आती है और राजाओं का परिचय देती है। नल की प्रतिकृति वाले पाँच पुरुषों को देख दमयन्ती घबड़ा जाती है। अन्त में देवतागण इसकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अपने विशिष्ट चिन्हों को प्रगट

करते हैं, जिनसे दमयन्ती राजा नल को सहज ही में पहचान लेती है। दोनों का विवाह होता है। अब देवतागण स्वर्ग को लौटते हैं तब कलि के साथ घनघोर वाग्युद्ध छिड़ जाता है। देवता कलिको हराकर नास्तिकवाद का मुँहतोड़ उत्तर देते हैं। नल दमयन्ती के प्रथम मिलनरात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है। संक्षेप में नैषध का यही सार है। जिस प्रकार खण्डनखण्डखाद्य श्रीहर्ष के दार्शनिक ग्रन्थों में मुकुट मणि हैं, उसी प्रकार यह नैषध उनके काव्यों का अलङ्कार है।

नैषध की टीकायें

डाक्टर औफ्रेक्ट ने नैषध की २३ टीकायों का नाम लिखा है। इन टीकाकारों में बड़े बड़े विद्वानों के नाम हैं। काव्यप्रकाश पर मार्मिक 'निदर्शन' लिखनेवाले काश्मीर के प्रसिद्ध पण्डित राजानक आनन्द ने भी नैषध काव्य टीका लिखी थी, यह श्रीहर्ष के लिये कम गौरव की बात नहीं है। कहा जा चुका है कि नैषध लिखजाने के सौ वर्ष के भीतर ही भीतर इसपर टीकायें बनने लगी थीं। नैषध की सबसे पहली टीका है **विद्याधर** रचित **साहित्य-विद्याधरी**। इसका उल्लेख[1] चाण्डू पण्डित ने अपनी टीका में किया है जो कालक्रम के अनुसार नैषध की दूसरी टीका प्रतीत होती

१ टीकां यद्यपि सोपपत्तिरचनां **विद्याधरो** निर्ममे
श्रीहर्षस्य तथापि न त्यजति सा गम्भीरतां भारती।
दिक्कूलंकषतां गतैर्जलधरैरुद्गृह्यमाणं मुहुः
पारावारमपारमम्बु किमिह स्याज्जानुदघ्नं क्वचित्॥

है। साहित्य-विद्याधरी की विशेषता है प्रतिपद्य में रस, अलंकार, गुण आदि का निरूपण। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने भी 'नैषध' पर 'जीवातु' नामक टीका लिखी है। थोड़े से शब्दों में कवि के मर्म को समझा देना मल्लिनाथ की टीका की विशेषता है। इसके बाद नारायण भट्ट की 'नैषध-प्रकाश' नामक टीका है। नारायण भट्ट बेदरकर के पिता का नाम नरसिंह भट्ट था। नाम से ही इनके महाराष्ट्र होने की बात सूचित होती है। निर्णयसागर में यही टीका छपी है। नारायण की टीका बड़ी विस्तृत है। टीकाकार को एक अर्थ से सन्तोष होता नहीं जान पड़ता। अन्य प्रकार के अर्थों का भी अच्छी तरह से निदर्शन करते गये हैं। नैषध की ये ही प्रख्यात टीकायें हैं।

कविता

श्रीहर्ष की कविता संस्कृतसाहित्य की एक मनोहर वस्तु है। शब्दों का सुन्दर विन्यास तथा भावों का समुचित निवेश किस सहृदय के मन को नहीं हरण कर लेता? कविवर ने अपने महाकाव्य को 'शृङ्गारामृतशीतगुः'—शृङ्गाररूपी अमृत के लिये चन्द्रमा-कहा है यह वास्तव में ठीक ही है। श्रीहर्ष ने शृङ्गारस के वर्णन करने में बड़ी सहृदयता दिखलाई है। विप्रलम्भ के लम्बे लम्बे रमणीय वर्णनों को पढ़कर जिस प्रकार हृदय में आनन्द उत्पन्न होता है, उसी प्रकार संभोग का मधुर रूप देख चित्त प्रफुल्लित हो उठता है। अलङ्कारों से कविजी ने अपनी भारती को इस प्रकार विभूषित किया है कि उसकी भव्यमूर्ति देखते ही बनती है। अलङ्कारों में उपमा, रूपक,

यमक, अतिशयोक्ति, श्लेष-सबका उचित प्रयोग श्रीहर्ष की कविता में पाया जाता है। श्लेष काव्य लिखने में इनकी बड़ी प्रवीणता झलकती है। नैषध में पञ्चनलो प्रसिद्ध ही है जहाँ कविवर ने श्लेष से एकही पद्य में पाँचों नलों का वर्णन किया है। अतिशयोक्ति की कथा मत पूछिये। श्रीहर्ष के समान कल्पना की ऊँची उड़ान बहुत कम कवियों में दीख पड़ती है। उसी प्रकार उपमा तथा रूपक का विन्यास प्रशंसनीय है।

संस्कृत भाषा पर श्रीहर्ष का इतना प्रभुत्व है कि उचित शब्द आपही आप अनायास जुटे चले आते हैं। पदशय्या इतनी सुन्दर बन पाई है कि एक पद के हेर फेर से कविता-कामिनी के रूप को विकृत होने का भय लगा हुआ है। उसी प्रकार अर्थों की सूझ है। श्रीहर्ष ने 'एकामत्यजतो नवार्थघटनाम्' की जो प्रतिज्ञा की है उसे सचमुच पूरी कर दिखाई है। एक ही विषय पर कई श्लोकों में लम्बे लंबे भी वर्णन है; पर क्या मजाल कि अर्थ की पुनरावृत्ति हो। जब देखिये तब नये भाव, जब पढ़िये तब नवीन शब्दावली। श्रीहर्ष के समान पद तथा अर्थ का इतना मनोहर सन्निवेश साहित्य में बहुत ही दुर्लभ है। परन्तु सबसे विलक्षण हैं इनकी अलोकसामान्य काव्य-प्रतिभा। इस प्रतिभा ने के बल पर इन्होंने किसी भाव को अछूता नहीं छोड़ा है। शास्त्रों के अर्थ का भी सन्निवेश किया है परन्तु बड़े ही मार्मिक ढंग से। कविता के इन्हीं गुणों के कारण रसिक पण्डित-मण्डली नैषध के सामने किरात तथा शिशुपालवध को फीका बतलाती है—

उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ।

× × × ×

अब श्रीहर्ष की कविता के कुछ नमूने पेश किये जाते हैं। पाठक-वृन्द इसे पढ़िये और अलौकिक आनन्दका अनुभव कीजिये ।

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्
तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥ (१।१४)

कवि राजा नल का वर्णन कर रहा है कि राजा के प्रबल प्रताप तथा उज्वल कीर्ति को जब कभी ब्रह्मा देखते है तब तब सूर्य तथा चन्द्रमा को वृथा समझकर उनके चारों ओर परिवेष के व्याज से व्यर्थता सूचक कुण्डलना लगा देते हैं ।

चन्द्रमा में दीख पड़नेवाले कलङ्क के विषय में श्रीहर्ष ने बड़ी अनूठी बातें कहीं हैं । दो सूक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः
स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ
दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ (१।८)

विजय यात्रा के लिये जब राजा की सेनायें चलीं, तब उनके चलने से उसके प्रतापानल के धूएँ की तरह काली काली धूलि चारों ओर छा गई है । सागर में भी वही धूली जाकर गिरी जिससे मथा गया चन्द्रमा आज भी अंक के रूप में उसी पंक को धारण कर रहा है ।

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥
(२।२५)

दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्रमण्डल के सार भाग को काट लिया है। अतः चन्द्रमा के मध्य में जो छिद्र-बन गया है उसीके द्वारा अत्यन्त नील आकाश की नीलिमा दीख पड़ रही है। ये कलङ्क क्या हैं? नभोमण्डल की नीलिमा दिखाने वाले बिल हैं।

सन्ध्याकाल का वर्णन पढ़िये—

कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य वधं व्यधाद्यस्य दिनद्विपस्य।
तस्यैव सन्ध्यारुचिरास्रधारा ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि॥

कालरूपी किरात ने विकसित कमल रखनेवाले दिवसरूपी (सूंडपर लाल बिन्दुओं को धारण करने वाले) हाथी को मार डाला है। यही कारण है कि सन्ध्या के रूप में उसकी रुचिर रुधिर-धारा दीख पड़ती है तथा उसके मस्तक को जो मोती बिखरे हैं वही गगनमण्डल में उदित तारे हैं। क्या ही रमणीय रूपक है!

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्॥

यह भानुरूपी भिक्षु (सन्यासी) दण्ड लेकर सब दिशाओं में दिनभर घूमता रहा है। अब सायंकाल को जलाशय में स्नान करने के लिये मानो वह सन्ध्या काल के लाल गगनमण्डल रूपी काषाय वस्त्र को ऊपर (अपने शरीर के ऊपरी भाग पर) धारण

कर रहा है। सूर्य के अस्त होने के समय का यह रक्त आकाश नहीं है; बल्कि किसी स्नानार्थी सन्यासी का रक्त काषाय रखा हुआ जान पड़ता है। क्या ही मौलिक सूक्ति है! एक पद्य में कविवर ने सन्ध्या कालीन रक्त आकाश का बड़ा विलक्षण कारण ढूंढ निकाला है। उनका कहना है कि अस्ताचल रूपी शवरालय के पास यामान्त की सूचना देने के लिये बांग देनेवाले मुर्गों के समूह के कारण पश्चिम दिशा उनकी शिखा की ललाई के कारण लाल हो रही है। सूझ है अनूठी, यद्यपि कुछ अव्यक्त सी है। पद्य यों है—

अस्ताद्रिचूडालयपक्कणालि-
च्छेकस्य किं कुक्कुटपेटकस्य।
यामान्तकूजोल्लसितैः शिखौघै-
र्दिग् वारुणी द्रागरुणीकृतेयम्।

ऊपर कहा गया है कि श्रीहर्ष बड़े भारी दार्शनिक थे। नैषध का सत्तरहवां सर्ग दार्शनिकता से ओतप्रोत है परन्तु अन्य सर्गों में भी इनका दर्शन-ज्ञान स्पष्ट झलक रहा है। इन्होंने शास्त्रकारों को बड़ी फबतियाँ सुनाई हैं। 'औलूक' नाम धारण करनावाला वैशेषिक दर्शन ही अन्धकार के स्वरूप वर्णन करने में पूरा समर्थ है, इसका वर्णन कवि ने क्या ही अच्छे ढंग से किया है:—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां
वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।

औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्
क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ।

क्याही अच्छी उक्ति है ! इसमें व्यंग भी क्या ही मजेदार है । 'ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्' का पूर्वपक्ष कर तम का दशम द्रव्यत्व खण्डन करने वाले वैशेषिक मतवालों पर कौशिक होने की बात क्याही अनूठे ढंग से कविजी ने सिद्ध की है !

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ॥

(१७।७५)

जो सुख दुःख का अनुभव करने वाले चेतनायुक्त प्राणियों को पत्थर की तरह विशेष हीन हो जाने वाली मुक्ति उपदेश देता है, उस गोतम को देखकर जैसा तुम समझते हैं वह वैसा ही गोतम (पक्का बैल—अत्यन्त मूर्ख) है । न्याय दर्शन के रचयिता गोतम के नाम पर क्या ही रमणीय व्यंग्योक्ति है ! बेचारे गोतम की बड़ी बेतरह फज़ीहत की है ।

इसी प्रकार श्रीहर्ष ने व्याकरण वालों की भी बड़ी मीठी चुटकी ली है । देखिये वे क्या कहते हैं—

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः ।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः ॥

(२२।८४)

लोक और व्याकरण में पद-प्रयोग के विषय में सदा से विवाद चलता आ रहा है । व्याकरण को बड़ा घमण्ड है कि जो शब्द मैं

सिद्ध करूँगा, लोक को उसे ही प्रयोग में लाना पड़ेगा। परन्तु इस विषय में व्याकरण से बढ़कर लोक का ही प्रामाण्य अधिक है। लोक व्याकरण के पद-प्रयोग-विषयक घमंड को चूर चूर कर डालने में खूब ही समर्थ हुआ है। तभी तो मृग धारण करने पर भी तथा व्याकरण की रीति से सुसंगत होने पर भी लोक 'शशी' के जोड़-तोड़ पर चन्द्रमा को 'मृगी' कह नहीं पुकारते। नतीजा यही निकला कि पद प्रयोग के लिये लोक का ही अधिक प्रामाण्य है। बेचारे व्याकरणवाले 'मृगोऽस्यास्ति' विग्रह कर 'मृगी' शब्द की व्युत्पत्ति करते ही रह गये; परन्तु लोक ने इनका तनिक भी खयाल नहीं किया और अपनी मनमानी ही की, 'मृगी' का चन्द्र के अर्थ में प्रयोग होने ही न दिया। वैयाकरणों पर क्या ही सुन्दर चुटकुला है !

कलि के मुँह से श्रीहर्ष ने पाणिनि के एक सूत्र का विचित्र ही अर्थ करवा डाला है। ज़रा पाणिनि के सूत्रों को रटने वाले इस नवीन अर्थ को समझें और कवि की अनोखी सूझ को सराहें:—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥

स्त्री तथा पुरुष प्रकृति दोनों काम में ही आसक्त रहा करें— अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीया प्रकृति नपुंसकों-के ही लिये है। 'अपवर्गे तृतीया' सूत्र बनाकर पाणिनि ने भी पूर्वोक्त बात को स्वीकार किया है। वाहरी अनूठी सूझ, विचारे पाणिनि को भी अछूता नहीं छोड़ा। उन्हें भी इस दल दल में ला घसीटा।

श्रीहर्ष अद्वैतवादी थे इसका पता नैषध से भी लगता है—

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मताना-
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः।
(१३।३६)

इस परम दार्शनिक पद्य से यही अर्थ निकलता है कि सब मतों में अद्वैततत्त्व ही अधिक ठीक है। अन्य मतों की बात सत्य हो सकती है परन्तु वेदान्त प्रतिपादित अद्वैततत्व ही सत्यतर है—उससे अधिक ठीक है। यह उक्ति खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता के अनुरूप ही है।

—

श्लोकानुक्रमणिका